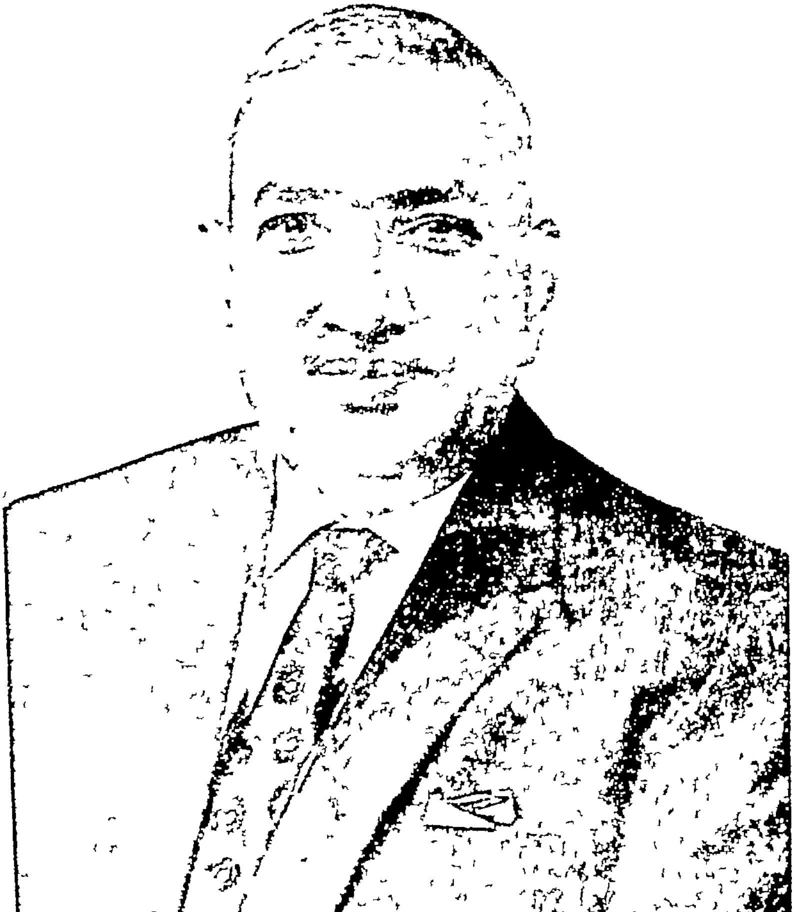
प्रकाशक
दरबारीलाल जैन कोठिया
मन्त्री 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'
२१, दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण एक हजार प्रति
फाल्गुन सं० २०१९, मार्च सन् १९६३
पृष्ठ-संख्या कुल ४८४
मूल्य मात्र : पाँच रुपये

मुद्रक
—सन्मति-प्रेस
२३०, गली कुंजस, दरीबा कलां,
दिल्ली



श्रीमान् माननीय साहू शान्तिप्रसादजी जैन

समर्पण

सुधारप्रिय, उदारहृदय, विद्या-साहित्य-प्रेमी, साहित्योद्धारक,
गुणिजनानुरागी, गुण-ग्राहक, सत्कार्य-सहायक,
सच्चे अर्थोंमे दानवीर, समाजके महान् सेवक,
धर्म-कर्ममे निष्ठावान्, मदरहित, लोकहितैषी,
सरल-सौम्य-प्रकृति और अपने प्रिय बन्धुवर
श्री साहू शान्तिप्रसादजी जैनको
यह लोकहितानुरूपा कृति
सादर समर्पित ।

जुगलकिशोर मुख्तार

प्रकाशकीय

यह 'निबन्धावली' आचार्य श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर'-के साहित्य और इतिहास विषयक उन निबन्धोसे पृथक् है, जिनका एक संग्रह 'जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' नामसे, प्रथम खंडके रूपमे, ७५० पृष्ठका, प्रकाशित हो चुका है; दूसरा खड प्राय. उतने ही पृष्ठोका प्रकाशित होनेको है, और तीसरा खड जैन-ग्रन्थोकी उन परीक्षाओसे सम्बन्ध रखता है जिन्होने महान् आचार्योंके नाम पर अङ्कित कुछ जाली ग्रन्थोका भंडाफोड किया, दूसरोंकी कृतियोंको अपनी कृति बनानेवालोका पर्दा फाश किया, समाजमें असाधारण विचार-क्रान्ति उत्पन्न की और अनेक भूल-भ्रान्तियों तथा मिथ्या-धारणाओके विषयमे समाजके विवेकको काफी जाग्रत किया। इस खडका पृष्ठ-परिमाण औरभी अधिक है।

इस निबन्धावलीको जिसमें इतस्तत बिखरे हुए सामाजिक तथा धार्मिक निबन्धोका सग्रह है,दो खडोमे विभाजित किया गया है, जिनमे यह पहला खंड विविध विषयके महत्वपूर्ण मौलिक निबन्धोको लिये हुए है, जिनकी सख्या ४१ है। दूसरे खंडमे निबन्धोको १ उत्तरात्मक, २ समालोचनात्मक, ३ स्मृति-परिचयात्मक, ४ विनोद-शिक्षात्मक और ५ प्रकीर्णक-जैसे विभागोंमे विभक्त किया गया है और उनकी संख्या ६० से ऊपर है। पहले खडमे प्रथम निबन्धको छोड़कर शेष निबन्धोको उसी क्रमसे रक्खा गया है, जिस क्रमसे उनका निर्माण हुआ है। इसका विशेष परिचय साथमे दी गई निबंध-सूचीसे सहज ही प्राप्त हो सकेगा। दूसरे खडमे भी निबन्धोको अपने-अपने विभागानुसार काल-क्रमसे रखनेका विचार है।

निबन्धावलीके निबन्धोका संशोधन-कार्य स्वयं मुख्तारश्रीके हाथों सम्पन्न हो सका है, यह अत्यन्त हर्षकी बात है और इससे उनका मूल्य और भी बढ़ गया है। मुख्तारश्रीके लेख निबन्धोंको जिन्होने भी कभी पढ़ा-सुना है उन्हे मालूम है कि वे कितने खोज-पूर्ण, उपयोगी और ज्ञानवर्धक होते है, इसे बतलानेकी आवश्यकता नही है। विज्ञ पाठक यह भी जानते है कि इन निबन्धोने समय-समय पर समाजमे किन-किन सुधारोको जन्म दिया है और क्या कुछ चेतना उत्पन्न की है। कितने ही निबन्ध तो इस खडमे ऐसे भी है जो एकाऽनेक-वार पुस्तकाकार छप चुके है और जिनकी माँग बराबर बनी रहती है। इससे सभी पाठक एक ही स्थान पर उपलब्ध इन निबन्धोसे अब अच्छा लाभ उठा सकेगे।

यह निबन्धावली स्कूलो, कालिजो तथा विद्यालयोके विद्यार्थियों-को पढनेके लिये दी जानी चाहिये, जिससे उन्हे समाजकी पूर्वगति-विधियो एवं स्पन्दनोका कितना ही परिज्ञान होकर कर्तव्यका समुचित भान हो सके और वे खोजने, परखने तथा लिखने आदिकी कलामे भी विशेष नैपुण्य प्राप्त कर सकें।

अन्तमे मै अपनी तथा संस्थाकी ओरसे डा० श्री हीरालालजी जैन एम०ए०, एलएल०बी०, डी०लिट्, प्रोफेसर व अध्यक्ष संस्कृत-प्राकृत-भाषा-विभाग विश्वविद्यालय जबलपुर (म० प्र०) को हार्दिक धन्यवाद भेट करता हूँ जिन्होने इस निबन्धावलीके लिये 'नये युगकी झलक' नामसे महत्वपूर्ण प्रस्तावना लिखनेकी कृपा की है।

दरबारीलाल जैन, कोठिया

(न्यायाचार्य, एम०ए०)
मंत्री, 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
१५ फरवरी १९६३

नये युगकी झलक

यदि भूलता नही हूँ तो सन् १६२२ की बात है जब दिल्लीमें प्रतिष्ठा-महोत्सवके अवसर पर जैनियोका एक अच्छा मेला भर गया था। दि० जैन महासभाका अधिवेशन भी वहाँ था। प्रथम दिवसकी कार्यवाहीमें ही जैन गजटके सम्पादकत्वके सम्बन्धमे सुधारको और स्थितिपालकोंके बीच कडा विरोध उपस्थित हो गया। उसी रात्रिको एक अन्य खेमेमें एकत्र होकर सुधारकदल दि० जैन परिषदके नामसे अपना स्वतंत्र सगठन तैयार करनेका विचार कर रहा था। मै भी अपने नये उत्साहसे वहाँको कार्यवाहीमें कुछ भाग ले रहा था। अकस्मात् मेरे समीप खादीका चद्दर ओढ़े बैठे हुए एक सज्जनने मुझे कुछ प्रसगोपयोगी बाते बतलाते हुए उन्हे सभामे उपस्थित करनेके लिये कहा। किन्तु अपरिचित और कुछ-कुछ अपढसे दिखाई देनेवाले व्यक्तिकी दी हुई सूचनाओंके आधार पर उन बातोको प्रामाणिक रूपसे सभामें उपस्थित करनेका मेरा साहस नही हुआ। किन्तु शीघ्र ही मेरे आश्चर्य और हर्षका पारावार न रहा जब मैने जाना कि मुझे वह सुझाव देनेवाला व्यक्ति अन्य कोई नही विख्यात लेखक और

मेरे परोक्ष सुपरिचित विद्वान् प० जुगलकिशोरजी मुख्तार हैं।

मुख्तार जीने जो साहित्य-सेवा की है और विशेषत जैनसाहित्यके आलोचनात्मक अध्ययनकी जो परम्परा स्थापित की उसके विवरण देनेका न तो यह अवसर है और न उसकी आवश्यकता। जिन्हे जैन साहित्य व समाजकी प्रगति, हलचलो व प्रवृत्तियोसे सम्पर्क है वे भलीभाति जानते है कि मुख्तारजी इस क्षेत्रमे एक युगान्तर-स्थापक कहे जा सकते है। मुझे अपने तथा अन्य कुछ मित्रोंके सम्बन्धमे तो यह कहनेमे कोई सकोच नही कि हमसे पुरानी पीढीके विद्वानोमे स्वर्गीय श्रद्धेय नाथूरामजी प्रेमीके अनन्तर श्रीजुगलकिशोर मुख्तारका ही नाम स्मरण आता है जिन्होने अपने लेखो और पुस्तको-द्वारा हमे साहित्य-सेवामे प्रवृत्त होनेकी स्फूर्ति प्रदान की तथा अध्ययन व लेखनकी उचित दिशाका मार्ग-दर्शन कराया। इसी कारण मैंने अपना परम सौभाग्य समझा जब इन वयोवृद्ध साहित्य-सेवी विद्वान्ने अपने लेखोके इस सग्रहकी प्रस्तावना-रूपसे कुछ लिख देनेके लिये मुझे आमन्त्रित किया।

आजसे कोई ६-७ वर्ष पूर्व सन् १९५६ मे मुख्तारजीका 'जैन-साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' शीर्षकसे उनके ३२ लेखोका सग्रह प्रकाशित हुआ था। उसके प्रकाशकीय वक्तव्यमे कहा गया था कि "मुख्तारजीके लेखोकी सख्या इतनी अधिक है कि यह संग्रह कई खडोमे प्रकाशित करना होगा। इस प्रथम खडमे ही ७५० के लगभग पृष्ठ हो गये हैं। दूसरे खडोमे भी प्राय इतने-इतने ही पृष्ठोकी सभावना है।" उस प्रथम खंडके लेखोसे ही अध्येताओ व साहित्यकारोको बडी सहायता मिली। मुख्तारजीकी जिन पूर्व खोजो-शोधोको जाननेके लिये जैनहितैषी व अनेकान्त आदि पत्रिकाओकी पुरानी फाइले ढूँढनेमे बडी हैरानी उठानी पडती थी, वह अब नही रही। इसी सुविधाके विस्तारके लिये मुख्तारजीके शेष लेखोके सग्र-

हकी भी लोग बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा कर रहे थे। किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है, उनके लेखोंका कोई दूसरा सग्रह अब तक प्रकाशित नहीं हो पाया। श्रेयस्कर कार्यमें अनेक विघ्न आते है। इधर कई दिनोसे मुख्तारजीके वृद्धत्वको देखते हुए यह आशा क्षीण होती जा रही थी कि अब उन्हींके कर-कमलोसे संग्रहीत उनका कोई अन्य लेख-सग्रह भी हमे प्राप्त हो सकेगा। इसे श्रुतदेवीकी महती कृपा ही समझना चाहिये कि उसने मुख्तारजीको यह प्रेरणा दी और बल प्रदान किया कि वे अपना एक और लेख-संग्रह ज्ञानोपासकोंको प्रदान करे। इसीका परिणाम यह मुख्तारजीका लेख-सग्रह उपस्थित है।

प्रस्तुत खंडमे मुख्तारजीके उन ४१ लेखोंका सग्रह है जो सन् १६०७ और १६५२ के बीच ४५ वर्षोंमे भिन्न-भिन्न समय पर लिखे गये थे; और जैनगजट, जैनहितैषी, सत्योदय, अनेकान्त आदि पत्र-पत्रिकाओमे प्रकाशित हुए थे। यह समस्त काल भारतीय राजनीति, समाज व संस्कृतिके क्षेत्रमें असाधारण उत्क्रान्ति-पूर्ण रहा है। विशेषत देशके स्वतंत्र होनेसे लगाकर गत १५-१६ वर्षोंमे तो यहाँकी गति-विधियो व विचारोमें आकाश-पातालका अन्तर पड़ गया है। अतएव आश्चर्य नही जो प्रस्तुत लेखोकी अनेक बाते अब कालातीत हो गई हों। किन्तु आश्चर्य तो इस बातका है कि यहाँ कही गई अनेक बाते ऐसी है जो मानो वर्तमान स्थितिको ही दृष्टिमें रखकर लिखी गई हो। उदाहरणार्थ—

'भारतकी स्वतन्त्रता, उसका झडा और कर्तव्य' (३६) शीर्षक लेख देखिये जहाँ कहा गया है कि—

"भारतकी स्वतंत्रताको स्थिर-सुरक्षित रखने और उसके भविष्यको समुज्ज्वल बनानेके लिये इस समय जनता और भारत-

हितैषियोका यह मुख्य कर्तव्य है कि वे अपने नेताओंको उनके कार्यो-में पूर्ण सहयोग प्रदान करें और ऐसा कोई भी कार्य न करें जिस-से नेताओका कार्य कठिन तथा जटिल बने। इसके लिये सबसे बडा प्रयत्न देशमे धर्मान्धता अथवा मजहबी पागलपनको दूर करके पारस्परिक प्रेम, सद्भाव, विश्वास और सहयोगकी भावनाओको उत्पन्न करनेका है। इसीसे अन्तरङ्ग शत्रुओका नाश होकर देशमें शान्ति एव सुव्यवस्थाकी प्रतिष्ठा हो सकेगी और मिली हुई स्वतं-त्रता स्थिर रह सकेगी" इत्यादि । यह लेख सन् १९४७ के मार्च-अप्रैल मासमें स्वातन्त्र्य-प्राप्तिकी पृष्ठभूमिमे लिखा गया था। हमारी गत पन्द्रह-सोलह वर्षकी यात्राके प्रतिकूल इधर हुए साम्प्रदायिक झगड़ो और अब चीनी आक्रमणके प्रकाशमे जान पड़ता है, हम पुन: उसी मजिल पर आ खड़े हुए है जहाँसे उस समय चले थे।

इसी प्रकार प्रथम लेख 'सुधारका मूलमंत्र' ही ले लीजिये जो सन् १९१७ मे लिखा गया था। वहाँ पढ़िये—

"यदि आप यह चाहते है कि हिन्दी भाषाका भारतवर्षमे सर्वत्र प्रचार हो जाय, और आप उसे राष्ट्रभाषा बनानेकी इच्छा रखते है तो आप हिन्दी साहित्यका जी-जानसे प्रचार कीजिये। स्वयं हिन्दी लिखिये, हिन्दी बोलिये, हिन्दीमे पत्र-व्यवहार, हिन्दीमे कारोबार और हिन्दीमे वार्तालाप कीजिये। हिन्दी पत्रो और पुस्तकोको पढ़िये, उन्हे दूसरोको पढ़नेके लिये दीजिये, अथवा पढनेकी प्रेरणा कीजिये। हिन्दीमे लेख लिखिये, हिन्दीमे पुस्तकें निर्माण कीजिये, हिन्दीमे भाषण दीजिये, और यह सब दूसरोसे भी कराइये। दृढ-ताके साथ ऐसा यत्न कीजिये कि हिन्दीमे सब विषयो पर उत्तमो-त्तम ग्रन्थ लिखे जांय। हिन्दी लेखकोका उत्साह बढाइये। उन्हें लेखो तथा पुस्तकोंके तैयार करनेके लिये अनेक प्रकारकी सामग्रीकी सहायता दीजिये, और तरह-तरहके लेखो, चित्रो, व्याख्यानो,

वार्तालापों और व्यवहारोंके द्वारा हिन्दीका महत्त्व प्रकट करते हुए सर्व-साधारणमें हिन्दीका प्रेम उत्पन्न कीजिये । साथ ही, हिन्दी ग्रन्थो तथा हिन्दी पत्रोंकी प्राप्तिका मार्ग इतना सुगम कर दीजिये कि उनके लिये किसीको भी कष्ट न उठाना पड़े। यह सब कुछ हो जाने पर आप देखेगे कि हिन्दी राष्ट्रभाषा बन गई ।"

इस लेखके लिखे जानेसे आज ४५-४६ वर्ष हो जाने पर भी हिन्दीके राष्ट्रभाषा बनने-बनानेकी समस्या जैसीकी तैसी बनी हुई है, और लेखककी वह ललकार आज भी उतनी ही सार्थक है। उसमे उन लोगोके लिये एक चुनौती भी है जो स्वय अपना कर्तव्य पूरा न करते हुए उक्त विषय पर सरकारकी उपेक्षाकी शिकायत किया करते है।

'हमारी यह दुर्दशा क्यो ?' शीर्षक छठे लेखमे भारतके समुज्वल और समृद्ध भूतकालका चित्रण करके आजके शक्ति-ह्रासके सम्बन्धमे कहे गये शब्द ध्यान देने योग्य है—

"और आज उसी भारतवर्षमे हमारे चारो तरफ प्राय ऐसे ही मनुष्योकी सृष्टि नजर आती है जिनके चहरे पीले पडगये है। १२-१३ वर्षकी अवस्थामे ही जिनके केश रूपा होने प्रारम्भ हो गये है। जिनकी आँखे और गाल बैठ गये है। मुँह पर जिनके हवाई उडती है। होठो पर हरदम जिनके खुश्की रहती है। थोड़ासा बोलने पर मुख और कंठ जिनका सूख जाता है । हाथ और पैरोके तलुओंसे जिनके अग्नि निकलती है। जिनके पैरोमें जान नही और घुटनोमे दम नही। जो लाठीके सहारे चलते है और ऐनकके सहारे देखते है। जिनके कभी पेटमे दर्द है, तो कभी सिरमे चक्कर। कभी जिनका कान भारी है, तो कभी नाक। आलस्य जिनको दबाये रहता है। साहस जिनके पास नही फटकता। वीरता जिनको स्वप्नमे भी दर्शन

नही देती। जो स्वय अपनी छायामे आप डरते हैं।" इत्यादि, इत्यादि।

यह जो हमारे नवयुवकोकी निर्बलताका चित्रण आजसे अर्ध-शताब्दी पूर्व किया गया था, क्या वह आज भी सत्य नही है ? इस स्थितिको सुधारनेके जो उपाय लेखमे बतलाये गये हैं वे आज भी ध्यान देने योग्य हैं।

इस प्रकार पाठक देखेगे कि इन पुराने लेखोमे ऐतिहासिक महत्वके अतिरिक्त वर्तमान परिस्थितियोके सबन्धमे भी मार्ग-दर्शनकी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

प्रस्तुत सग्रहके जैन इतिहास, धर्म और समाज-विषयक लेख तो उस-उस क्षेत्रमे रुचि रखनेवाले पाठको व लेखकोको अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगे, क्योकि उनमे एक कुशल, अनुभवी विद्वान और निष्पक्ष समालोचकके विचार निहित हैं। महावीरकी तीर्थ-प्रवर्तन तिथि (२६) धीधवलमे तो एक हजार वर्षसे निर्दिष्ट थी, किन्तु मुख्तारजी ने उस ओर समाजका ध्यान सन् १९३६ मे विशेष रूपमे आकर्षित किया। इतना ही नही, किन्तु उन्होने उस दिन राजगृहके विपुलाचल पर्वत पर, जहाँ भगवान महावीरका उपदेश हुआ था, एक महोत्सव मनानेकी प्रथा प्रचलित करनेका भी प्रयास किया। 'महावीरका सर्वोदय-तीर्थ' (४०) लिखकर उन्होने जैनधर्मके अनेकान्त सिद्धान्तके प्रचारकी एक प्रशस्त भूमिका निर्माण की। 'सर्वोदयके मूलसूत्र' (४१) मे उन्होने १२० वाक्योंमे अनेकान्त सिद्धान्तका निचोड भी रख दिया। 'जैनी नीति" (२३) मे अमृत-चन्द्राचार्यकी ग्वालिनकी उपमा-द्वारा अनेकान्तकी सारग्राहिणी शक्तिका उन्होने अच्छा परिचय कराया और वर्षो तक अनेकान्तमे उसके चित्रण व लेखो-द्वारा उसका खूब प्रचार किया। "जिनपूजा-धिकार-मीमासा' (८), 'उपासना-तत्त्व' (१४), 'उपासनाका ढग'

(१५) 'वीतरागकी पूजा क्यो ?' (३१) व 'वीतरागसे प्रार्थना क्यो ?' (३२) जैसे लेखो द्वारा मुख्तारजीने तत्सम्बन्धी जैन दृष्टिकोणका शास्त्रीय एवं निर्विकार रीतिसे प्रतिपादन किया व प्रचलित धारणाओ और विधियोमे परिष्कार करानेका प्रयत्न किया।

जैन-धर्म अपने मौलिक स्वरूप व रीति-नीतिमें प्रजातन्त्रात्मक है। वह मनुष्य-वर्गमे जन्मत. नीच ऊँचका भेद स्वीकार नही करता और सभीको धर्म-पालनका समान अधिकार प्रदान करता हैं। किन्तु दुर्भाग्यतः जैन समाजमे भी नीच-ऊँचकी भावनाए और जाति-पाँतिके नाना भेद-भाव उत्पन्न हो गये । मुख्तारजीने अपने 'जैनियोमे दया-का अभाव' (७) व 'जैनियोंका अत्याचार' (९) जैसे लेखों-द्वारा इस विकारकी ओर सबका ध्यान आकर्षित किया। उन्होने 'जिन-'पूजाधिकार-मीमासा' (८) 'जातिभेद पर अमितगति' (१८) तथा 'जैनी कौन हो सकता है?'(२४) आदि लेखोमें शास्त्रीय प्रमाणोसे भले प्रकार सिद्ध कर दिखाया कि वर्ण व जाति एवं दस्सा-बीसा-जैसे अर्थ-हीन भेद-भावोके आधारसे किसीको जैनधर्मका पालन करने व मन्दिरोमे दर्शन-पूजनके अधिकारसे वचित रखना सर्वथा अनुचित है। 'चारुदत्त सेठका शिक्षाप्रद उदाहरण' (१२) 'वसुदेवका शिक्षाप्रद उदाहरण' (१३) 'गोत्र-स्थिति व सगोत्र विवाह' (१६) 'असवर्ण व अन्तर्जातीय विवाह' (२०) आदि लेखोमें उन्होने पौराणिक उदाहरण दे देकर सिद्ध किया कि नीच-ऊँच व गोत्र-मूर आदि भेद-भाव सारहीन है व उनका जैन-परम्परात्मकविवाह-संबधी नियमोमे कोई स्थान व महत्व नही है।

समाजके स्थिति-पालक कहे जानेवाले दलको मुख्तारजीके सुधारक विचारोसे बड़ी ठेस पहुँची; किन्तु आज तक भी कोई उनके शास्त्रीय प्रमाणों एवं तदाश्रित युक्तियो और तर्कोको काट नही सका। और अब तो प्रायः ये सभी सुधार बहुजनसमाजमे मौन-

पूर्वक स्वीकार किये जा चुके है। इस प्रकार हम प० जुगलकिशोरजी मुख्तारको जैनसमाजमे नये युग-निर्माणमे एक महान् अग्रणी कह सकते हैं, जिसके प्रचुर प्रमाण उनके प्रस्तुत लेखोमे विद्यमान हैं। जो कोई जैनसमाजकी गत अर्ध शताब्दीकी गति-विधिका इतिहास समझना चाहे, व उस विषय पर कुछ लिखना चाहे, उसके लिये यह लेख-सग्रह अनिवार्यरूपसे उपयोगी सिद्ध होगा, और वह पंडित-जीकी विद्वत्ता व समाज-सुधारकी शुद्ध और सुदृढ भावनाका लोहा माने बिना नही रहेगा। अंध-विश्वासो व अज्ञानपूर्ण मान्यताओकी कठोर आलोचनाके साथ साथ शास्त्रीय आधार और स्थिर आदर्शो-का पक्षपाततथा नव-निर्माणका सावधानी पूर्ण प्रयत्न पडितजीकी अपनी विशेषता है। अपनी कही हुई बातोकी पुष्टिके लिये प्रमाणों, तर्को व दृष्टान्तोकी उनके पास कोई कमी नही। उनकी भाषा सरल और धारावाहिनी, तथा शैली तर्कपूर्ण और ओजस्विनी है। सस्कृत व फ़ारसीके मोह व आग्रहसे रहित वे ऐसी सुबोध हिन्दी लिखते है जिसके विषयमे किसीको कोई शिकायत नही होनी चाहिये। इन सब गुणोसे पडितजीका अपना 'युगवीर' उपनाम, जो उनके पूरे नामका ही सारगर्भित सक्षेप है, पूर्णत सार्थक सिद्ध हुआ पाया जाता है।

हमारी अभिलाषा और प्रार्थना है कि श्रुतदेवीका यह परम पुजारी चिरायु हो।

विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म०प्र०)
१६-२-१९६३

(डा०) हीरालाल जैन
(एम०ए०, डी० लिट्)

निबन्ध-सूची

[इस सूचीमे ब्रैकटके भीतर यह सूचित किया गया है कि कौन निबन्ध कब-कहाँ प्रथमत: प्रकाशित हुआ है और जिस निबन्धका ठीक निर्माण-काल मालूम हो सका है, उसका वह समय निबन्ध-नामके अनन्तर तथा ब्रैकटके पूर्व दिया गया है।]

१

सुधारका मूलमन्त्र

पाठक जन ! क्या आपने कभी विचार किया है कि, एक मनुष्य जो अभी दूसरेके प्राण लेनेके लिये तय्यार था, शान्त क्यो होगया ? एक बालक रोते रोते हँसने क्यो लगा ? एक आदमी जो अभी हँसी-खुशीकी बाते कर रहा था, शोकमे मग्न क्यो हो गया ? सभाके सब मनुष्य बैठे बिठाए एकदम खिल-खिलाकर क्यो हँस पड़े ? कल जो कायर और डरपोक बने हुए थे, वे आज वीर क्योंकर बन गये ? मूर्खता और असभ्यताकी मूर्तियाँ विज्ञान और सभ्यताकी मूर्तियो-में कैसे परिणत हो गई? जिस कार्यसे कल हमें घृणा थी, आज उसी-को हम प्रेमके साथ क्यों कर रहे है ? आनन्द और सुखके देनेवाले पदार्थ भी कैसे किसीको दुःखदायक और अरुचिकर हो जाते है ? आपसमें वैर-विरोध क्योंकर पैदा होता और बढ जाता है ? एक अच्छे कुलका भला आदमी चोर और डकैत कैसे बन जाता है ? किस प्रकार एक असदाचारी सदाचारी और सदाचारी असदाचारी हो जाता है ? कल जो भगी या चमार था वह आज ईसाई बनकर या फौजमें भर्ती होकर ब्राह्मण और क्षत्रियो-जैसी बाते क्यो करने लगता है ? एक मनुष्य जिसे अपने प्राणोका बहुत मोह था, सहर्ष प्राण देनेके लिये क्योंकर तैयार हो जाता है ? कौन हमारी शान्त-को भग कर देता है ? कौन हमारे हृदयोमे प्रेम तथा भयका सचार

कर देता है ? और कौन किसी शांतिमय राष्ट्रमे विप्लव खडा कर देता है ?

उत्तर इन सवका एक है और वह है—साहित्य-शक्तिका प्रभाव। जिस समय जैसे जैसे साहित्यका प्रावल्य हमारे सामने होता है उस समय हमारा परिणमन भी उसी प्रकारका हो जाता है। साहित्यसे अभिप्राय यहा किसी भाषा-विशेषसे नही है और न केवल भाषाका नाम ही साहित्य हो सकता है, वल्कि भाषा भी एक प्रकारका साहित्य है अथवा साहित्यके प्रचारका साधन है। साहित्य कहते हैं भावोंके वातावरणको और वह वातावरण शब्दो, भाषाओ, वार्तालापो, व्याख्यानो, चेष्टाओं, व्यवहारो, विचारों, लेखो, पुस्तको, चित्रों आकृतियो, मूर्तियो और इतर पदार्थोंके द्वारा उत्पन्न होता है अथवा उत्पन्न किया जाता है। इसलिये साहित्यके इन सव साधनोको भी साहित्य कहते है। अथवा ये सव साहित्य प्रचारके मार्ग हैं। साहित्यके सामान्यत क्षणिक-स्थायी, चर-स्थिर, उन्नत-अवनत, सवल-निर्वल और प्रौढ-अप्रौढ ऐसे भेद किए जासकते हैं। परन्तु विशेषकी दृष्टिसे उसके शान्ति-साहित्य, शोक-सा०, प्रेम-सा०, हास्य-सा०, भय-सा०, काम-सा०, द्वेष-सा०, राग-सा० वैराग्य-सा०, सुख-सा०, दु ख-सा०, धर्म-सा०, अधर्म-सा०, आत्म-सा०, अनात्म-सा०, उदार-सा०, अनुदार-सा०, देश-सा०, समाज-सा०, युद्ध-सा०, कलह-सा०, ईर्ष्या-सा०, घृणा-सा०, हिंसा-सा०, दया-सा०, क्षमा-सा०, तुष्टि-सा०, पुष्टि-सा०, विद्या-सा०, विज्ञान-सा०, कर्म-सा०, क्रोध-सा०, मान-सा०, माया-सा०, लोभ-साहित्य, इत्यादि असंख्यात भेद हैं। वल्कि दूसरे शब्दोमे यो कहना भी अनुचित न होगा कि स्थूलरूपसे भावोंके जितने भेद किये जा सकते हैं साहित्यके भी प्राय. उतने ही भेद हैं।

शान्ति-साहित्यके सामने आनेसे, चाहे वह किसी भी द्वारसे आया हो, यदि वह प्रवल है तो हम शान्त हो जाते है—हमारा क्रोध जाता रहता है। शोक-साहित्यके प्रभावसे हम रोने लगते हैं—हमारा धैर्य

छूट जाता है। प्रेम-साहित्यके प्रसादसे हम प्रेम करनेके लिये तैयार हो जाते है—दूसरोंके प्रति हमारा अनुराग और वात्सल्य बढ जाता है। हँसीका साहित्य हमें हँसने या मुस्करानेके लिये बाध्य कर देता है। भयका साहित्य हमें भीरु और डरपोक बना देता है—हम बात-बातमें डरने, घबराने और काँपने लग जाते है। काम-साहित्यके प्राबल्यमें अनेक प्रकारकी काम-चेष्टाएँ होने लगती हैं और द्वेष-साहित्यके प्रभावसे हम लड़ने-लड़ाने, घृणा करने तथा एक दूसरेको हानि पहुँचानेके लिये आमादा और तत्पर हो जाते है। युद्धमें क्या होता है ? युद्ध-साहित्यका प्रचार। अर्थात् युद्ध-सामग्रीको एकत्रित, संचित और सुरक्षित करनेके सिवाय युद्धकी महिमा गाई जाती है–युद्ध करना कर्तव्य और धर्म ठहराया जाता है। अपने देश, धम और समाजकी मान-रक्षाके लिये प्राणोंकी बलि देना सिखलाया जाता है। अपमानित जीवनसे मरना श्रेष्ठ है, युद्धमें मरने वालोंकी कीर्ति अमर हो जाती है और उनके लिये हरदम स्वर्ग या वैकुंठका द्वार खुला रहता है, इस प्रकारकी शिक्षाएँ दी जाती है। शत्रुओंके असत् व्यवहारोंको दिखलाते हुए उनसे घृणा पैदा कराई जाती है और उन्हें दंड देनेके लिये लोगोंको उत्तेजित किया जाता है। साथ ही, सैनिकोंको और भी अनेक प्रकारके प्रोत्साहन दिए जाते हैं, वीरोका खूब कीर्तिगान होता है और कायरोंकी भरपेट निन्दा भी की जाती है। नतीजा इस सम्पूर्ण साहित्य-प्रचारका यह होता है कि मुर्दोंमें भी एक बार जान पड़ जाती है उनकी मुर्झाई हुई आशा-लताएँ फिरसे हरी-भरी होकर लहलहाने लगती हैं और वे कायर भी, जो अभी तक युद्धसे भाग रहे थे अथवा जिन्होंने हथियार डाल दिए थे, युद्धमें शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेके लिए जी-जानसे लड़ने-- खुशीसे अपने प्राणों तककी आहुति देनेके लिए तैयार हो जाते है, पूर्ण उत्साहके साथ शत्रु पर धावा करते हैं, खूब जम कर लड़ते है और अन्तमे शत्रुको परास्त भी कर देते है।

इससे पाठक समझ सकते हैं कि साहित्य-प्रचारमें कितनी शक्ति है। जिन पाठकोंको इस विषयका अधिक अनुभव प्राप्त करना हो उन्हें भूमंडलके इतिहासोंका अध्ययन करना चाहिये। इतिहासोंका अध्ययन उन्हे वतलाएगा कि साहित्य-प्रचारमे कितनी वड़ी शक्ति है और उसके द्वारा समय समयपर कैसै कैसे महान उलटफेर होगए हैं। सिक्खसमाज तथा उसके धर्मकी प्रारम्भमे क्या दशा थी और फिर कैसे कैसे साहित्यके प्रभावसे उसकी कायापलट होकर वह क्षत्रियत्वमे ढलगया, ये सब वाते भी इतिहासवेत्ताओसे छिपी नही है। वास्तवमे समस्त देशो, धर्मो तथा समाजोका उत्थान और पतन साहित्य-प्रचारके आधार पर ही अवलम्बित है। जिस देश, धर्म या समाजमे जिस समय जिस विषयके साहित्यका अधिक प्रचार होता है उस देश, धर्म या समाजमे उस समय उसी विषयकी तूती बोलने लगती है। विपयके उत्थानात्मक होनेसे उत्थान और पतनात्मक होनेसे पतन हो जाता है।

जापान देशकी आजसे प्राय· १०० वर्ष पहले कैसी जघन्य स्थिति थी और आज उसका कितना चकित करनेवाला उत्थान होगया है, यह सब उसके उत्थानात्मक साहित्यके प्रसारका ही फल है। भारत-वर्षका पतन क्यो हुआ ? और वह क्यो अपनी सारी गुण-गरिमा खो बैठा ? इसीलिये कि उसके साहित्यकी अवस्था अच्छी नही रही, वह अपने सत्साहित्यको स्थिर नही रख सका,अथवा समयके अनुकूल नया साहित्य उत्पन्न नही कर सका। उसका साहित्य प्रेमशून्य होकर पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और निन्दासे तथा निष्फल क्रियाकाड-से भर गया। उसमे अज्ञानता, अकर्मण्यता. स्वार्थान्धता कायरता, अन्धश्रद्धा, अनैतिकता और विलास-प्रियता छागई और साथही उसने लोकोपकार, लोकसग्रह, विचार-स्वातन्त्र्य और सहोद्योगिता जैसे महत्त्वके तत्त्वोको भुला दिया। देशके साहित्यकी ऐसी अवस्था हो जानेसे ही भारतवर्पका पतन हुआ। भिन्न-भिन्न धर्मो तथा समाजोके उत्थान

और पतनका भी प्राय: ऐसा ही रहस्य है । उनका उत्थान और पतन भी उनके साहित्य-प्रचारकी हालत पर अवलम्बित है ।

आप किसी देश या समाजको जैसा बनाना चाहें उसमें वैसे ही साहित्यका पूर्ण-रीतिसे प्रचार कर दीजिये, वह उसी प्रकारका हो जायगा । उदाहरणके लिये, यदि आप यह चाहते है कि हिन्दी भाषा-का भारतवर्षमें सर्वत्र प्रचार होजाय और आप उसे राष्ट्रभाषा बनाने-की इच्छा रखते है तो आप हिन्दी साहित्यका जीजानसे प्रचार कीजिये, स्वय हिन्दी लिखिये, हिन्दी बोलिए, हिन्दीमें पत्रव्यवहार, हिन्दीमें कारोबार और हिन्दीमें वार्तालाप कीजिये, हिन्दी पत्रों और पुस्तकों-को पढिये, उन्हे दूसरोंको पढनेके लिये दीजिये अथवा पढ़नेकी प्रेरणा कीजिये. हिन्दीमें लेख लिखिये, हिन्दीमें पुस्तके निर्माण कीजिये, हिन्दीमें भाषण दीजिये और यह सब कुछ दूसरोसे भी कराइये । दृढताके साथ ऐसा यत्न कीजिये कि हिन्दीमें सब विषयोंपर उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखे जॉय । हिन्दी-लेखकोंका उत्साह बढ़ाइये, उन्हें लेखो तथा पुस्तकोंके तय्यार करनेके लिये अनेक प्रकारकी सामग्रीकी सहायता दीजिये और तरह-तरहके लेखो, चित्रो, व्याख्यानो वार्तालापों और व्यवहारोंके द्वारा हिन्दीका महत्व प्रगट करते हुए सर्व-साधारणमें हिन्दीका प्रेम उत्पन्न कीजिये । साथ ही, हिन्दी-ग्रन्थों तथा हिन्दी पत्रोंकी प्राप्तिका मार्ग इतना सुगम कर दीजिये कि उनके लिये किसीको भी कप्ट न उठाना पडे । यह सब कुछ हो जाने पर आप देखेंगे कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा बन गई ।

इसी तरह यदि आप अपने देश या समाजका उत्थान चाहते है और उसके सुधारकी इच्छा रखते है तो आप उसमें उत्थानात्मक और सुधार-विषयक साहित्यको सर्वत्र फैलाइये अर्थात् अपने देश व समाज-के व्यक्तियोको स्वावलम्बनकी शिक्षा दीजिये, उन्हे अपने पैरो पर खड़ा होना सिखलाइये, भाग्यके भरोसे रहनेकी उनकी आदत छुड़ा-इये, भीख मॉगने तथा ईश्वरसे वस्तुत: याचना और प्रार्थना करनेकी

पद्धतिको उठाइये, 'कोई गुप्त दैवी शक्ति हमे सहायता देगी' इस खयालको दिलसे भुलाइये, अकर्मण्य और आलसी मनुष्योको कर्मनिष्ठ और पुरुषार्थी बनाइये, पारस्परिक ईर्ष्या,द्वेष, घृणा निन्दा और अदेखसका भावको हटाकर आपसमें प्रेमका संचार कीजिये, निष्फल क्रियाकाडों और नुमायशी (दिखावेके) कामोमें होनेवाले शक्तिके ह्रासको रोकिये, द्रव्य और समयका सदुपयोग करना बतलाइये, विलासप्रियताकी दलदलमे फँसने और अन्धश्रद्धाके गड्ढेमे गिरनेसे बचाइये, अनेक प्रकारके कल-कारखाने खोलिए, उद्योगशालाएँ और प्रयोगशालाएँ जारी कीजिये, शिल्प व्यापार और विज्ञान-उन्नतिकी ओर लोगोको पूरे तोरसे लगाइये, मिलकर काम करना, एक दूसरेको सहायता देना तथा देश और समाजके हितको अपना हित समझना सिखलाइये, बाल, वृद्ध तथा अनमेल विवाहोका मूलोच्छेद होसके ऐसा यत्न कीजिए,सच्चरित्रता और सत्यका व्यवहार फैलाइये, विचार-स्वातन्त्र्यको खूब उत्तेजन दीजिए, योग्य आहार-विहार द्वारा बलाढ्य बनना सिखलाइये, वीरता, धीरता निर्भीकता, समुदारता, गुणग्राहकता, सहनशीलता और दृढप्रतिज्ञता आदि गुणोका सचार कीजिये, एकता और विद्यामे कितनी शक्ति है इसका अनुभव कराइये, धर्मनीति, राजनीति और समाजनीतिका रहस्य तथा भेद समझाइये,समुद्र-यात्राका भय हटाइये, विदेशोमे जानेका संकोच और हिचकिचाहट दूर कीजिये, अनेक भाषाओका ज्ञान कराइये, तरह तरहकी विद्याएँ सिखाइये और शिक्षाका इतना प्रचार कर दीजिये कि देश या समाजमे कोई भी स्त्री, पुरुष, बालक और बालिका अशिक्षित न रहने पावे। इन सब बातोंके सिवाय जो जो रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार अथवा सिद्धान्त उन्नति और उत्थानमे बाधक हों, जिनमे कोई वास्तविक तत्त्व न हो और जो समय समय पर किसी कारणविशेषमे देश या समाजमे प्रचलित हो गए हो उन सबकी खुले शब्दोमे आलोचना कीजिए और उनके गुण-दोष सर्वसाधारण पर

प्रगट कीजिये। सच्ची आलोचनामें कभी संकोच न करना चाहिए। विना समालोचनाके दोषोंका पृथक्करण नहीं होता। साथ ही, इस बातका भी खयाल रखिये कि इन सब कार्योंके सम्पादन करने और कराने में अथवा यह सब साहित्य फैलानेमें आपको अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ आवेंगी, रुकावटें पैदा होंगी, बाधाएँ उपस्थित होगी, और आश्चर्य नही कि उनके कारण कुछ हानि या कष्ट भी उठाना पड़े, परन्तु उन सबका मुकाबला बड़ी शान्ति और धैर्यके साथ होना चाहिए, चित्तमें कभी क्षोभ न लाना चाहिए--क्षोभमें योग्य-अयोग्य-का विचार नष्ट हो जाता है--और न कभी इस बातकी पर्वाह ही करनी चाहिए कि हमारे कार्योंका विरोध होता है, विरोध होना अच्छाहै,वह शीघ्र सफलताका मूल है। कैसा ही अच्छेसे अच्छा काम क्यों न हो, यदि वह पूर्व-संस्कारोके प्रतिकूल होता है तो उसका विरोध जरूर हुआ करता है। अमेरिका आदि देशोंमे जब गुलामोंको गुलामीसे छुड़ानेका आन्दोलन उठा तब खुद गुलामोने विरोध किया था। पागल मनुष्य अपना हित करनेवाले डाक्टर पर भी हमला किया करता है। इसलिए महत्पुरुषोको इन सब बातोंका कुछ भी खयाल न होना चाहिए। अन्यथा वे लक्ष्य-भ्रष्ट हो जावेंगे और सफल-मनोरथ न हो सकेंगे। उन्हें अपना कार्य और आन्दोलन बरा-बर जारी रखना चाहिए। आन्दोलनके सफल होने पर विरोधी शान्त हो जायँगे, उन्हें स्वय अपनी भूल मालूम पड़ेगी और आगे चलकर वे तुम्हारे कार्योंके अनुमोदक और सहायक ही नही बल्कि अच्छे प्रचारक और तुम्हारे पूर्ण अनुयायी बन जायँगे।

जैन ग्रन्थोके छपानेका समाजमें कितना विरोध रहा! परन्तु अब वही लोग, जो उस विरोधमे शामिल थे और जिन्होने छपे हुए शास्त्रोंको न पढ़नेकी प्रतिज्ञाओ पर अपने हस्ताक्षर भी कर दिये थे, खुशीसे छपे हुए ग्रन्थोंको पढते-पढ़ाते और उनका प्रचार करते हुए देखे जाते है। जिधर देखो, उधर छपे हुए ग्रन्थोंकी महिमा और

प्रशसाके गीत गाए जाते हैं। यदि उस समय छपे ग्रन्थोका प्रचार करने-वालोंके हृदयोमे इस विरोधसे निर्बलता आ जाती और वे अपने कर्तव्यको छोड़ बैठते तो आज छपे ग्रन्थोकी कृपासे जैन समाजको जो असीम लाभ पहुँच रहा है उससे वह वंचित रह जाता और उसका भविष्य बहुत कुछ अंधकारमय हो जाता। इसलिये विरोधके कारण घबराकर कभी अपने हृदयमे कमजोरी न लाना चाहिये और न फल-प्राप्तिके लिये जल्दी करके हताश ही होजाना चाहिये। बल्कि बड़े धैर्य और गाम्भीर्यके साथ बराबर उद्योग करते रहना चाहिये और नये-पुराने सभी मार्गोसे, जिस-जिस प्रकार बने, अपने सुधार विषयक साहित्यका सर्वत्र प्रचार करना चाहिये।

सच्चे हृदयसे काम करनेवालो और सच्चे आन्दोलनकारियोको सफलता होगी और फिर होगी। उन्हे अनेक काम करनेवाले, सहायता देनेवाले और उनके कार्योको फैलानेवाले मिलेंगे। इसलिए घबरानेकी कोई बात नही है। जो लोग देश या समाजके सच्चे हितैषी होते हैं वे सब कुछ कष्ट उठाकर भी उसका हित-साधन किया करते हैं। इस तरहपर सब कुछ सहन करते हुए यदि आप सुधारविषयक साहित्यका प्रचार करके अपने देश या समाजके साहित्यको सुधारनेमें समर्थ हो जायँगे तो फिर देश या समाजके सुधरनेमे कुछ भी देर नही लगेगी। उसका सुधार अनिवार्य हो जायगा। यही सुधारका मूल मंत्र है। परन्तु इतना ख़याल रहे कि साहित्य जितना ही उन्नत, सबल और प्रौढ होगा उतना ही उसका प्रभाव भी अधिक पड़ेगा और वह अधिक काल तक ठहर भी सकेगा। इसलिए जहाँ तक बने, खूब प्रबल और पुष्ट साहित्य फैलाना चाहिए।

२

पापोंसे बचनेका गुरुमंत्र

इस संसारमें इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग और रोगादि-जनित जितने भी दु:ख और कष्ट है उन सबका मूल कारण पाप-कर्म है। क्या बालक, क्या वृद्ध और क्या जवान सभी दु:खोसे भयभीत और इस बातके उत्कट अभिलाषी है कि उन्हें किसी प्रकार भी दु.खके दर्शन न होवे, परन्तु दु.खोके मूल कारण 'पाप' को दूर करनेके लिये प्राय. कोई भी यथेष्ट प्रयत्न नही करता, उलटा दु ख मिटानेके लिये मनुष्य बहुधा पापकर्मका आचरण करते है जिससे दु:ख दूर न हो-कर दु:खकी परम्परा उत्तरोत्तर बढती रहती है। आजकलके मनुष्यों-की दशा ठीक इस श्लोकमें वर्णित-जैसी जान पड़ती है —

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
फलं नेच्छन्ति पापस्य पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

अर्थात्—मानव पुण्यका फल जो सुख उसको तो चाहते है,परन्तु पुण्य तथा धर्मकार्यको करना नही चाहते—उसके लिये सौ बहाने वना देते हैं। और पापका फल जो दु.ख उसे तो नही चाहते—दु.ख के नामसे भी डरते है, परंतु दु:खका कारण जो पापकर्म है उसे बड़े यत्नसे करते है—अनेक जन मिल-मिलाकर तथा सलाह-मशवरा करके उसे बड़े चावसे सम्पन्न करते है।

ऐसी स्थितिमें कैसे दु.खकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है ? जिस प्रकार शीत दूर करनेके लिए शीतलोपचार उपयोगी नही होता उसी प्रकार दु:खोको दूर करनेके लिए पापा-

चरण कार्यकारी नही है। दुःखोसे भयभीत मानवोको चाहिए कि वे पापोका दूरसे ही परित्याग करे। अतः आज अपने पाठकोको एक ऐसा 'गुरुमंत्र' बतलाया जाता है जिसको हृदयमें धारण करने, नित्य स्मरण रखने और सदा व्यवहारमे लानेसे सहज ही समस्त पापोंसे बचा जा सकता है। गुरुमत्रमें पापोंसे बचनेका ऐसा सुगम तथा सरल मार्ग निर्दिष्ट किया गया है जिससे किसीको भी किसीसे कुछ पूछने-की जरूरत नही रहती। प्रत्येक मनुष्य पापोंसे बचनेका अपना मार्ग स्वयं निर्धारित कर सकता है और उसपर चलता हुआ स्वतः पापों-से बचकर दुःखोसे मुक्त हो सकता है। वह गुरुमंत्र इस प्रकार है:—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

'जो जो बातें, क्रियाएँ, चेष्टाएँ तुम्हारे प्रतिकूल है—दूसरोके द्वारा किए हुए जिस व्यवहारको तुम अपने लिये पसन्द नही करते, अहितकर और दुःखदायी समझते हो—उनका आचरण-व्यवहार तुम दूसरोंके प्रति किसी प्रकार भी मनसे, वचनसे, कायसे तथा करने, कराने, अनुमोदनाके रूपमे मत करो।'

इस गुरुमंत्रके अनुकूल आचरण करनेवाला मनुष्य सच्चा धर्मा-त्मा एव न्यायनिष्ठ होता है; वह पापोसे अलिप्त रहकर दुःखोंसे सहज ही छुटकारा पा जाता है। अतः सुखार्थी और सुखान्वेषी मनु-ष्योंको चाहिए कि वे जब कोई भी काम करना चाहे या किसी काम करनेका विचार अपने मनमे लाएँ तब वे झटसे इस मत्रका स्मरण कर लिया करे और इस बातपर गहरा विचार करे कि यदि वह कार्य, जिसको हम दूसरोंके प्रति करना चाहते हैं, दूसरे मनुष्य वैसी ही दशामे हमारे प्रति करे तो वह हमको इष्ट होगा या अनिष्ट—अच्छा लगेगा या बुरा। यदि वह कार्य अपनेको अनिष्ट (बुरा) प्रतीत होता हो तो हमको कदापि दूसरोंके साथ उसका आच-रण अथवा व्यवहार नही करना चाहिए। जब दूसरोकी बेईमानी, गाली आदि कुवचन और असद्व्यवहारसे हमारे चित्तको, दुःख

पहुँचता है तो हमको कब उचित है कि हम दूसरोंके साथ बेईमानी करे, उनको गाली आदि कुवचन कहै अथवा उनके साथ असद्व्यवहार करे ? यह मत्र वैसा करनेको अनुचित बतलाता हुआ उसका निषेध करता है।

ससारमे कोई भी मनुष्य यह नही चाहता और न किसीको यह इष्ट है कि कोई दूसरा प्राणी उसको सतावे,दु.ख देवे, मारे या उसका बध करे,यह भी कोई नहीं चाहता कि दूसरा मानव उसके साथ झूठ बोले, मायाचार करे, छल-कपट रचे,उसको धोखा देवे, उसका माल चुरावे या अन्य किसी प्रकारसे उसको हानि पहुँचावे अथवा कोई नराधम उसकी बहू बेटी आदिको बहकावे, उनसे व्यभिचार करे या उनको कुदृष्टिसे देखे; न किसीको यह प्रिय तथा सुखकर मालूम होता है कि कोई उस पर क्रोध करे, उसका तिरस्कार या अपमान करे, उसकी निन्दा बुराई या चुगली करे, उसके साथ अभिमान करे, शत्रुता रक्खे, उससे अपना लोभ साधे, उसकी हँसी उड़ावे, उसको किसी प्रकारका भय दिखावे उसकी आजीविका बिगाडे अथवा कर्कश कठोर और मर्मविदारक निद्य शब्द कहे, और न कोई मनुष्य इस बातको पसन्द करता अथवा अपने अप्रतिकूल समझता है कि दूसरा मनुष्य उसके साथ विश्वासघात या द्रोह करे, उसकी धरोहर या उधार (कर्ज) को न देवे, उसके चोरी गए हुए मालको खरीदे, उससे बढ़ती ले लेवे और उसको घटती तौल देवे उसको अच्छा माल दिखा कर खोटा तथा मिलावटी माल देवे, उसके चलते तथा होते हुए काममे विघ्न कर देवे, उसकी धन-सम्पत्ति तथा पुत्र-कलत्रादिको देखकर जले अथवा उसके कुटुम्बादिका विघटन और विनाश चाहे।

यदि किसी मनुष्यको यह मालूम हो जाता है कि कोई दूसरा व्यक्ति उसके प्रतिकूल ऐसा कोई कार्य कर रहा है,उसके किसी कार्यमें बाधक है या किसी दूसरे मनुष्यसे उपर्युक्त कार्योमें से कोई कार्य उसके प्रतिकूल करा रहा है या करनेकी प्रेरणा कर रहा है अथवा उसके

प्रतिकूल कोई कार्य होता हुआ देखकर खुश हो रहा है—आनन्द मना रहा है—तो उस मनुष्यको घोर मानसिक कष्ट एवं दुःख उत्पन्न होता है। और वह उस व्यक्तिको अपना हितशत्रु समझने लगता है, फलतः परस्पर वैर-विरोध बढ़कर अनेकानेक अनर्थ पैदा हो जाते है। अतएव मनुष्योको चाहिए कि वे किसीभी प्राणीके साथ उपर्युक्त कार्यों-मेंसे, जिन्हे वे अपने प्रतिकूल समझते है, किसी भी कार्यका आचरण, अनुष्ठान, व्यवहार अथवा वर्ताव न करे।

संसारमे उपर्युक्त सब कार्य पाप-कार्य कहे जाते है और प्रायः यही पाप-कार्य हैं भी। इन्ही पाप-कर्मोकी वजहसे संसारमे अनेक प्रकारके दुःख और कष्ट उठाने पडते है। पाठकजन! जरा सोचिए, और समझिए यह कितना बडा अन्याय और अन्धेर है कि जिस कामको हम स्वय अपने लिए बुरा समझे उसका आचरण तथा व्यवहार दूसरेके लिए करे और हमारा हृदय कुछ भी कम्पायमान न हो! हम किस मुँहसे तब यह कह सकते है और कौनसे हृदयसे इस बातकी इच्छा कर सकते हैं कि अन्य प्राणी हमारे साथ नेकी करे, अच्छा व्यवहार करे और उपर्युक्त प्रकार बुराईसे न प्रवर्ते? क्या यह न्यायसंगत हो सकता है कि हम दूसरोको दुःख देवे सतावे और फिर उनसे सुख मिलनेकी आशा रक्खे? कदापि नही। इसलिए हमको चाहिए कि हम इस गुरुमन्त्रका शरण ग्रहण करे और अपनी पूर्ण-शक्तिके अनुसार इस पर आचरण तथा अमल करे, जिससे शीघ्र ही पापोंसे बचकर उत्तम सुखोका अनुभव कर सके। जितने जितने अंशोमे हम इस गुरुमन्त्र पर आचरण करेगे उतने उतने अंशोमे हम पापोंसे बच जाएँगे। हमारे आचार्योंने इस गुरुमन्त्रमे ऐसी खूबी रक्खी है कि इसपर आचरण करनेवालोको पापोके भेद-प्रभेदो और उनके लक्षणोंको जानने तथा याद रखनेकी कोई विशेष आवश्यकता नही रहती, और इस गुरुमन्त्रके प्रचारसे सहज ही संसारभरमे सुख-शान्तिका प्रवाह फैल सकता है।

३

मिथ्या धारणा

आजकल भारतवर्षमे बहुतसे हिसक तीव्र-कषायी और रौद्रपरिणामी मनुष्य भिरड, ततैये, बिच्छू, कानखजूरे तथा खटमल, पिस्सू, मच्छर आदि छोटे छोटे दीन जन्तुओको मारकर अपनी बहादुरी जतलाया करते है और भिरड़-ततैयोंके छत्तोमें आग लगाकर तीसमारखाँ बना करते है। जब उनसे कोई करुणाहृदय व्यक्ति पूछता है कि आप ऐसा निर्दयताको लिये हुए हिसक कार्य क्यो करते है? तो वे वड़े दर्पके साथ, मुसलमान न होते हुए भी, उत्तरमें यह मुसलमानी सिद्धान्त सुना देते है.—

"क़तलुल मूज़ी क़बलुल ईज़ा"

अर्थात्—ईजा (दु:ख) पहुँचानेसे पहले ही मूजी (दु ख देनेवाले)-को मार डालना चाहिये। परन्तु वे कभी इस बातका विचार भी नही करते कि जब भिरड़, ततैये आदिक थोड़ीसी पीड़ा पहुँचाने ही के कारण मूजी और बधयोग्य है तो फिर हम जो कि उनको जानसे ही मार डालते है और उन जन्तुओंका गाँवका गाँव (छत्ता) भस्म कर देते है उनसे कितने दर्जे अधिक मूजी और बधयोग्य ठहरते है!!

वास्तवमे विचार किया जाय तो यह सब उनकी मिथ्या धारणा है, वे उक्त सिद्धान्तका बिल्कुल दुरुपयोग कर रहे है और उन्होने उसके आशयको कुछ भी नही समझा है। उन्हे न तो मूजीकी खबर है और

न ईज़ाकी। यदि इस सिद्धान्तका वही आशय लिया जाय जैसा कि वे समझ रहे हैं और तदनुकूल प्रवर्त रहे हैं—अर्थात् यह कि जो कोई प्राणी किसी दूसरे प्राणीको थोड़ासा भी दु:ख देनेवाला हो तो वह मूज़ी है, उसको मार डालना चाहिये—तो ऐसी हालतमे मनुष्य सबसे पहले मूज़ी और वधयोग्य ठहरते हैं, क्योंकि ये बहुतसे निरपराधी जीवोको सताते और प्राण-दड देते हैं। परन्तु यह किसी को इष्ट नही। अतः इस सिद्धान्तका साफ आशय और असल प्रयोजन यह है कि मनुष्योको अपने नफ्सको मारना चाहिए—अपनी पाँचो इद्रियो(हवासेखमसा,-को वशमे करना चाहिए। ये ही मूज़ी है, इन्हींके कारण इस आत्मा-को नाना प्रकारके जन्म-जरा-मरण रोग-वियोग तथा नरक निगोदा-दिकके दु:ख और कष्ट उठाने पड़ते है, इन्हींके प्रसादसे आत्माके साथ कर्म-बन्धन होकर उसके गुणोका घात होता है, जिससे अधिक आत्माके लिए और कोई ईजा (दु:ख-परम्परा) नही हो सकती है और न इनसे अधिक आत्माके लिए और कोई मूजी हो सकता है। इन इंद्रियोका निग्रह करने और इनकी विषय-वासनाको रोकने तथा राग-द्वेषरूप परिणतिको हटानेसे ही इस आत्माके दु:खकी निवृत्ति होकर उसे सच्चे सुखकी प्राप्ति हो सकती है। नीति-कारोने बहुत ठीक कहा है :—

> आपदां कथितः पन्था इंद्रियाणामसंयमः।
> तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

अर्थात्—मुसीबत और दुःखोंके आनेका एकमात्र मार्ग इन्द्रियो-का असंयम—उनका वशमे न करना—है और उनको जीतकर अपने वशमें करना ही सुखोका एक मात्र मार्ग है। अत. जो मार्ग इष्ट हो-उसपर चलना चाहिये। सुख चाहते हो.तो इन्द्रियोंको अपने आधीन करो। दु:ख चाहते हो तो खुद इन्द्रियोंके आधीन हो जाओ।

कवि 'जौक' ने भी नफ़्स को बड़ा मूजी क़रार देते हुए उसीको मारनेकी प्रेरणाकी है:—

किसी बेकसको ऐ बेदादगर ! मारा तो क्या मारा ?
जो खुद ही मर रहा हो उसको गर मारा तो क्या मारा ?
न मारा आपको जो ख़ाक हो अक्सीर बन जाता।
अगर पारे को ऐ अक्सीरगर ! मारा तो क्या मारा ?
बड़े मूज़ीको मारा नफ्से अम्माराको गर मारा।
नहंगो अज़दहाओ शेरेनर मारा तो क्या मारा ?

दूसरा आशय इस सिद्धान्तका यह भी निकाला जासकता है कि जब तक ज्ञानावरणीय आदिक कर्म, जो आत्माके परम शत्रु है और इस आत्माको संसारमे परिभ्रमण कराकर नाना प्रकारके कष्ट देते है, उदयमें आकर इस आत्माको दु.ख और कष्ट देवे अथवा ईजा पहुँचावे उससे पहले ही हमको तप-सयमादिरूप धर्माचरणके द्वारा उनको मार डालना चाहिए—उनकी निर्जरा कर देनी चाहिए—जिससे वे हमको ईजा (दु.ख) न पहुँचा सके। इन दोनों आशयोंके अतिरिक्त उपर्युक्त सिद्धान्तका यह आशय कदापि नही हो सकता है कि किसी प्राणधारीका बध किया जावे। ऐसा आशय करनेसे दयाधर्मके सिद्धान्तमें विरोध आता है। वह सिद्धान्त तब अधर्ममयी हो जानेसे सर्वथा हेय ठहरता है और किसी भी दयाधर्मके माननेवालेको उस पर आचरण नही करना चाहिए। यह कैसी खुदग़र्जी और अन्याय है कि जिस बातको हम अपने प्रतिकूल समझे या जिसे हम अपने लिए पसन्द न करे उसका आचरण दूसरोके प्रति करे !

इसीसे एक फ़ार्सी कविने भी कहा है—"आंचे बर खुद न पसन्दी बर दीगरां मपसन्द"। अर्थात् जिस (व्यवहार) को तू अपने ऊपर पसन्द नही करता उसे दूसरो के ऊपर पसन्द मत कर।

४

महाजनी मंत्र

महाजनी हिन्दीमे सबसे प्रथम जो अक्षर पढ़ाए जाते है उनका उच्चारण क्रमश इस प्रकार कराया जाता है —

"रा, मे, सै, तै, सू, रे, सै, ती ओ, ना, मा, सी. धं ।"

प्राय सब लोग इसको वर्णमाला समझते है और इसीसे इसका इस प्रकार पृथक्-पृथक् उच्चारण करते हैं, परन्तु वस्तुत विचार करनेमे मालूम होता है कि यह वर्णमाला नही है, क्योकि वर्णमाला इसके पश्चात् जब पृथक रूपसे पढ़ाई जाती है और उपर्युक्त सब अक्षर उसमे आते है तब इसको वर्णमाला कैसे माना जा सकता है ? दूसरे इसी वर्ण-समूहमे कई अक्षर—जैसे रकार, मकार, सकार और तकार—कई कई बार आए हैं यदि यह वर्णमाला होती तो एक अक्षरके कई-कई बार आनेकी क्या आवश्यकता थी ? इससे साफ तौर पर सिद्ध होता है कि यह अक्षर-समूह वर्णमाला नही है, बल्कि कुछ और ही वस्तु है और वह है देव-गुरु-शास्त्रके स्मरणस्वरूप और सिद्धोको नमस्कार रूप एक मत्र या मगलाचरण, जो सबसे पहले मगलके लिए बालकोंको पढ़ाया जाता था और उसका उच्चारण इस प्रकार होता था तथा होना चाहिए —

" राम सन्त सरस्वती ओं नमः सिद्धं ।"

परन्तु अफसोस है कि आजकल इसके उच्चारणको ऐसा बिगाड़

दिया गया है और इस उच्चारणकी ऐसी प्रबल रूढि पड़ गई है कि क़िसीको इसके मंत्र या मंगलाचरण होनेका स्वप्नमें भी ध्यान नहीं आता और विचारे बालक इस कल्याणकारी मंत्र तथा मंगलपाठसे वंचित रक्खे जाते है।

इस अशुद्ध उच्चारणके कारणों पर जहाँ तक विचार किया जाता है तो मुख्यतः दो कारण सामने आते है। एक तो यह कि इस महाजनी हिन्दीमें मात्राएँ नही होतीं, जिससे एक अक्षरका उच्चारण अनेक प्रकार हो जाता है। जैसे कि उक्त अक्षर-समूहमें रकारका उच्चारण एक स्थान पर 'रा' और दूसरे स्थान पर 'रे' किया जाता है; इसी तरह सकारका उच्चारण 'सै''सू''सी'के रूपमें तीन प्रकार और मकार-का उच्चारण 'मै' तथा 'मा'के रूपमें दो प्रकार किया जाता है। सारांश यह कि इस लिपिमें चाहे किसी अक्षरको किसी मात्राके साथ पढ़लो, चाहे बिना मात्राके। इसी लिये इस महाजनी हिन्दीको 'गन्दी' कहते है, जिसकी अनेक लोकोक्तियाँ प्रचलित है ❀।

दूसरा कारण यह जान पड़ता है कि इस महाजनीको पढ़ाने वाले प्राय अविद्वान् पाधा लोग होते है। वे विचारे इस बातको कहाँ पहुँच सकते है कि यह कोई मंत्र अथवा मंगलाचरण है। वे तो प्रायः यह भी नही जानते कि राम, सन्त और सरस्वती किसको कहते हैं और सिद्ध किसका नाम है। फिर वे बालकोसे किस प्रकार ऐसा शुद्ध उच्चारण करा सकते है ? इसीसे यह उपर्युक्त प्रकारसे पृथक् पृथक् अक्षरोंके उच्चारणकी रुढि पड़ गई है।

❀ एक लोकोक्ति यह भी प्रसिद्ध है कि किसी मुनीमने लालाजीके अजमेर जानेकी सूचना और वडी बहीकी आवश्यकता होने पर उसके भेजनेकी प्रेरणा करते हुए जो लिखा था कि "लालाजी अजमेर गये बडी बहीको भेज दो" वह "लालाजी आज मर गये वड़ी बहूको भेज दो" के रूपमे पढा गया, और ऐसा पढते ही वहाँ हाहाकार मच गया !

अतः हमारे भाईयोको चाहिये कि वे इस खराव रुढिको दूर करनेका शीघ्र प्रयत्न करे, जिससे प्रारंभमें ही बालकोको मंत्रमय मांगलिक शब्दोंके उच्चारणका अवसर मिले और उनमें अच्छे संस्कार पड़े। इसके लिये पाठशालाओमे जो पाधा लोग पढ़ाते हो उन्हे समझाकर हिदायत कर देनी चाहिये कि वे आगामी बालकोको प्रारम्भमे 'राम सन्त सरस्वती ओं नमः सिद्धं' ऐसा मंगलमय शुद्ध पाठ पढाया करे।

५

उपवास

उपवास एक प्रकारका तप और व्रत होनेसे धर्मका अंग है। विधि-पूर्वक उपवास करनेसे पांचो इन्द्रियाँ और बन्दरके समान चंचल मन ये सब वशमें हो जाते है, साथ ही पूर्व कर्मोंकी निर्जरा होती है। संसारमें जो कुछ दु:ख और कष्ट उठाने पड़ते है वे प्राय: इन्द्रियों-की गुलामी और मनको वशमें न करनेके कारणसे ही उठाने पड़ते है। जिस मनुष्यने अपनी इन्द्रियों और मनको जीत लिया उसने जगत जीत लिया, वह धर्मात्मा है और सच्चा सुख उसीको मिलता है। इस-लिये सुखार्थी मनुष्योंका उपवास करना प्रमुख कर्त्तव्य है। इतिहासो और पुराणोंके देखनेसे मालूम होता है कि पूर्व कालमें इस भारत-भूमि पर उपवासका बड़ा प्रचार था। कितने ही मनुष्य, कई-कई दिनका ही नहीं, कई-कई सप्ताह, पक्ष तथा मास तकका भी उपवास किया करते थे। वे इस बातको भली प्रकार समझे हुए थे और उन्हे यह दृढ विश्वास था कि —

"कर्मेन्धनं यदज्ञानात् संचितं जन्म-कानने।
उपवास-शिखी सर्वं तद्भस्मीकुरुते क्षणात॥"

"उपवास-फलेन भजन्ति नरा भुवनत्रय-जात-महाविभवान्।
खलु कर्म-मल-प्रलयादचिरादजराऽमर-केवल-सिद्ध-सुखम्॥"

'संसाररूपी वनमें अज्ञानभावसे जो कुछ कर्मरूपी-ईंधन संचित होता है उसको उपवासरूपी अग्नि क्षणमात्रमे भस्म कर देती है।'

'उपवासके फलसे मनुष्य तीन लोककी महा विभवको प्राप्त होते है और कर्ममलका नाश हो जानेसे शीघ्र ही अजर अमर केवल सिद्ध-सुखका अनुभव करते हैं।'

इसीसे वे (पूर्वकालीन मनुष्य) प्राय धीरवीर, सहनशील, मनस्वी, तेजस्वी, उद्योगी, साहसी, नीरोगी, दृढसंकल्पी, बलवान्, विद्यावान्, और सुखी होते थे, जिस कार्यको करना विचारते थे उसको करके छोड़ते थे। परन्तु आज वह स्थिति नही है। आज-कल उपवासकी विलकुल मिट्टी पलीद है–प्रथम तो उपवास करते ही वहुत कम लोग है और जो करते है उन्होने प्राय भूखे मरनेका नाम उपवास समझ रक्खा है। इसीसे वे कुछ भी धर्म-कर्म न कर उपवास-का दिन योंही आकुलता और कष्टसे व्यतीत करते है—गर्मीके मारे कई कई वार नहाते है, मुख धोते है, मुख पर पानीके छींटे देते हैं, ठंडे पानीमें कपड़ा भिगो कर छाती आदि पर रखते है, कोई कोई प्यास कम करनेके लिये कुल्ला तक भी कर लेते है और किसी प्रकार-से यह दिन पूरा होजावे तथा विशेष भूख-प्यासकी वाधा मालूम न होवे इस अभिप्रायसे खूब सोते है, चौसर-गंजिफा आदि खेल खेलते है अथवा कभी कभी का पडा गिरा कोई ऐसा गृहस्थीका धंधा या आरम्भका काम ले वैठते है जिसमे लगकर दिन जाता हुआ मालूम न पडे। गरज ज्यो त्यो करके अनादरके साथ उपवासके दिनको पूरा कर देते हैं, न विषय-कषाय छोड़ते है और न कोई खास धर्माचरण ही करते है। पर इतना जरूर है कि भोजन विलकुल नही करते, भोजन न करनेको ही उपवास या व्रत समझते है और इसीसे धर्मलाभ होना मानते है। सोचनेकी वात है कि यदि भूखे मरनेका ही नाम उपवास या व्रत हो तो भारतवर्षमें हजारो मनुष्य ऐसे है जिनको कई कई दिनतक भोजन नही मिलता है, वे सब ही व्रती और धर्मात्मा ठहरे;

परन्तु ऐसा नहीं है। हमारे आचार्योंने उपवासका लक्षण इस प्रकार वर्णन किया है :—

कषाय-विषयाहार-त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥

अर्थात्—जिसमें कषाय, विषय और आहार इन तीनोंका त्याग किया जाता है उसको उपवास समझना चाहिये, शेष जिसमें कषाय और विषयका त्याग न होकर केवल आहारका ही त्याग किया जावे उसको लंघन (भूखा मरना) कहते हैं।

श्री अमितगति आचार्य इस विषयमें ऐसा लिखते हैं:—

त्यक्त-भोगोपभोगस्य, सर्वारम्भ-विमोचिनः।
चतुर्विधाऽशनत्याग उपवासो मतो जिनैः॥

अर्थात्—जिसने इन्द्रियोंके विषयभोग और उपभोगको त्याग दिया है और जो समस्त प्रकारके आरम्भसे रहित है उसीके जिनेन्द्रदेवने चार प्रकारके आहार-त्यागको उपवास कहा है। अतः इन्द्रियोंके विषयभोग और आरम्भके त्याग किये बिना चार प्रकारके आहारका त्यागना उपवास नहीं कहलाता।

स्वामी समन्तभद्राचार्यकी उपवासके विषयमे ऐसी आज्ञा है.—

पंचानां पापानामलंक्रियाऽऽरम्भ-गंध-पुष्पाणाम्।
स्नानाऽञ्जन-नस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात्॥१॥
धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिवतु पाययेद्वान्यान्।
ज्ञान ध्यान-परो वा भवतूपवसन्न तन्द्रालुः॥२॥

'उपवासके दिन पाँचों पापों हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह-का, शृंगारादिक रूपमें शरीरकी सजावटका, आरम्भोंका, चन्दन इत्र फुलेल आदि गंध द्रव्योंके लेपन का, पुष्पोंके सूंघने तथा माला आदि धारण करनेका, स्नानका, आँखोंमें अंजन (सुरमा) लगानेका और नाकमे दवाई डालकर नस्य लेने, तथा तमाखू आदि सूंघनेका, त्याग करना चाहिये।'

'उपवास करने वालेको उस दिन निद्रा तथा आलस्यको छोड़ कर अति अनुरागके साथ कानो द्वारा धर्मामृतको स्वयं पीना तथा दूसरोको पिलाना चाहिये और साथ ही ज्ञान तथा ध्यानके आराधनमे तत्पर रहना चाहिए।'

इस प्रकार उपवासके लक्षण और स्वरूप-कथनसे यह साफतौर पर प्रकट है कि केवल भूखे मरनेका नाम उपवास नही है, किन्तु विषय-कषायका त्याग करके इन्द्रियोंको वशमे करने, पंच पापो तथा आरम्भको छोडने और शरीरादिकसे ममत्व परिणामको हटाकर प्रायः एकान्त स्थानमे धर्मध्यानके साथ कालको व्यतीत करनेका नाम उपवास है और इसीसे उपवास धर्मका एक अंग तथा सुखका प्रधान कारण है।

जो लोग (पुरुष हो या स्त्री) उपवासके दिन झूठ बोलते हैं, चोरी करते है,मैथुन सेवन करते हैं या अपने घर-गृहस्थीके धंधोंमें लगे रहकर अनेक प्रकारके सावद्यकर्म (हिंसाके काम) एवं छल-कपट करते है, मुकदमे लड़ाते और परस्पर लड़कर खून बहाते है तथा अनेक प्रकारके उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण पहनकर शरीरका शृंगार करते हैं, सोते है, ताश, चौपड़ तथा गंजिफा आदि खेल खेलते है, हुक्का पीते या तमाखू आदि सूंघते हैं और स्वाध्याय, सामायिक, पूजन, भजन आदि कुछ भी धर्म कर्म न करके अनादर तथा आकुलताके साथ उस दिनको पूरा करते है वे कैसे उपवासके धारक कहे जा सकते है और उनको कैसे उपवासका फल प्राप्त हो सकता है ? सच पूछिये तो ऐसे मनुष्योका उपवास उपवास नहीं है किन्तु उपहास है। ऐसे मनुष्य अपनी तथा धर्म दोनोंकी हँसी और निन्दा कराते हैं, उन्हें उपवाससे प्राय. कुछ भी धर्म-लाभ नहीं होता। उपवासके दिन पापाचरण करने तथा सक्लेशरूप परिणाम रखनेसे तीव्र पाप बंधकी सभावना अवश्य है।

हमारे लिये यह कितनी लज्जा और शरम की बात है कि ऊँचे

पदको धारण करके नीची क्रिया करें अथवा उपवासका कुछ भी कार्य न करके अपने आपको उपवासी और व्रती मान बैठे !

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि विधिपूर्वक उपवास करनेसे पाँचों इन्द्रियाँ और मन शीघ्र ही वशमें हो जाते हैं और इनके वशमें होते ही उन्मार्ग-गमन रुककर धर्म-साधनका अवसर मिलता है। साथ ही उद्यम, साहस, पौरुष, धैर्य आदि सद्गुण इस मनुष्यमें जाग्रत हो उठते है और यह मनुष्य पापोंसे बचकर सुखके मार्गमें लग जाता है। परन्तु जो लोग विधिपूर्वक उपवास नहीं करते उनको कदापि उपवासके फलकी यथेष्ट प्राप्ति नहीं हो सकती। उनका उपवास केवल एक प्रकारका कायक्लेश है, जो भावशून्य होनेसे कुछ फलदायक नही; क्योंकि कोई भी क्रिया बिना भावोंके फलदायक नही होती ('यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भाव शून्याः')। अतएव उपवासके इच्छुकोंको चाहिए कि वे उपवासके आशय और महत्वको अच्छी तरहसे समझले, वर्तमान विरुद्धाचरणोंको त्याग करके श्रीआचार्योकी आज्ञानुकूल प्रवर्तें और कमसे कम प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशीको (जो पर्वके दिन है) अवश्य ही विधिपूर्वक तथा भावसहित उपवास किया करें। साथ ही इस बातचो अपने हृदयमें जमा लेवें कि उपवासके दिन अथवा उपवासकी अवधि तक व्रतीको कोई भी गृहस्थीका धंधा वा शरीरका शृंगारादि नही करना चाहिए। उस दिन समस्त गृहस्थारंभको त्याग करके पंच पापोंसे विरक्त होकर अपने शरीरादिकसे ममत्व-परिणाम तथा रागभावको घटाकर और अपने पाचों इन्द्रियोंके विषयो तथा क्रोध, मान, मायादि कषायोंको वशमें करके एकान्त स्थान अथवा श्रीजिनमन्दिर आदिमें बैठकर शास्त्रस्वाध्याय, शास्त्रश्रवण, सामायिक, पूजन-भजन आदि धर्मकार्योंमे कालको व्यतीत करना चाहिए। निद्रा कम लेनी चाहिए, आर्त-रौद्रपरिणामोंको अपने पास नही आने देना चाहिए, हर समय प्रसन्न-वदन रहना चाहिए और इस बातको याद रखना चाहिए कि शास्त्र-स्वाध्यायादि जो कुछ भी धर्मके कार्य

किये जावें वे सब रुचिपूर्वक और भावसहित होने चाहियें। कोई भी धर्मकार्य बेदिली, जाब्तापूरी या अनादरके साथ नही करना चाहिये और न इस बातका खयाल तक ही आना चाहिए कि किसी प्रकारसे यह दिन शीघ्र ही पूरा हो जावे; क्योंकि बिना भावोंके सर्व धर्म-कार्य निरर्थक है। जैसा कि आचार्योंने कहा है :—

> भावहीनस्य पूजादि-तपोदान-जपादिकम्।
> व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकंठे स्तनाविव॥

'जो मनुष्य बिना भावके पूजादिक, तप, दान और जपादिक करता है अथवा दीक्षादि ग्रहण करता है उसके वे सब कार्य बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनोंके समान निरर्थक हैं।'

अर्थात्—जिस प्रकार बकरीके गलेके स्तन निरर्थक है, उनसे दूध नही निकलता; वे केवल देखने मात्रके स्तन हैं, उस ही प्रकार बिना तदनुकूल भाव और परिणामके पूजन, तप, दान उपवासादि समस्त धार्मिक कार्य केवल दिखावामात्र हैं—उनसे कुछ भी धर्म-फलकी सिद्धि अथवा प्राप्ति नही होती।

६

हमारी यह दुर्दशा क्यों ?

एक समय था जब यह भारतवर्ष अपने उत्कर्ष पर था, अन्य देशोंका गुरु बना हुआ था, सब प्रकारसे समृद्ध था और स्वर्गके समान समझा जाता था। यहाँ पर हजारों वर्ष पहलेसे आकाशगामिनी विद्याके जानकार, दिव्य विमानों-द्वारा आकाशमार्गको अवगाहन करनेवाले, वैक्रियक आदि ऋद्धियोके धारक और अपने आत्मबलसे भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालोंका हाल प्रत्यक्ष जाननेवाले विद्यमान थे। भारतकी कीर्ति-लता दशों दिशाओंमें व्याप्त थी। उसका विज्ञान, कला-कौशल और आत्मज्ञान अन्य समस्त देशोंके लिये अनुकरणीय था। उसमें जिधर देखो उधर प्रायः ऐसे ही मनुष्योंका सद्भाव पाया जाता था जो जन्मसे ही दृढाङ्ग, निरोगी और बलाढ्य थे; स्वभावसे ही जो तेजस्वी, मनस्वी और पराक्रमी थे; रूप और लावण्यमें जो स्वर्गोके देव-देवाङ्गनाओंसे स्पर्धा करते थे; सर्वाङ्ग सुन्दर और सुकुमार शरीर होनेपर भी वीररससे जिनका अङ्ग-अङ्ग फड़कता था; जिनकी वीरता धीरता और दृढ प्रतिज्ञताकी देव भी प्रशंसा किया करते थे; जो कायरता, भीरुता और आलस्यको घृणाकी दृष्टिसे देखा करते थे; आत्मबलसे जिनका चेहरा दमकता था; उत्साह जिनके रोम-रोमसे स्फुरायमान था; चिन्ताओंमें जो अपना आत्म-समर्पण करना नहीं जानते थे; जन्मभरमें शायद कभी जिनको रोगका दर्शन होता हो;

जो सदैव अपने धर्म-कर्ममे तत्पर और पापोंसे भयभीत थे, जिनको पद-पद पर सच्चे साधुओंका सत्सङ्ग और सदुपदेश प्राप्त था, जो तनिकसा निमित्त पाकर एकदम समस्त सांसारिक प्रपंचोंको त्यागकर वनोवासको अपना लेते थे और आत्मध्यानमे ऐसे तल्लीन हो जाते थे कि अनेक उपसर्ग तथा परीषहोंके आने पर भी चलायमान नही होते थे, जो अपने हित-अहितका विचार करनेमें चतुर तथा कला-विज्ञानमें प्रवीण थे और जो एक दूसरेका उपकार करते हुए परस्पर प्रीति-पूर्वक रहा करते थे।

परन्तु खेद ! आज भारत वह भारत नहीं है। आज भारतवर्षका मुख समुज्ज्वल होनेके स्थानमें मलिन तथा नीचा है! आज वही भारत परतन्त्रताकी वेड़ियोंमे जकड़ा हुआ है और दूसरोका मुह ताकता है! आज भारतका वह समस्त विज्ञान और वैभव स्वप्नका साम्राज्य दिखाई पड़ता है! और आज उसी भारतवर्षमे हमारे चारों तरफ प्रायः ऐसे ही मनुष्योंकी सृष्टि नजर आती है जिनके चेहरे पीले पड़ गये हैं, १२-१३ वर्षकी अवस्थासे ही जिनके केश रूपा होने प्रारम्भ हो गये हैं, जिनकी आँखें और गाल बैठ गये हैं; मुंहपर जिनके हवाई उड़ती हैं; होठोंपर हरदम जिनके खुश्की रहती है, थोडासा बोलनेपर मुख और कंठ जिनका सूख जाता है हाथ और पैरोंके तलुओंसे जिनके अग्नि निकलती है; जिनके पैरोमे जान नही और घुटनोमे दम नही, जो लाठीके सहारेसे चलते हैं और ऐनकके सहारेसे देखते हैं; जिनके कभी पेटमे दर्द है तो कभी सिरमें चक्कर, कभी जिनका कान भारी है तो कभी नाक; आलस्य जिनको दवाये रहता है, साहस जिनके पास नही फटकता, वीरता जिनको स्वप्नमे भी दर्शन नही देती, जो स्वयं अपनी छायासे आप डरते हैं, जिनका तेज नष्ट हो गया है, जो इन्द्रियोकी विजय नही जानते; विषय-सेवनके लिये जो अत्यंत आतुर रहते है परन्तु बहुत कुछ स्त्री-प्रसंग करने पर भी संयोग-सुखका वास्तविक आनन्द जिनको प्राप्त

नहीं होता; प्रमेहसे जिनका शरीर जर्जर है; इश्तहारी दवाओंकी परीक्षा करते करते जिनका चित्त घबरा उठा है; हकीमों, वैद्यों और डाक्टरोंकी दवाई खाते खाते जिनका पेट अस्पताल और औषधालय बन गया है, परन्तु फिरभी जिनको चैन नही पड़ता; जिनके विचार शिथिल है; जो अपने आत्माको नही पहचानते और अपना हित नहीं जानते; स्वार्थने जिनको अन्धा बना रक्खा है, परस्परके ईर्षा और द्वेषने जिनको पागल बना दिया है; विज्ञानसे जिनको डर लगता है, पापमयी जिनकी प्रवृत्ति है और चिन्तारूपी ज्वालाओसे जिनका अन्तःकरण दग्ध रहता है !!!

इसीसे आजकल हमारे अधिकाश भारतवासियोके हृदयोमे प्रायः इस प्रकारके प्रश्न उठा करते है और कभी कभी अपने इष्ट मित्रादिकोंसे वे इस प्रकारका रोना भी रोया करते है कि—हमारी शारीरिक अवस्था ठीक क्यों नही ? हमारा दिल, दिमाग तथा जिगर (यकृत-Liver) ठीक काम क्यों नही करता ? हमारे नेत्रोंकी ज्योति कैसे मन्द है ? कानोंसे हमको कम क्यों सुनाई देता है ? तनिकसा परिश्रम करनेपर हमारे सिरमें चक्कर क्यों आने लगता है ? हम क्यों घुटनों पर हाथ धरकर उठते और बैठते है ? थोड़ीसी दूर चलने या जरासी मेहनतका काम करनेपर हम क्यों हाँपने लगते हैं ? हमारा उदर भोजनका पाक ठीक तौरसे क्यों नहीं करता ? क्यों हमेशा क़ब्ज (Constipation) और बदहजमी (अजीर्णता-Dyspepsia) हमको सताती रहती है ? क्यों चूरन व गोली वगैरहका फिकर हरदम हमारे सिर पर सवार रहता है ? हमारा हृदयस्थल व्यर्थकी चिन्ताओं और झूठे संकल्प-विकल्पोंकी रङ्गभूमि क्यों बना रहता है ? क्यो अनेक प्रकारके रोगोने हमारे शरीरमें अड्डा जमा रक्खा है ? हमारा स्वास्थ्य ठीक क्यों नही हो पाता ? किसी कार्यका आरम्भ करते हुए हमें डर क्यो लगता है ? कार्यका आरम्भ कर देने पर भी हम क्यों निष्कारण उसे झटसे छोड़ बैठते है ? हममे हिम्मत, उत्साह और

कार्य-पटुताका संचार क्यों नही होता ? क्यों हमारे हृदयसे धार्मिक विचारोंकी सृष्टि उठती जाती है ? हम विषयोंके दास क्यों बनते जाते है? क्यों हम अपने पूर्वज-ऋषि मुनियोंकी तरह आत्मध्यान करनेमें समर्थ नही होते ? क्यो अपने प्राचीन गौरवको भुलाये जाते हैं ? और क्यों हम स्वार्थत्यागी बनकर परोपकारकी ओर दत्त-चित्त नहीं होते ? इत्यादि।

परन्तु इन सब प्रश्नों अथवा 'हमारी यह दुर्दशा क्यों?' इस केवल एक ही प्रश्नका वास्तविक और संतोषजनक उत्तर जब उनको प्राप्त नही होता अथवा यों कहिये कि जब इन दुर्दशाओंसे छुटकारा पानेका सम्यक् उपाय उन्हें सूझ नही पड़ता तो वे बहुत ही खेदखिन्न होते हैं—कभी कभी वे निराश होकर अपने नि:सार जीवनको धिक्कारते हैं, अपने आपको दोष देने लगते है, और कोई कोई हत-भाग्य तो यहाँ तक हताश हो बैठते है कि उनको मरणके सिवाय और कोई शरण ही नज़र नही आता, और इसलिए वे अपना अपघात तक कर डालते हैं! बहुतसे मनुष्य विपरीत श्रद्धामे पड़कर बारहों महीने दवा खाते खाते अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर देते हैं। उनके मनोरथका पूरा होना तो दूर रहा, उनको प्रकट होने तकका अवसर नहीं मिलता। वे उठ उठकर हृदयके हृदयमे ही विलीन हो जाते हैं। मरते समय उन असिद्ध मनोरथोंकी याद (स्मृति) उन्हे कैसा बेचैन करती होगी और अपने मनुष्य-जन्मके व्यर्थ खोजानेका उनको उस वक्त कितना अफसोस तथा पश्चाताप होता होगा, इसकी कल्पना सहृदय पाठक स्वयं कर सकते है।

ऊपरके इस वर्णन एवं चित्रणपरसे पाठक इतना तो सहजमे ही जान सकते हैं कि हमारे भारतवासी आजकल कैसी कैसी दु:खावस्थाओंसे घिरे हुए हैं—प्रमाद और अज्ञानने उनको कैसा नष्ट किया है। वास्तवमे यदि विचार किया जाय तो इन समस्त दु:खो और दुर्दशाओंका कारण शारीरिक निर्वलता है। निर्वल शरीरपर सहजमे ही

रोगोंका आक्रमण हो जाता है, निर्बलता समस्त रोगोंकी जड़ मानी गई है—'एक कमजोरी हजार बीमारी' की कहावत प्रसिद्ध है। जब हमारा शरीर कमजोर है तो हमारे विचार कदापि दृढ नही हो सकते; जब हमारे विचार दृढ नही होंगे तो हम कोई भी काम पूर्ण सफलता के साथ सम्पादन नहीं करसकेंगे,हमारा चित्त हरवक्त डावाँडोल रहेगा तथा व्यर्थकी चिन्ताओंका नाट्यघर बना रहेगा और इन व्यर्थकी चिन्ताओंका नतीजा यह होगा कि हमारा कमजोर दिमाग और भी कमजोर होकर हमारी विचारशक्ति नष्ट हो जावेगी और तब हम हित-अहितका सम्यग्विचार करनेकी योग्यताके न रहनेसे यद्वा तद्वा प्रवृत्ति कर अपना सर्वनाश कर डालेंगे।

यही कारण है कि प्राचीन ऋषियोने शारीरिक बलको बहुत मुख्य माना है। उन्होने लिखा है कि जिस ध्यानसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है वह उत्तम ध्यान उसी मनुष्यके हो सकता है जिसका संहनन उत्तम हो—अर्थात् जिसका शरीर खास तौरसे (निर्दिष्ट प्रकारसे) मजबूत और बज्रका बना हुआ हो। इसी लिये उन्होने इस शारीरिक बलकी रक्षाके लिये मुख्यतासे ब्रह्मचर्यका उपदेश दिया है और सबसे पहला—अर्थात् गृहस्थाश्रमसे भी पूर्वका—आश्रम 'ब्रह्मचर्याश्रम' कायम किया है। साथही वैद्यक शास्त्रके नियमोंको पालन करनेका आदेश भी दिया है, और इन नियमोंको इतना उपयोगी तथा जरूरी समझा है कि उनको धार्मिक नियमोमें गर्भित कर दिया है, जिससे मनुष्य-उन्हें धर्म और पुण्यका काम समझकर ही पालन करे। वास्तवमें महर्षियोंका यह काम बड़ी ही दूरदर्शिता और बुद्धिमत्तासे सम्बन्ध रखता है। वे अच्छी तरहसे जानते थे कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' 'धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां शरीरं साधनं मतम्'—अर्थात् धर्म-साधनका ही नही किन्तु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ऐसे चारो ही पुरुषार्थोके साधनका सबसे प्रथम और मुख्य कारण शरीर है। शरीरके स्वस्थ और बलाढ्य हुए बिना किसी भी पुरुषार्थका साधन

नही बन सकता और पुरुषार्थका साधन किये बिना मनुष्यका जन्म बकरीके गलेमे लटकते हुए स्तनो (थनों)के समान निरर्थक है। ऐसी स्थितिमे जो मनुष्य अपने शरीरकी रक्षाके लिये उक्त नियमोंका पालन करता है वह वास्तवमे धर्मका कार्य करता है और उससे अवश्य उसको पुण्य-फलकी प्राप्ति होती है। हम लोगोने ऋषियोके वाक्योका महत्व नही समझा और न यह जाना कि शरीरका बली-निर्बली तथा स्वस्थ-अस्वस्थ होना प्राय सब आहार-विहार पर निर्भर है और आहार-विहार-सम्बन्धी जितनी चर्या है वह सब प्राय वैद्यकशास्त्रके आधीन है। इसीलिये हम अपने आपको सबसे पहले ब्रह्मचर्याश्रम-में नही रखते है—एक खास अवस्था तक ब्रह्मचर्यका पालन नही करते है—बल्कि उसका निर्मूल करनेके लिये यहाँ तक उद्यत रहते है कि छोटीसी अवस्थामें ही बच्चोका विवाह कर देते है। यही कारण है कि हम योग्य आहार-विहार करना नही जानते, और यदि जानते भी है तो प्रमाद या लापर्वाहीसे उसके अनुसार प्रवर्तन नही करते।

उदाहरणके तौर पर, बहुतसे मनुष्य इस बातको तो जानते है कि यदि हम कोई हाडी चूल्हे पर चढ़ावे और उसमे थोड़ेसे चावल पकनेके लिये डाल देवे, और फिर थोड़ीसी देरके बाद उसमे और कच्चे चावल डाल देवे, उससे पीछे गेहूँ डाल देवे, उससे कुछ काल पश्चात् कच्चे चने डाल देवे, और उस सेभी कुछ समय बाद फिर कच्चे चावल या और कोई वस्तु डाल देवे और उनमेसे किसीका भी पाक पूरा होनेका अवसर न आने देकर दूसरी दूसरी वस्तु उसमे डालते रहे तो कदापि उस हाडीका पाक ठीक तथा कार्यकारी न होगा। परन्तु यह जानते हुए भी खाने-पीनेके अवसरो पर कुछ ध्यान नही रखते—जो वस्तु जिस समय मिल जाती है उसको उसी समय चट कर जाते है—इस बातका कुछ विचार नही करते कि पहलेका खाया हुआ भोजन हजम होचुका है या कि नही? परिणाम जिसका

यह होता है कि खाया-पीया कुछ भी शरीरको नहीं लगता और अनेक प्रकारके अजीर्णादि रोग उत्पन्न हो जाते है, जो कभी कभी बड़ी भयंकरता धारण कर लेते है और प्राण ही लेकर छोड़ते हैं। अंग्रेज लोग प्राय: नियमपूर्वक ठीक और नियत समयपर भोजन करते है, अपने डाक्टरोंकी आज्ञाको बड़े आदरके साथ शिरोधार्य करते है और बड़े यत्नके साथ स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोंका पालन करते है; यही वजह है कि उनको रोग बहुत कम सताते है और वे प्राय: हृष्ट पुष्ट तथा बलिष्ठ बने रहते है। हम लोगोंने वैद्यकशास्त्रमें निष्णात वाग्भट्ट जैसे वैद्यराजोके वाक्योंकी अवज्ञा की--न उनको पढा और न तदनुसार आचरण किया—और स्वास्थ्यरक्षाके नियमोंसे उपेक्षा धारण की। उसीका यह फल हुआ कि भारतवर्षमें निर्बलताने अपना अड्डा जमा लिया और हम दिन पर दिन निर्बल तथा निस्तेज होकर प्राय: किसी भी कार्य करनेके योग्य न रहे।

हमारी इस निर्बलताके सक्षेपसे चार कारण कहे जा सकते हैं:-पहला पैतृक निर्बलता अर्थात् माता और पिताके शरीरका निर्बल होना, दूसरा स्वास्थ्यरक्षाके नियमोसे उपेक्षा धारण करना, तीसरा बाल्यावस्थामें अनेक खोटे मार्गोंसे कच्चे वीर्यका स्खलित होना, और चौथा अच्छी खुराक (Food भोज्य) का न मिलना। इन कारणोंमें यद्यपि पहला कारण, जिसकी उत्पत्ति भी अन्य तीन कारणोंसे ही है, हमारे आधीन नही है—अर्थात् माता-पिताकी शारीरिक निर्बलतामें उनकी भावी सन्तान कुछ भी फेर-फार नही कर सकती, उनके शरीर मे उसका असर अवश्य आता है, परन्तु इससे हमारी प्राय: कुछ हानि नही हो सकती यदि हम अन्य तीन कारणोंको अपने पास फटकने न देवे और विधिपूर्वक अच्छे पौष्टिक पदार्थोंका बराबर सेवन करते रहें। ऐसा करनेसे हमारी जन्मसे प्राप्त हुई सब निर्बलता नष्ट हो जावेगी, और हम आगामीके लिये अपनी सन्तानको इस प्रथम कारण-जनित व्यर्थकी पीड़ासे सुरक्षित रखनेमे समर्थ हो सकेंगे।

दूसरे कारणकी बावत ऊपर संकेत रूपमें बहुत कुछ कहा जा चुका है और यह विषय ऐसा है कि जिस पर बहुत कुछ लिखा जासकता है। परंतु यहाँपर संक्षेपमें मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि स्वास्थ्य-रक्षाके नियम हम लोगोंको दृढताके साथ पालन करने चाहिये और सर्व-साधारणको उन नियमोका ज्ञान कराने तथा उन नियमोका पालन करनेकी प्रेरणा करनेके लिये वैद्यकशास्त्रोको मथनकर आहार-विहार-सम्बन्धी अत्यत सरल पुस्तके तय्यार कराकर सर्वसाधारणमे नि:स्वार्थ भावसे उनका प्रचार करना चाहिए। यदि वाग्भट्टजीके निम्न श्लोक-की छोटी बडी टीकाएँ कराकर अथवा अन्य आहार-विहार तथा पूर्ण दिनचर्या-सम्बन्धी पुस्तकें तय्यार कराकर स्कूलोमे भरती कराई जावे तो उनसे बहुत बडा उपकार हो सकता है। वह श्लोक यह है—

कालाऽर्थ-कर्मणां योगा हीन-मिथ्या-ऽतिमात्रिका:।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोग्याऽऽरोग्यैक-कारणम् ॥

इसका सामान्य अर्थ इतना ही है कि—'कालका हीनयोग, मिथ्यायोग तथा अतियोग, अर्थ (पदार्थ) का हीनयोग, मिथ्या-योग तथा अतियोग, कर्म (क्रियादि) का हीनयोग, मिथ्यायोग तथा अतियोग, ये सब रोगोके प्रधान कारण है, और इन काल, अर्थ तथा कर्मका सम्यक्योग आरोग्यका प्रधान कारण है।' परन्तु काल, अर्थ और कर्मका वह हीनयोग, मिथ्यायोग, अतियोग और सम्यक्योग क्या है, उसे टीकाओ द्वारा सप्रमाण स्पष्ट करके बतलानेकी जरू-रत है, जिससे तद्विषयक ज्ञान विकासको प्राप्त होवे और जनताको संयोग-विरुद्धादिके रूपमे अपनी मिथ्याचर्याका भान हो सके।

तीसरा कारण यद्यपि दूसरे कारणकी ही एक शाखा है और उसीकी व्याख्यामे आता है, फिर भी उसपर खासतौरसे दृष्टि रखने-की जरूरत है। बहुतसे बालक अपनी अज्ञानतासे बचपनकी अत्यत निन्दनीय खोटी प्रवृत्तियो (Self destroying habits) मे फँसकर हमेशाके लिये अपना सर्वनाश कर डालते हैं और फिर सार

उम्र हाथ मल मलकर पछताते है,इसलिये माता-पिताकी इस विषय-में बालकों पर कडी दृष्टि रहनी चाहिये और उनको किसी न किसी प्रकारसे ऐसी शिक्षा देनेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे बालक इस प्रकारकी खोटी प्रवृत्तियोंमें पड़ने न पावे। अधिकाँश माता-पिता इस ओर बिल्कुल भी ध्यान नही देते और उनकी यह उपेक्षा विचारे हिताऽहित-ज्ञान-शून्य बालकोंके लिये विषका काम देती है, जिसका पाप-भार माता पिताओंकी गर्दन पर होता है। अतः माता-पिताओं-को इस विषयमें बहुत सावधान रहना चाहिये और छोटी अवस्थामें तो बच्चोंका विवाह भूल कर भी नही करना चाहिये; बल्कि उनको कमसे कम २० वर्षकी अवस्था तक ब्रह्मचर्याश्रममे रखना चाहिये, और यही काल उनके विद्याध्ययनका होना चाहिये। इसके पश्चात् यह उनकी इच्छा रही कि वे चाहे और विद्याध्ययन करे या विवाह कराकर गृहस्थाश्रम स्वीकार करे।

चौथा कारण सबमें प्रधान है, अच्छी खुराकका न मिलना निर्ब-लताको उत्तरोत्तर वृद्धिगत करनेवाला है। जब अच्छी खुराक अथवा उत्तम भोज्य पदार्थोकी प्राप्ति ही नही होगी तो केवल स्वास्थ्य-रक्षा-के नियमोंके जाननेसे ही क्या लाभ हो सकता है ? वैद्यक-शास्त्र हमें किसी वस्तुकी उपयोगिता-अनुपयोगिताको बतलाता है, परंतु किसी उपयोगी पदार्थकी प्राप्ति करा देना उसका काम नही। यह हमारा काम है कि हम उसका प्रबन्ध करें। इसलिये स्वास्थ्यरक्षाके नियम भी उस वक्त तक पूरी तौरसे नहीं पल सकते जब तक कि हमारे लिए अच्छी खुराक मिलने का प्रबन्ध न होवे। वास्तवमें यदि विचार किया जाय तो मनुष्यके शरीरका सारा खेल उसके भोजन पर निर्भर है। अच्छे और श्रेष्ठ भोजनसे मनुष्यका शरीर सुन्दर, निरोगी एवं बलाढ्य बनता है और मनुष्यके हृदयमें उत्तम विचारोंकी सृष्टि होती है। विपरीत इसके, बुरे अथवा निकृष्ट भोजनसे मनुष्यका शरीर

रोगाक्रान्त एवं निर्बल तैयार होता है और उसमे प्रायः छोटे तथा हीन विचार ही उत्पन्न होते है। अच्छी खुराक वह वस्तु है कि जिसके प्रभावसे अन्य कारणोसे उत्पन्न हुई निर्बलताका भी सहज ही में सशोधन हो जाता है। इसीके प्रभावसे रोगोके आराम होनेमे भी वहुत कुछ सहायता मिलती है।

हम लोग कुछ तो जन्मसे ही निर्बल पैदा हुए, कुछ वचपनकी गलतकारियो—अयोग्य प्रवृत्तियों—एव स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोको न पालन करनेने हमको निर्वल वनाया, और जो कुछ रहा सहा बल था भी, वह अच्छी खुराकके न मिलनेसे समाप्तिको पहुँच गया। हम लोगोकी सबसे अच्छी खुराक थी घी और दूध, वही हमको प्राप्त नही होती। इधर हम लोगोने गोरस-प्राप्ति और उसके सेवनकी विद्याको भुला दिया, उधर धर्म-कर्म-विहीन अथवा मानवतासे रिक्त निर्दय मनुष्योने घी-दूधकी मैशीन-स्वरूप प्यारी गौओका वध करना आरम्भ कर दिया और प्रतिदिन अधिकसे अधिक सख्यामे गोवशका विनाश होता रहनेसे घी-दूध इतना अकरा (महँगा) हो गया कि सर्व-साधारणके लिये उसकी प्राप्ति दुर्लभ हो गई। जो घी आजसे कोई १०० वर्ष पहले रुपयेका धड़ी (५ सेर पक्का) और ७५ वर्ष पहले तीन सेरसे अधिक आता था वही घी आज रुपयेका ३ या ४-छटाक आता है और फिर भी अच्छा शुद्ध नही मिलता *। इसी प्रकार जो दूध पहले पैसे या डेढ पैसे सेर आया करता था वही दूध

* मेरे विद्यार्थी जीवन (सन् १८९६ आदि) मे, सहारनपुर वोर्डिङ्ग-हाउसमे रहते हुए, मुझे केवल दो रुपये मासिकका घी भेजा जाता था और वह वजनमे प्राय. साडे तीन सेर पक्का होता था। साथ ही इतना शुद्ध, साफ़ और सुगन्धित होता था कि उस जैसे घीका आज वाजारमे दर्शन भी दुर्लभ हो गया है। यह भारतकी दशाका कितना उलट-फेर है !!

आज आठ आने, बारह आने अथवा रुपये सेर तक मिलता है और फिर भी उसके खालिस होनेकी कोई गारण्टी नहीं ! ऐसी हालतमें पाठकजन स्वयं विचार सकते है कि कैसे कोई घी-दूध खा सकता है और कैसे हम लोग पनप सकते है ? भारतवर्षमें आजकल शायद सैकड़े पीछे दो या तीन मनुष्य ही ऐसे निकलेंगे जिनको घीसे चुपड़ी रोटी नसीब होती है, शेष मनुष्योंको घी-दूधका दर्शन भी नहीं मिलता और अच्छी तरहसे घी दूधका खाना तो अच्छे अच्छोंको भी नसीब नही होता ! फिर कहिये यदि भारतमें निर्बलता अपना डेरा अथवा अड्डा न जमावे तो और क्या करे ?

यहाँपर एक बात और भी उल्लेखनीय है और वह यह कि इस महँगीके कारण बहुतसे स्वार्थी-अविवेकी मनुष्य घीमें चर्बी तथा कोकोजम आदि दूसरी वस्तुएँ मिलाने लगे है और दूधमें पानी मिला कर अथवा दूधसे मक्खन निकालकर और कोई प्रकारकी पाउडर उसमें शामिल करके उसे असली दूधके रूपमें बेचने लगे है, जिससे हमारा धर्म-कर्म और आचार-विचार नष्ट होनेके साथ साथ हमारे शरीरमें अनेक प्रकारके नये रोगोने अपना घर बना लिया है। ऐसे घृणित घी-दूधको खानेवाले शायद यह समझते होंगे कि हम घी-दूध खाते है और शायद उनको कभी कभी यह चिंता भी होती हो कि घी-दूध खानेपर भी हम हृष्ट-पुष्ट तथा निरोगी क्यों नही रहते ? परन्तु यह सब उनकी बड़ी भूल है। उनको समझना चाहिये कि वे वास्तव में घी-दूध नही खाते बल्कि एक प्रकारकी विषैली वस्तु खाते है जो उनके स्वास्थ्यको बिगाड़कर शरीरमे अनेक प्रकारके रोगोंको उत्पन्न करनेवाली है । एक बार कलकत्तेके किसी व्यापारीका बहीखाता पकड़ा गया था और उससे मालूम हुआ था कि उसने ५००) रु० के साँप चर्बीके लिये खरीद किये थे और उनकी चर्बी घीमें मिलाई गई थी !!

हा ! हम लोगोंके यह कितने दुर्भाग्यकी बात है कि जिस चर्बीके नामसे ही हमको घृणा आती थी, जिस चर्बीके दर्शनमात्रसे क़ै (वमन) हो जाती थी और जिस चर्बीके स्पर्शनमात्रसे स्नान करनेकी ज़रूरत होती थी वही चर्बी घीमे मिलकर हमारे पेटमे पहुँच रही है और पूजन-हवनके लिये पवित्र देवालयोंमें जा रही है !! इतने पर भी हम लोग हिन्दू तथा जैनी कहलानेका दम भरते हैं, हमको कुछ भी लज्जा अथवा शरम नही आती और न हम इसका कोई सक्रिय प्रतीकार ही करते हैं !! जान पड़ता है हमने कभी इस बात पर गम्भीरताके साथ विचार ही नही किया कि पहले इतना सस्ता और अच्छा घी-दूध क्यो मिलता था ? यदि हम विचार करते तो हमे यह मालूम हुए विना न रहता कि पहले प्रायः सभी गृहस्थी लोग दो-दो चार-चार गौएँ रखते थे, बडे प्रेमके साथ उनका पालन करते थे, गौ-माताओंको अपना जीवनाधार समझते थे और दूध न देने या रोगी होजाने आदि किसी कारणपर उनको कभी अपनेसे अलग नहीं करते थे, और यदि अलग करनेकी जरूरत ही आ पड़ती थी तो किसी ऐसे भद्र मनुष्यको समर्पण करते थे जो अपनेसे भी अधिक प्रेमके साथ उनको रखने और उनकी प्रतिपालना करनेवाला हो। परिणाम इसका यह होता था कि गौएँ कसाइयोंके हाथमें नही जाती थी, घर घरमे घी-दूधकी नदियाँ वहती थी और सव लोग आनन्दके साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे तथा हृष्ट पुष्ट बने रहते थे। परंतु आजकल हम लोग ऐसे प्रमादी अथवा जैन्टिलमैन हो गये है कि हमने गौओंका पालन करना विल्कुल छोड़ दिया, हमें प्राणोकी आधारभूत गौओंका रखना ही भार मालूम होता है और हम यह कहकर ही अपना जी ठंडा कर लेते हैं कि "गाय न वच्छी नींद आवे अच्छी !" इसीका यह फल है कि प्रतिदिन हजारों गौओंके गलेपर छुरी फिरती है, घी-दूध हदसे ज्यादह महँगा हो गया और हम लोग शरीरसे कमज़ोर, कमहिम्मत तथा अनेक प्रकारके रोगोंके

शिकार बने रहते हैं !! ऐसी अवस्थामें हमलोग कैसे अपनी उन्नति या अपने समाज और देशका सुधार कर सकते है ? कदापि नही ।

अतः हम भारतवासियोंको बहुत शीघ्र इस ओर ध्यान देकर ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये कि जिससे बहुलताके साथ उत्तम घी-दूधकी प्राप्ति होती रहे, और उसके लिये सबसे अच्छा उपाय यही है कि सब लोग पहलेकी तरह अपने घरों पर दो-दो चार-चार गौऐ तथा भैसे रक्खा करे और कदापि उनको किसी ऐसे अविश्वसनीय मनुष्यके हाथ न बेचे जिससे उनके मारे जानेकी सम्भावना होवे । साथ ही, उनके लिये अच्छी चरागाहो का प्रबन्ध करे और गोचर भूमि छोड़ना हर एक अपना कर्तव्य समझे,जिससे चारे घासका कोई कष्ट न रहे और वे प्राय जंगलसे ही अपना पेट भरकर घर आया करे। इसके अलावा स्थान स्थान पर ऐसे सुव्यवस्थित और विश्वस्त डेयरी फार्मोका भी प्रबन्ध होना चाहिये. जिससे साधन-विहीनोंको समय पर उचित दामोमें यथेष्टरूपसे शुद्ध घी-दूध मिल जाया करे। यदि हमने शीघ्र ही इस ओर ध्यान न देकर कुछ भी प्रबन्ध न किया और कुछ दिनो और यही हालत चलती रही तो याद रहे कुछ ही वर्षोमे वह समय भी निकट आजायगा जब दवाईके लिये भी खालिस (शुद्ध) घी-दूध का मिलना दुर्लभ होजायगा और हम लोगो की और भी वह दुर्दशा होगी कि जिससे हमारी तरफ कोई आख उठाकर देखना भी पसन्द नही करेगा—हम सब प्रकारसे हीन तथा नगण्य समझे जावेगे। यदि हम भारतवासी सचमुच ही इन (उपर्युक्त) समस्त दुःखों और दुर्दशाओसे छुटकारा चाहते है और हममें अपने हित-अहितका कुछ भी विचार अवशेष है तो हमें उक्त चारों प्रकारकी निर्बलताको दूर करनेका शीघ्रसे शीघ्र प्रयत्न करना चाहिये । ज्योंही हम इस निर्बलताको दूर करनेमें सफल होगे त्योही हमे फिरसे इस भारतवर्षमें भीम,अर्जुन,महावीर,बुद्ध,राम, कृष्णादि

जैसे वीर पुरुषोंके दर्शन होने लगेंगे और हम सब प्रकारसे अपने मनोरथोको सिद्ध करनेमे समर्थ हो सकेंगे*।

---

* यह निबन्ध आजसे कोई ५२ वर्ष पहले लिखा गया था और देवबन्द जिला सहारनपुरसे प्रकट होने वाले 'कामधेनु' नामक साप्ताहिक पत्रके ३० सितम्बर सन् १९१० के अकमे प्रकाशित हुआ था। उस समय घीका भाव रुपयेका प्राय: १० छटाक और दूधका तीन आने सेर-का था। बादको सन् १९४६ मे इसे कुछ आवश्यक परिवर्तनो तथा परिवर्धनोके साथ 'अनेकान्त' की मार्चकी किरणमें प्रकाशित किया गया था। उस समय घी-दूधका ही रोना न था, किन्तु देशमे अन्न तथा दूसरे खाद्य पदार्थोंका भी सकट उपस्थित था। 'अनेकान्त' की उक्त किरणसे ही यह यहाँ उद्धृत किया गया है। आजकी स्थिति और भी ज्यादा खराब है। महँगाई उत्तरोत्तर बढ रही है, गौए तथा अन्य दुधारू पशु पहले से अधिक सख्या मे कट रहे है जिससे शुद्ध घी-दूध का अभाव होता जा रहा है। ऐसी स्थितिमे हमे बहुत ही सतर्क तथा सावधान होना चाहिये और स्वावलम्बनको अपनाकर सामूहिक प्रयत्नद्वारा उस दोष-पूर्ण परिस्थितिको ही बदल देना चाहिये जिसने हमारी यह सब दुर्दशा कर रक्खी है और करने को तत्पर है।

७

जैनियोंमें दयाका अभाव

इस निबन्धका शीर्षक देखते ही पाठक चौकेंगे और कहेंगे कि यह क्या मामला है ? परन्तु नही, चौकनेकी बात नही है । यदि आप धैर्य और शान्तिके साथ विचार करेंगे, तो आपको स्वय ही उक्त शीर्षककी सत्यता सहजमें मालूम हो जायगी ।

इसमे कोई सन्देह नही, और न इसमें किसी को कुछ आपत्ति हो सकती है कि जैनधर्म ही दया धर्मका सर्वोत्तम रीतिसे प्रतिपादन करनेवाला है । इसी धर्ममे जीवोंकी जातियाँ, जीवोंके भेद-प्रभेद और उनके उत्पत्ति-स्थान आदि बहुत विस्तारके साथ वर्णन किये गये है, जिनके जाने बिना वास्तवमे दया धर्मका पालन नही हो सकता । जैनियोके इस सर्वश्रेष्ठ अहिसा धर्मकी बहुतसे भिन्न धर्मावलम्बी निष्पक्ष विद्वानोने मुक्तकठसे प्रशसा की है और इस धर्मका बहुत कुछ आभार और उपकार मानते हुए इस बातको स्वीकार किया है कि, जिस समय इस भारत भूमि पर वैदिक धर्मका अधिक प्रचार था उस समय यहाँ पर घोर रूपसे पशुवध होता था—बेचारे मूक पशु मास-लोलुपी वा अंधश्रद्धालु मनुष्योके द्वारा धर्मके व्याजसे यज्ञोंमे होमे जाते थे, घर-घरमें रुधिर और माँसकी कीचड़ मचती थी, लोग इतने निर्दय, स्वार्थपरायण और विवेकशून्य हो गये थे कि मनुष्यों तकको यज्ञमें हवन करते हुए उनका हृदय नही

काँपता था। यह जैनधर्मके प्रचारका ही माहात्म्य है कि अब भारत-का कोई भी धर्म उक्त घोर पापोको करनेका अनुमोदन नही करता है। वैदिक धर्मके शास्त्रोमे भी अहिंसा वा दया धर्मका उपदेश प्रक्षिप्त हो गया है और इस तरह जैनधर्मके प्रभावसे अहिंसा भारतकी सर्व-प्रिय वस्तु बन गई है।

सुप्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान् प० बालगगाधर तिलकने बडोदा जैन कान्फ्रेन्समें ३० नवम्बर सन् १६०४ को एक सारगर्भित व्याख्यान दिया था। उसमें उन्होने कहा था—

"जैनियोके 'अहिंसा परमो धर्म.' इस उदार सिद्धान्तने ब्राह्मण धर्म पर चिर स्मरणीय छाप (मुहर) मारी है। यज्ञ यागादिकोमें पशुओका वध होकर जो यज्ञार्थ पशु-हिंसा की जाती थी वह आजकल नही होती है, यही एक बडी भारी छाप जैनधर्मने ब्राह्मण धर्म पर मारी है। पूर्वकालमे यज्ञके लिये असख्य पशुओकी हिसा की जाती थी। इसके प्रमाण कालिदासके मेघदूत काव्यसे * तथा और भी अनेक ग्रन्थोसे मिलते है। रन्तिदेव नामके राजाने जो यज्ञ किया था, उसमे इतना प्रचुर पशुवध हुआ था कि नदीका जल खूनसे लाल हो गया था। उसी समयसे उस नदीका नाम चर्मण्वती (चम्बल) प्रसिद्ध है। पशुवधसे स्वर्ग मिलता है, इस विश्वासके विपयमें उक्त कथा साक्षी है। इस घोर हिंसाकी ब्राह्मणधर्मसे विदाई हो जानेका श्रेय जैनधर्म-के हिस्सेमे है। ब्राह्मण और हिन्दूधर्मसे मास-भक्षण और मदिरापान बन्द हो गया, ... यह भी जैनधर्मका प्रभाव है। अहिंसाकी ओर

---

* मेघदूतके 'आराध्यैन शरवणभव' आदि ४७वें श्लोककी मल्लिनाथी टीकामे इस बातका खुलासा यो किया गया है:—

पुरा किल राज्ञो रन्तिदेवस्य (दशपुरपतेर्महाराज्यस्य) गवालम्भेष्वेकत्र संभूताद्रक्तनिष्पन्दाच्चर्मराशे: काचिन्नदी सस्यन्दे। सा चर्मण्वतीत्याख्यायते इति।

दयाकी विशेष प्रीतिसे लोगोंके हृदय हिंसाके दुष्कर्मोंसे दुखने लगे और उन्होंने आवेशवश स्पष्ट कह दिया कि, जिस वेदमें हिंसाकी आज्ञा है वह वेद हमको मान्य नही, जो देव हिंसासे प्रसन्न होते है उनकी हमको आवश्यकता नही, और जिन ग्रन्थोंमें हिंसाका विधान हो, वे हमसे दूर रहें। दया और अहिंसाकी ऐसी ही प्रशंसनीय प्रीतिने जैनधर्मको उत्पन्न किया है, स्थिर रक्खा है और इसीसे वह चिर-काल तक स्थिर रहेगा। इस अहिंसाधर्मकी छाप जब ब्राह्मणधर्म-पर पड़ी और हिन्दुओंको अहिंसा पालनकी आवश्यकता हुई तब यज्ञमें पिष्टपशुका (आटेके पशुका) विधान किया गया ❀।...”

श्रीयुत पं० मणीलाल नभू भाई द्विवेदी बी.ए. ने ‘सिद्धान्तसार’ नामक पुस्तकमें लिखा है—

“आश्चर्यकी बात है कि आज जो गौ बहुत पवित्र गिनी जाती है, उसका प्राचीन समयमें यज्ञके लिये मारनेका रिवाज था! ब्राह्मणोंके धर्मको, वेदमार्गको और यज्ञकी हिंसाको खरा धक्का इसी (जैन) धर्मने लगाया है, बुद्धके धर्मको अहिंसाका आग्रह नहीं था। उसने केवल वेदमार्गको ही अस्वीकृत किया था। परन्तु जैन धर्मने महा दयारूप-प्रेमरूप धर्मका प्रचार किया।”

इसी प्रकार विलसन कालेज बम्बईके संस्कृत प्रोफेसर श्रीयुत भड़कमकर महोदयने अपने एक व्याख्यानमें जैनधर्मके विषयमें जो कुछ कहा है उसका सार यह है :—

“यह स्पष्ट है कि वैदिक कालमे यज्ञ-यागादिक कार्य बड़ी क्रूरता से होते थे और यज्ञमे पशुओंका हवन किया जाता था, और यह भी पता लगता है कि उस समय इन क्रूर कर्मोंकी ओरसे लोगों-को विरक्त करनेका भी उद्योग होता था। जिसका फल यह हुआ कि जीवोंके प्रतिनिधि स्वरूप दूसरे पदार्थ हवन करके यज्ञ-क्रिया सम्पादन

❀ जैनमित्र वर्ष ६ अंक ३ से उद्धृत।

करनेकी चर्चा होने लगी और कुछ कालके अनन्तर तो यह जीव-हिंसा एक प्रकारसे वन्द ही हो गई थी। इस श्रेयका अधिकारी जैन-धर्म था। उसके दयामय विचारोका इतना प्रभाव पड़ा था कि उससे वैदिक धर्मको अपना स्वरूप वदलना पड़ा था और उसे अपनेमे जीवदयाको वलात् स्थान देना पड़ा था। अतएव 'जिन' शब्दका जो जयशील वा विजयवान् अर्थ होता है तदनुसार जैनधर्मने लोगोपर प्राचीन कालसे विजय प्राप्त किया है और वह आगे भी करेगा, इसमे सन्देह नही है।"

इन सव कथनोंसे यह नतीजा निकलता है कि जैनधर्म ही अहिंसा और दयाधर्मका आद्यप्रवर्तक और मूलनायक है। अहिंसा और दया-का असली प्राकृतिक स्वरूप सिवाय जैनधर्मके और किसी भी धर्ममे प्राय नही पाया जाता है। वास्तवमें हमारे पूर्वज बड़े ही दयालु थे। उनका हृदय बड़ा ही विस्तीर्ण और उदार था। दूसरोका हित करना ही वे अपना मुख्य कर्तव्य समझते थे। उनकी दयालुता, उन-की उदारता केवल अपने घर, अपने कुटुम्व और अपनी जाति तक ही सकुचित न थी, वल्कि सारे विश्वके नर-नारियो, जैनो-अजैनो और पशु-पक्षियो तक नि स्वार्थ भावसे फैली हुई थी। वे महानुभाव यदि किसी प्राणीको मिथ्यात्वदशा व पाप अथवा दु खावस्थामे देखते थे तो तुरन्त उनका हृदय दयासे भीग जाता था और जिस-तिस प्रकार वे उसका मिथ्यात्व, पाप अथवा दु ख दूर कानेका यत्न करते थे। इसीसे उनको सुख-शान्तिको प्राप्ति होती थी। हजारो मिथ्या-त्वियोका मिथ्यात्व और लाखो पापियोका पाप छुडाकर उनको सच्चे धर्मकी शरणमे लाना तथा सच्चा मार्ग वताना उन्हीका काम था। उन्ही धर्मवीरो और सत्पुरुषोका यह प्रभाव है, जो भिन्न धर्माव-लम्बी (अन्यमती) विद्वान् भी आज जैनियोके दयामय धर्मकी छाप अपने ऊपर स्वीकार करते है।

परन्तु जव हम जैनियोकी वर्तमान दशाको देखते हैं तो हमको

बड़ा दुःख तथा शोक होता है और निःसंकोच-भावसे कहना पड़ता है कि आजकलके जैनियोंमें प्रायः दयाधर्मका अभाव होगया है। जैनी प्राय. इतने हीन, स्वार्थी और संकीर्णहृदय बन गये हैं कि, स्वप्नमें भी कभी दूसरोंका उपकार करनेकी तरंग इनके हृदयमें नही उठती है, जैनियोंके सामने ही कोई किसीको सताओ, किसीका दिल दुखाओ, अन्याय करो, अत्याचार करो और कैसा ही पापका काम क्यों न करो; परन्तु इससे उन्हें क्या ? जैनियोके हृदय पर इससे कुछ भी चोट नही लगती है। लौकिक स्वार्थने इन लोगोंको इतना अंधा बना दिया है कि दूसरोंके दुःखको ये दुःख ही नही समझते है, दुखियोंके दुःखमें अपनी सहानुभूति दर्शाना और समवेदना प्रगट करना तो मानो इनकी प्रकृतिके विरुद्ध ही हो गया है। शायद इस प्रकारकी उदासीनताको ही ये लोग वीतरागता मान बैठे हो और इसी सुगम रीतिसे इन्होने वीतराग पदवीका सर्टिफिकेट मिलना समझ रक्खा हो! अफसोस! और शोक!! जो लोग सबसे ऊँचे चढ़े थे,वे आज ऐसे नीचे आ पड़े! आज जैनियोने अपना कर्तव्य भुलाकर अपने वंश-गौरव को मिटा दिया! जैनियोकी वर्तमान हालतको देख कर कौन कह सकता है कि कभी जैनी भी ऐसे परोपकारी और दयावान् थे कि, जो जीवमात्रका कल्याण करनेके लिये सदैव आकुलित रहते थे और उनके रोम-रोम और नस-नसमें प्रतिक्षण परोपकारमय उत्साह की दामिनि दमकती थी! कौन समझ सकता है कि इनके पूर्वज ऐसे स्वार्थत्यागी, उदारचेता, समदृष्टि और निर्निमित्त बन्धु हो गये है कि जिन्होने भील, चाण्डाल, म्लेच्छ और पापीसे पापी मनुष्य ही को नही, बल्कि सिह, व्याघ्र, शूकर, कूकर गृद्ध आदि पशु पक्षियों तक पर दया करके उनको धर्मकी शिक्षा दी थी और उनको जैनधर्म धारण करा कर कल्याणके मार्ग पर लगाया था।

जैनियोंके अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामीके समवशरणमें

पशु-पक्षी भी धर्मोपदेश सुननेके लिए आते थे। समवशरणकी बारह सभाओमे पशु-पक्षियोंकी भी एक सभा थी, जिनको महावीर जिनेन्द्र धर्मका उपदेश देते थे। जैनियोकी वर्तमान ८४ खापे इस वातको प्रगट कर रही है कि जैन महर्षि कैसे दयालु नि सीम परोपकारी और धर्मप्रचारक थे कि, जिन्होने नीच ऊच किसीभी वर्णके मनुष्य-को जैनी वनानेसे नही छोडा और किसी भी जीवका हित करनेसे मुँह नही मोडा।

जिन परोपकारी महात्मा श्रीअकलंकदेवने मृतमांस-भोजी वौद्ध-समूहको वादमे परास्त कर राजा हिमशीतल-सहित हजारो वौद्धोको जैनी वनाया, उनको आज जैनी अपना पूज्य गुरु मानते है और अपनेको उनका अनुयायी वतलाते है। परन्तु उनको ऐसा मानते और वतलाते हुए कुछ लज्जा नही आती है। क्या जैनियोंकी तरफ-से श्री अकलकदेवके अनुयायीपनका सूचक कोई प्रयत्न जारी है? गुरुकी अनुकूलता-प्रदर्शक कोई काम हो रहा है? और किसी भी मनुष्यको जैनधर्मका श्रद्धानी वनाने या सर्व साधारणमे जैनधर्मका प्रचार करनेकी कोई खास चेष्टा की जाती है? यदि यह सव कुछ भी नही, तो फिर ऐसे अनुयायीपनसे क्या? खाली गाल वजाने, शेखी मारने और अपनेको उच्च धर्मानुयायी प्रगट करनेसे कुछ भी नतीजा नही है। निस्सन्देह 'अकलकस्तोत्र' के "नाहंकारवशीकृतेन मनसा" इत्यादि वाक्य*मे श्री अकलंकदेवकी जिस कारुण्य-वुद्धिका उल्लेख है, उसका आज जैनियोमे अभाव है। जैनी इस वातको

---

* यह पूरा वाक्य इस प्रकार है —

नाऽहंकार-वशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवल
नैरात्म्य प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यवुद्ध्या मया
राज्ञ श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मना।
वौद्धौघान् सकलान्विजित्य स घट पादेन विस्फालितः॥

जानते और मानते हैं कि मिथ्यात्व (अतत्त्वश्रद्धान) के समान और कोई इस जीवात्माका अहित और अनिष्ट करनेवाला विशिष्ट शत्रु नही है । इसी अतत्त्वश्रद्धानके कारण यह जीव ससारमें नाना प्रकार के कष्ट, दु.ख और सन्ताप भोगता हुआ चतुर्गतिमें भ्रमण करता फिरता है । न कही इसको शान्ति मिलती है, न कही सुखकी प्राप्ति होती है । वे प्रत्यक्ष इस बातका अनुभव भी कर रहे है कि इसी मिथ्याश्रद्धानके कारण ससारमें घोर प ापोंकी प्रवृत्ति हो रही है और जगतके जीव अपने पापकर्मोके फलस्वरूप नाना प्रकारकी दुःखावस्थाओंसे घिरे हुए सविलाप कष्ट भोग रहे है। परन्तु फिर भी उन करुणा-पात्रोपर इन जैनियोको तनिकभी करुणा नही आती है। जैनी किसीभी जीवका मिथ्यात्वादि छुड़ाकर उसको सम्यक् श्रद्धानी, सम्यक्ज्ञानी और सम्यगाचरणी बनानेका कुछ भी प्रयत्न नही करते है, इससे अधिक कठोर चित्तवृत्ति और क्या हो सकती है ? अफ़सोस ! जैनी लोग अपने घरोमे चिल्ला चिल्लाकर यह बात कहते है कि जैनधर्म ही जगतके जीवोंका उद्धार करनेवाला है, परन्तु फिर भी वे किसीको जैनधर्मसे अपना उद्धार करनेका अवसर नही देते है। न तो वे दूसरोंको जैनधर्म बतलाते हैं, न सर्वदेशोंकी सर्वभाषाओंमें अनेक रीतियों और युक्तियोंसे अपने धर्म-ग्रन्थोको प्रकाशित करके, सर्व साधारणके लिये जैनधर्मकी शिक्षा प्राप्त करनेका मार्ग सुगम करते है। इससे प्रगट है कि इनके हृदयोंमें दयाका संचार नही है और इसीलिए यह कहना बिल्कुल सत्य है कि आजकल जैनियोमें दयाका प्रायः अभाव है।

शायद हमारे बहुतसे भोले जैनी केवल हरी और कन्दमूलका त्याग करनेसे ही अपनेको दयावान् समझते हों । परन्तु याद रहे उनका यह लोक-प्रचारसे प्रेरित हुआ अक्रम त्याग केवल बाह्याडम्बर और लोकदिखावाके सिवाय और कुछ भी अर्थ नही रखता। भला जिन लोगोंको पंचेन्द्रिय प्राणियों पर दया नहीं आती, पापियोंका

पाप, अज्ञानियोका अज्ञान और मिथ्यात्वियोंका मिथ्यात्व छुड़ानेमे जिनकी प्रवृत्ति नही होती, जो सप्तव्यसन और पंचपापोका त्याग नही करते, जो अपने भाईयोको सताने और दुःख देनेमें आगा-पीछा नही सोचते और जिनके हृदय छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष, अन्याय-द्रोह और वैर-विरोधसे परिपूर्ण है, उनके दिलोमे दृष्टिमें भी न आनेवाले एकेन्द्रिय जीवोकी रक्षाका भाव होना कब कोई अनुमान कर सकता है ? कदापि नही। इसलिए जिन भाईयोंका ऐसा खयाल हो भी, उनको अपना खयाल बदल देना चाहिये और लोक-प्रवाहमे न बह कर बाह्याडम्बर और बनावटको छोड़कर अन्तःशुद्धिकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये और अपने दोषोका सशोधन-पूर्वक सच्ची दयाको हृदयमे स्थान देकर जिनधर्मकी महिमा प्रकट करनी चाहिए। इसीमे जाति और देशका कल्याण हूँ और इसीसे जैनी अपने उस कलकको दूर करनेमे समर्थ हो सकते है जो अपने पूज्य पुरुषोकी पवित्र कीर्ति और नामको वट्टा लगानेसे उनके मस्तकपर चढा है।

आशा है हमारे धर्मोपकारी, धर्मवीर और जैनधर्मके सच्चे प्रेमी अब अपनी गाढ निद्राको त्यागकर अपने कर्तव्यकी ओर झुकेगे, अपने भाइयोकी हालत सुधारेगे, उनका अज्ञान-प्रमाद दूर करेगे, उनके हृदयोमे कारुण्य-जलका स्रोत बहाएँगे, उनसे परोपकार-व्रत धारण कराएँगे और जहाँतक बनेगा पापियों, अज्ञानियों और मिथ्यादृष्टियों पर दया करके उनका पाप, अज्ञान और मिथ्यात्व छुडाएँगे। साथ ही श्री अकलकदेव सरीखी 'कारुण्यबुद्धि' को हृदयमे धारण कर स्वजाति-विजाति, देशी-विदेशी, आर्य-म्लेच्छ और जैनी-अजैनी सब ही प्राणियोको जिनवचनामृतका पान कराकर—जैनधर्मकी शरण मे लाकर—उनका हित-साधन करेगे और इस प्रकार जैनधर्मके लुप्त-प्राय गौरवको पुनः उज्जीवित करनेमे समर्थ होगे।

८

जिन-पूजाधिकार-मीमांसा

उत्थानिका

जो मनुष्य जिस मतको मानता है–जिस धर्मका श्रद्धानी और अनुयायी है—वह उसी मत वा धर्मके पूज्य और उपास्य देवताओंकी पूजा-उपासना करता है। परन्तु आजकलके कुछ जैनियोका खयाल इस सिद्धान्तके विरुद्ध है। उनकी समझमें प्रत्येक जैनधर्मानुयायीको (जैनीको) जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेका अधिकार नही है। उनकी कल्पनाके अनुसार बहुतसे लोग जिनेन्द्रदेवके पूजकोंकी श्रेणीमें अवस्थान नही पाते। चाहे वे लोग अन्यमतके देवी-देवताओंकी पूजा और उपासना भले ही करे, पर जिनेन्द्रदेवकी पूजा और उपासनासे अपनेको कृतार्थ नही कर सकते *। शायद उनका ऐसा श्रद्धान हो कि ऐसे लोगोंके पूजन करनेसे महान् पापका बन्ध होता है और वह पाप शास्त्रोक्त नियमोंका उलंधन करके सक्रामक रोगकी तरह अड़ौसियों-पड़ौसियों, मिलने-जुलनेवालों और खासकर सजातियोंको पिचलता फिरता है। परन्तु यह केवल उनका भ्रम है और आज

* इसी प्रकारक विचारोसे खातौली (जिला मुजफ्फरनगर) के दस्सा और बीसा जैनियोके मुकद्दमेका जन्म हुआ और ऐसे ही प्रौढ विचारोसे सर्धना (जिला मेरठ) के जिनमंदिरोको करीव करीव तीन साल तक ताला लगा रहा !!

इसी भ्रमको दूर करने अर्थात् श्रीजिनेन्द्रदेवके पूजनका किस किसको अधिकार है, इस विषयकी मीमासा और विवेचना करनेके लिये यह निबन्ध लिखा जाता है ।

पूजन-सिद्धान्त

जैनधर्मका यह सिद्धान्त है कि यह आत्मा जो अनादि कर्ममलसे मलिन हो रहा और विभावपरिणतिरूप परिणाम रहा है, वही उन्नति करते करते कर्ममलको दूर करके परमात्मा बन जाता है । आत्मासे भिन्न और पृथक कोई एक ईश्वर या परमात्मा नही है । आत्माकी परमविशुद्ध अवस्थाका नाम ही परमात्मा है—अरहत, जिनेन्द्र, जिन-देव, तीर्थंकर, सिद्ध, सार्व, सर्वज्ञ, वीतराग, परमेष्ठि, परमज्योति, शुद्ध, बुद्ध, निरजन, निर्विकार, आप्त, ईश्वर परब्रह्म, इत्यादि उसी परमात्मा या परमात्मपदके नामान्तर है—या दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि परमात्मा आत्मीय अनन्त गुणोका समुदाय है । उसके अनन्त गुणोकी अपेक्षा अनन्त नाम हैं । वह परमात्मा परम वीतरागी और शान्तस्वरूप है, उसको किसीसे राग या द्वेष नही है, किसीकी स्तुति, भक्ति और पूजासे वह प्रसन्न नही होता और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कटु शब्दोंसे अप्रसन्न होता है, धनिक श्रीमानो, विद्वानो और उच्च श्रेणी या वर्णके मनुष्योको वह प्रेमकी दृष्टिसे नही देखता और न निर्धन-कंगालो, मूर्खों तथा, निम्नश्रेणीके मनुष्योको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करता है, न सम्यग्दृष्टि उसके कृपापात्र हैं और न मिथ्यादृष्टि उसके कोपभाजन, वह परमानंदमय और कृतकृत्य है सांसारिक झगड़ोंसे उसका कोई प्रयोजन नही । इसलिये जैनियोकी उपासना, भक्ति और पूजा हिन्दू मुसलमान और ईसाइयोंकी तरह परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये नही होती । उसका एक दूसरा ही उद्देश्य है जिसके कारण वे ऐसा करना अपना कर्तव्य समझते हैं और वह संक्षिप्तरूपसे इस प्रकार है :—

'यह जीवात्मा स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त-शक्तियोंका आधार है। परन्तु अनादि-कर्ममलसे मलिन होनेके कारण इसकी वे समस्त शक्तियाँ आच्छादित है—कर्मोके पटलसे वेष्टित हैं—और यह आत्मा संसारमें इतना लिप्त और मोह-जालमें इतना फँसा हुआ है कि उन शक्तियों-का विकाश होना तो दूर रहा, उनका स्मरण तक भी इसको नहीं होता। कर्मके किंचित् क्षयोपशमसे जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञानादि-लाभ होता है, यह जीव उतनेमें ही सन्तुष्ट होकर उसीको अपना स्वरूप समझने लगता है। इन्ही संसारी जीवोंमेसे जो जीव, अपनी आत्म-निधिकी सुधि पाकर धातुभेदीके सदृश प्रशस्त ध्यानाऽग्निके बलसे, इस समस्त कर्ममलको दूर कर देता है, उसमें आत्माकी वे सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतोभावसे विकसित हो जाती है और तब वह आत्मा स्वच्छ और निर्मल होकर परमात्मदशाको प्राप्त हो जाता है तथा 'परमात्मा' कहलाता है। केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की प्राप्ति होनेके पश्चात् जबतक देहका सम्बन्ध बाकी रहता है, तब तक उस परमात्माको सकलपरमात्मा (जीवन्मुक्त) या अरहंत कहते है. और जब देहका सम्बन्ध भी छूट जाता है और मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तब वही सकलपरमात्मा निष्कलपरमात्मा (विदेहमुक्त) या सिद्ध नामसे विभूषित होता है। इस प्रकार अवस्थाभेदसे परमात्माके दो भेद कहे जाते है। वह परमात्मा अपनी जीवन्मुक्ता-वस्थामें अपनी दिव्यवाणीके द्वारा संसारी जीवोको उनकी आत्माका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाता है अर्थात् उनकी आत्मनिधि क्या है,कहाँ है, किस किस प्रकारके कर्मपटलोंसे आच्छा-दित है, किस किस उपायसे वे कर्मपटल इस आत्मासे जुदा हो सकते है, संसारके अन्य समस्त पदार्थोंसे इस आत्माका क्या सम्बन्ध है; दु:खका; सुखका और ससारका स्वरूप क्या है, कैसे दु:खकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है, इत्यादि समस्त बातोंका विस्तारके

साथ सम्यक् प्रकार निरूपण करता है, जिससे अनादि अविद्याग्रसित संसारी जीवोको अपने कल्याणका मार्ग सूझता है और अपना हित-साधन करनेमें उनकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार परमात्माके द्वारा जगतका निःसीम उपकार होता है। इसी कारण परमात्माके सार्व, परमहितोपदेशक, परमहितैषी और निर्निमित्तबन्धु इत्यादि भी नाम है। इस महोपकारके बदलेमें हम (संसारी जीव) परमात्माके प्रति जितना आदर-सत्कार प्रदर्शित करे और जो कुछ भी कृतज्ञता प्रगट करे वह सब तुच्छ है। दूसरे जब आत्माकी परम स्वच्छ और निर्मल अवस्थाका नाम ही परमात्मा है और उस अवस्थाको प्राप्त करना अर्थात् परमात्मा बनना सब आत्माओंका अभीष्ट है, तब आत्मस्व-रूपकी या दूसरे शब्दोमें परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना हमारा परम कर्त्तव्य है। परमात्माका ध्यान, परमात्माके अलौकिकचरित्रका विचार और परमात्माकी ध्यानावस्थाका चिन्तवन ही हमको अपनी आत्माकी याद दिलाता है—अपनी भूली हुई निधिकी स्मृति कराता है। परमात्माका भजन और स्तवन ही हमारे लिये अपनी आत्माका अनुभवन है। आत्मो-न्नतिमे अग्रसर होनेके लिये परमात्मा ही हमारा आदर्श है। आत्मीय-गुणोकी प्राप्तिके लिये हम उसी आदर्शको अपने सन्मुख रखकर अपने चरित्रका गठन करते हैं। अपने आदर्श-पुरुषके गुणोमे भक्ति और अनुरागका होना स्वाभाविक और जरूरी है। विना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नही हो सकती। जो जिस गुणका आदर-सत्कार करता है अथवा जिस गुणसे प्रेम रखता है, वह उस गुणके गुणीका भी अवश्य आदरसत्कार करता है और उससे प्रेम रखता है, क्योकि गुणीके आश्रय बिना कही भी गुण नही होता। आदर-सत्काररूप प्रवर्त्तनका नाम ही पूजन है। इसलिये परमात्माक्ष इन्ही

क्ष इन्ही कारणोंसे अन्य वीतरागी साधु और महात्मा भी,

समस्त कारणोंसे हमारा परमपूज्य उपास्य देव है और द्रव्यदृष्टिसे समस्त आत्माओंके परस्पर समान होनेके कारण वह परमात्मा सभी संसारी जीवोंका समान-भावसे पूज्य है। यही कारण है कि परमात्माके 'त्रैलोक्यपूज्य' और 'जगत्पूज्य' इत्यादि नाम भी कहे जाते हैं। परमात्माका पूजन करने, परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढ़ाने और परमात्माका भजन और चिन्तवन करनेसे इस जीवात्मा-को पापोंसे बचनेके साथ साथ महत्पुण्योपार्जन होता है। जो जीव परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना नहीं करता, वह अपने आत्मीय गुणोंसे पराङ्मुख और अपने आत्मलाभसे वंचित रहता है—इतना ही नहीं, किन्तु वह कृतघ्नता×के दोषसे भी दूषित होता‡है।

अतः परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना सबके लिये उपादेय और जरूरी है।

परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्था अर्थात् अर्हन्त-अवस्थामें सदा और सर्वत्र विद्यमान नहीं रहता, इस कारण परमात्माके स्मरणार्थ और परमात्माके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्त्तनके आलम्बनस्वरूप उसकी अर्हन्त अवस्थाकी मूर्ति बनाई जाती है। वह मूर्ति परमात्माके वीतरागता, शान्तता और ध्यानमुद्रा आदि गुणोंका प्रतिबिम्ब होती है। उसमें स्थापनानिक्षेपसे मंत्रोंद्वारा परमात्माकी प्रतिष्ठा की जाती

जिनसे आत्माकी कुछ शक्तियाँ विकसित हुई है और जिन्होने अपने उपदेश, आचरण और शास्त्रनिर्माणसे हमारा उपकार किया है, वे सब हमारे पूज्य है।

×अहसान फ़रामोशी या किये हुए उपकारको भूल जाना कृतघ्नता है।

‡"अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्ति-राप्तात्। इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥" —गोम्मटसार-टीका

है। उसके पूजनेका भी समस्त वही उद्देश्य है, जो ऊपर वर्णन किया गया है, क्योंकि मूर्तिके पूजनसे धातु-पाषाणका पूजना अभिप्रेत (इष्ट) नहीं है, बल्कि मूर्तिके द्वारा परमात्माहीकी पूजा, भक्ति और उपासना की जाती है। इसीलिये इस मूर्तिपूजनके जिनपूजन, देवार्चन, जिनार्चा, देवपूजा इत्यादि नाम कहे जाते हैं और इसीलिये इस पूजनको साक्षात् जिनदेवके पूजनतुल्य वर्णन किया है। यथा :—

भक्त्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्या कृत्रिमाऽकृत्रिमा सदा।
यतस्तद्गुणसंकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिनः ॥

—धर्मसंग्रहश्रावकाचार अ० ९, श्लोक ४२

परमात्माकी इस परमशान्त और वीतरागमूर्तिके पूजनमें एक बड़ी भारी खूबी और महत्वकी बात यह है कि जो संसारी जीव संसारके मायाजाल और गृहस्थीके प्रपंचमें अधिक फँसे हुए हैं, जिनके चित्त अति चंचल हैं और जिनका आत्मा इतना बलाढ्य नहीं है कि जो केवल शास्त्रोंमे परमात्माका वर्णन सुनकर एकदम बिना किसी नकशे के परमात्मस्वरूपका नकशा (चित्र) अपने हृदयमें खींच सके या परमात्मस्वरूपका ध्यान कर सकें, वे भी उस मूर्तिके द्वारा परमात्मस्वरूपका कुछ ध्यान और चिन्तवन करनेमे समर्थ हो जाते है और उसीसे आगामी दु:खो और पापोंकी निवृत्तिपूर्वक अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमे अग्रसर होते हैं।

जब कोई चित्रकार चित्र खींचनेका अभ्यास करता है तब वह सबसे प्रथम सुगम और सादा चित्रोंपरसे, उनको देखदेखकर, अपना चित्र खींचनेका अभ्यास बढाता है, एकदम किसी कठिन, गहन और गम्भीर चित्रको वह नहीं खींच सकता। जब उसका अभ्यास बढ़ जाता है तब कठिन, गहन और रंगीन चित्रोंको भी सुन्दरताके साथ बनाने लगता है और छोटे चित्रको बड़ा और बड़ेको छोटा भी करने लगता है। आगे जब अभ्यास करते करते वह चित्र-विद्यामे पूरी तौरसे निपुण और निष्णात हो जाता है, तब वह चलती-फिरती,

दौड़ती-भागती वस्तुओका भी चित्र बड़ी सफाईके साथ बातकी बातमें खीचकर रख देता है और चित्र-नायकको न देखकर, केवल व्यवस्था और हाल ही मालूम करके उसका साक्षात् जीता-जागता चित्र भी अंकित कर देता है। उसी प्रकार यह संसारी जीव भी एकदम परमात्मस्वरूपका ध्यान नहीं कर सकता अर्थात् परमात्माका फोटू अपने हृदयपर नही खीच सकता, वह परमात्माकी परम वीतराग और शान्त मूर्तिपरसे ही अपने अभ्यासको बढ़ाता है। मूर्तिके निरन्तर दर्शनादि अभ्याससे जब उस मूर्तिकी वीतरागछवि और ध्यान-मुद्रासे वह परिचित हो जाता है, तब शनैः शनैः एकान्तमें बैठकर उस मूर्तिका फोटू अपने हृदयमें खीचने लगता है और फिर कुछ देर तक उसको स्थिर रखनेके लिये भी समर्थ होने लगता है। ऐसा करने पर उसका मनोबल और आत्मबल बढ़ जाता है और वह फिर इस योग्य हो जाता है कि उस मूर्तिके मूर्तिमान् श्रीअरहतदेवका समवसरणादि विभूति-सहित साक्षात् चित्र अपने हृदयमें खीचने लगता है। इस प्रकारके ध्यानका नाम रूपस्थध्यान है और यह ध्यान प्रायः मुनि-अवस्थामें ही होता है।

आत्मीय बलके इतना उन्नत हो-जानेकी अवस्थामें फिर उसको धातु-पाषाणकी मूर्तिके पूजनादिकी या दूसरे शब्दोंमे यों कहिये कि परमात्माके ध्यानादिके लिये मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी जरूरत बाकी नही रहती; बल्कि वह रूपस्थध्यानके अभ्यासमें परिपक्व होकर और अधिक उन्नति करता है और साक्षात् सिद्धोंका चित्र भी खीचने लगता है, जिसको रूपातीतध्यान कहते है। इस प्रकार ध्यानके बलसे वह अपनी आत्मासे कर्ममलको छाटता रहता है और फिर उन्नतिके सोपानपर चढता हुआ शुक्लध्यान लगाकर समस्त कर्मोंकी क्षय कर देता है और इस प्रकार आत्मत्वको प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय इसका यह है कि मूर्तिपूजन आत्मदर्शनका प्रथम सोपान **है** और उसकी आवश्यकता प्रथमावस्था (गृहस्था-

वस्था) में ही होती है। बल्कि दूसरे शब्दोमें यो कहना चाहिये कि जितना जितना कोई नीचे दर्जेमे है, उतना उतना ही जियादा उसको मूर्ति पूजनकी या मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी जरूरत है। यही कारण है कि हमारे आचार्योंने गृहस्थोंके लिये इसकी खास जरूरत रक्खी है और नित्य पूजन करना गृहस्थोंका मुख्य धर्म वर्णन किया है।

सर्वसाधारणाऽधिकार

भगवज्जिनसेनाचार्यने श्रीआदिपुराणमें लिखा है :—

> दानं पूजा च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम् ।
> धर्मश्चतुर्विधः सोऽयमाम्नातो गृहमेधिनाम् ॥ ४१-१०४

अर्थात्—दान, पूजन, व्रतोका पालन (व्रतानुपालनं शीलं) और पर्वके दिन उपवास करना, यह चार प्रकारका गृहस्थोका धर्म है।

अमितगतिश्रावकाचारमे श्रीअमितगति आचार्यने भी ऐसा ही वर्णन किया है। यथा—

> दानं पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः ।
> श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः ॥ ६-१

श्रीपद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपंचविंशतिकामे, श्रावकधर्मका वर्णन करते हुए लिखते हैं—

> देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
> दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥ ६-७

अर्थात्—देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान, ये षट् कर्म गृहस्थोको प्रतिदिन करने योग्य हैं। भावार्थ—धार्मिकदृष्टिसे गृहस्थोंके ये सर्वसाधारण नित्यकर्म हैं।

श्रीसोमदेवसूरि भी यशस्तिलकमें वर्णित उपासकाध्ययनमे इन्ही षट् कर्मोका, प्राय इन्ही (उपर्युल्लिखित) शब्दोमें गृहस्थोको उपदेश देते है :—

देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥ ४६-७

गृहस्थोंके लिये पूजनकी आवश्यकताको प्रगट करते हुए श्री-पद्मनन्दि आचार्य फिर लिखते है—

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ॥ ६-१५

अर्थात्—जो जिनेन्द्रका दर्शन, पूजन और स्तवन नहीं करते है उनका जीवन निष्फल है और उनके गृहस्थाश्रमको धिक्कार है। इसी आवश्यकताको अनुभव करते हुए श्री सकलकीर्ति आचार्य सुभाषितावलीमें यहाँ तक लिखते है:—

पूजां विना न कुर्वेत भोगसौख्यादिकं कदा ।

अर्थात्—गृहस्थोंको बिना पूजनके कदापि भोग और उपभोगादिक नही करना चाहिये। सबसे पहले पूजन करके फिर अन्य कार्य करना चाहिये।

श्रीधर्मसंग्रहश्रावकाचारमें, गृहस्थाश्रमका स्वरूप वर्णन करते हुए, लिखा है:—

इज्या वार्त्ता तपो दानं स्वाध्यायः संयमस्तथा ।
ये षट्कर्माणि कुर्वन्त्यन्वहं ते गृहिणो मताः ॥ ९-२६

अर्थात्—इज्या (पूजन), वार्त्ता (कृषिवाणिज्यादि जीवनोपाय) तप, दान, स्वाध्याय, और संयम, इन छह कर्मोंको जो प्रतिदिन करते है वे गृहस्थ कहलाते है। भावार्थ—धार्मिक और लौकिक, उभयदृष्टिसे ये गृहस्थोंके छह नित्यकर्म हैं। गुरूपास्ति जो ऊपर वर्णन की गई है वह इज्याके अन्तर्गत होनेसे यहाँ पृथक नही कही गई।

भगवज्जिनसेनाचार्य आदिपुराणके पर्व ३८ में निम्नलिखित श्लोकों-द्वारा यह सूचित करते है कि ये इज्या, वार्ता आदि कर्म उपासक सूत्रके अनुसार गृहस्थोंके षट्कर्म है। आर्यषट्कर्मरूप प्रवर्त्तना ही गृहस्थोंकी कुलचर्या है, जिसे कुलधर्म भी कहते है:—

इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः ।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥२४॥
विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मानुप्रवर्त्तनम् ।
गृहिणां कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ॥१४४॥

श्रीचामुण्डरायने चारित्रसारमे और विद्वद्वर पं० आशाधरजीने सागारधर्मामृतमे भी इन्ही षट्कर्मोंका वर्णन किया है । इन षट्-कर्मोमे दान और पूजन, ये दो कर्म सबसे मुख्य है । इस विषयमें पं० आशाधरजी सागारधर्मामृत(१-१५) में लिखते हैं—

दान-यजन-प्रधानो ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात ।

अर्थात्—दान और पूजन, ये दो कर्म जिसके मुख्य है और ज्ञानाऽमृतका पान करनेके लिये जो निरन्तर उत्सुक रहता है वह श्रावक है । भावार्थ—श्रावक वह है जो कृषि-वाणिज्यादिको गौण करके दान और पूजन, इन दो कर्मोको नित्य सम्पादन करता है और शास्त्राध्ययन भी करता है ।

स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य, रयणसार ग्रन्थमें, इससे भी बढ़कर साफ तौरपर यहाँतक लिखते हैं कि विना दान और पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता या दूसरे शब्दोमे यों कहिये कि ऐसा कोई श्रावक ही नही होसकता जिसको दान और पूजन न करना चाहिये ।

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा ।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मो त विणा सोवि ॥ १०॥

अर्थात्—दान देना और पूजन करना, यह श्रावकका मुख्य धर्म है । इसके विना कोई श्रावक नहीं कहला सकता और ध्यान अध्ययन करना यह मुनिका मुख्य धर्म है । जो इससे रहित है, वह मुनि ही नही है । भावार्थ—मुनियोके ध्यानाध्ययनकी तरह, दान देना और पूजन करना ये दो कर्म श्रावकोंके सर्व साधारण मुख्य धर्म और नित्यके कर्त्तव्य कर्म हैं ।

ऊपरके वाक्योसे भी जब यह स्पष्ट है कि पूजन करना गृहस्थ

का धर्म तथा नित्य और आवश्यक कर्म है–बिना पूजनके मनुष्यजन्म निष्फल और गृहस्थाश्रम धिक्कारका पात्र है और बिना पूजनके कोई गृहस्थ या श्रावक नाम ही नही पा सकता, तब प्रत्येक गृहस्थ जैनीको नियमपूर्वक अवश्य ही नित्यपूजन करना चाहिये, चाहे वह अग्रवाल हो, खंडेलवाल हो या परवार आदि अन्य किसी जातिका; चाहे स्त्री हो या पुरुष; चाहे व्रती हो या अव्रती; चाहे बीसा हो या दस्सा और चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, सबको पूजन करना चाहिये। सभी गृहस्थ जैनी है, सभी श्रावक है, अत सभी पूजनके अधिकारी है।

श्रीतीर्थंकर भगवानकी अर्थात् जिस अर्हन्त-परमात्माकी मूर्ति बनाकर हम पूजते है उसके समवसरणमें भी, क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या व्रती, क्या अव्रती, क्या ऊंच और क्या नीच, सभी प्रकारके मनुष्य जाकर साक्षात् भगवानका पूजन करते है। और मनुष्य ही नहीं, समवसरणमें पंचेन्द्रिय तिर्यंच तक भी जाते है–समवसरणकी बारह सभाओंमें उनकी भी एक सभा होती है, वे भी अपनी शक्तिके अनुसार जिनदेवका पूजन करते है। पूजन-फलप्राप्तिके विषयमें एक मेंढककी कथा सर्वत्र जैनशास्त्रोमें प्रसिद्ध है। पुण्यास्रव-कथाकोश, महावीरपुराण, धर्मसंग्रहश्रावकाचार आदि अनेक ग्रन्थोमे यह कथा विस्तारके साथ लिखी है और बहुतसे ग्रन्थोमें इसका निम्न-लिखित प्रकारसे उल्लेखमात्र किया है। यथा:—

> अर्हच्चरणसपर्या महानुभाव महात्मनामवदत्।
> भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे॥ रत्नकरंड १२०
> यथाशक्ति यजेतार्हद्देवं नित्यमहादिभिः।
> संकल्पतोऽर्पितं यष्टा भेकवत्स्वर्महीयते॥ सागारध० २-२४

कथाका सारांश यह है कि जिस समय राजगृह नगरमें विपुला-चल पर्वतपर हमारे अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामीका समव-सरण आया और उसके सुसमाचारसे हर्षोल्लसित होकर महाराजा

श्रेणिक आनद भेरीवजवाते हुए परिजन और पुरजन सहित श्रीवीर-जिनेन्द्रकी पूजा और वन्दनाको चले, उस समय एक मेंढक भी, जो नागदत्त श्रेष्ठीकी वावड़ीमे रहता था और जिसको अपने पूर्वजन्मकी स्त्री भवदत्ताको देखकर जातिस्मरण हो गया था, श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजाके लिये मुखमे एक कमल दबाकर उछलता और कूदता हुआ नगरके लोगोके साथ समवसरणकी ओर चल दिया। मार्गमें महाराजा श्रेणिकके हाथीके पैर तले आकर वह मेंढक मर गया और पूजनके इस संकल्प और उद्यमके प्रभावसे मरकर सौधर्म स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ। फिर वह देव समवसरणमे आया और श्रीगणधरदेवके द्वारा उसका चरित्र लोगोको मालूम हुआ। इससे प्रगट है कि समवसरणादिमें जाकर तिर्यंच भी पूजन करते और पूजनके उत्तम फलको प्राप्त होते है।

समवसरणको छोड़कर और भी वहुतसे स्थानो पर तिर्यंचोंके पूजन करनेका कथन पाया जाता है। पुण्यास्रव और आराधनासारकथाकोशमें लिखा है कि धाराशिव नगरमें एक बबी थी, जिसमें श्रीपार्श्वनाथ स्वामीकी रत्नमयी प्रतिमा एक मजूषेमे रक्खी हुई थी। एक हाथी, जिसको जातिस्मरण होगया था, प्रतिदिन तालावसे अपनी सूडमें पानी भरकर लाता और उस बँबीकी तीन प्रदक्षिणा देकर वह पानी उसपर छोड़ता और फिर एक कमलका फूल चढाकर पूजन करता और मस्तक नवाता था। इस प्रकार वह हाथी श्रावकधर्मको पालता हुआ प्रतिदिन उस प्रतिमाका पूजन करता था। जब राजा करकंडुको यह समाचार मालूम हुआ, तब उसने उस वँवीको खुदवाया और उसमेसे वह प्रतिमा निकली। प्रतिमाके निकलने पर हाथीने सन्यास धारण किया और अन्तमे वह हाथी मरकर सहस्रारस्वर्गमे देव हुआ। इसी प्रकार तिर्यंचोके पूजन-संबंधमे और भी अनेक कथाएँ हैं। जब तिर्यंच भी पूजन करते और पूजनके उत्तम फलको प्राप्त होते हैं, तब ऐसा कौन मनुष्य हो

सकता है कि जिसको पूजन न करना चाहिये और जो भावपूर्वक जिनेन्द्रदेवका पूजन करके उत्तम फलको प्राप्त न हो ? अभिप्राय यह है कि,आत्महितचिन्तक सभी प्राणियोंके लिये पूजन करना श्रेयस्कर है। इसलिये गृहस्थोंको अपना कर्तव्य समझकर अवश्य ही नित्यपूजन करना चाहिये।

पूजनके भेद

पूजन कई प्रकारका होता है । आदिपुराण, सागारधर्मामृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार, चारित्रसार आदि ग्रन्थोंमें नित्य[1], अष्टान्हिक[2], ऐन्द्रध्वज[3], चतुर्मुख[4], और कल्पद्रुम[5], इसप्रकार पूजनके

---

१ **नित्यपूजन**का स्वरूप आगे विस्तारके साथ वर्णन किया गया है।

२-३. जिनार्चा क्रियते भव्यैर्या नन्दीश्वरपर्वणि ।
अष्टाह्निकोऽसौ सेन्द्राद्यैः साध्या त्वैन्द्रध्वजो महः॥ सागारधर्मा०

अर्थात्—नन्दीश्वर पर्वमे (आषाढ, कार्तिक और फाल्गुण इन तीन महीनोके अन्तिम आठ आठ दिनोमे) जो पूजन किया जाता है, उसको **अष्टान्हिक** पूजन कहते है और इन्द्रादिकदेव मिलकर जो पूजन करते हे, उसको **'ऐन्द्रध्वज'** पूजन कहते है।

४ महामुकुटबद्धैस्तु क्रियमाणो महामहः ।
चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि ॥—आदिपुराण
भक्त्या मुकुटबद्धैर्या जिनपूजा विधीयते
तदाख्याः सर्वतोभद्र-चतुर्मुख-महामहाः ॥—सागारध०

अर्थात्—मुकुटवद्ध (माँडलिक) राजाओके द्वारा जो पूजन किया जाता है, उसके नाम **'चतुर्मुख'**, **'सर्वतोभद्र'**और **'महामह'** है।

५ दत्वा किमिच्छक दान सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते ।
कल्पवृक्षमहः सोऽय जगदाशाप्रपूरणः ॥—आदिपुराण
किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्य यः

पांच भेद वर्णन किये है । वसुनन्दिश्रावकाचार और धर्मसंग्रह-श्रावकाचार नामके ग्रन्थोंमें प्रकारान्तरसे नाम[1], स्थापना[2], द्रव्य[3],

---

चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञ कल्पद्रुमो मतः ॥—सागारध०

अर्थात्—याचकोको उनकी इच्छानुसार दान देकर जगतकी आशा को पूर्ण करते हुए चक्रवर्त्ति सम्राट द्वारा जो जिनेन्द्रका पूजन किया जाता है, उसको **'कल्पद्रुम'** पूजन कहते है ।

१ उच्चारिऊण णाम, अरुहाईण विसुद्धदेसम्मि ।
पुप्फाईणि खिविजति विण्णेया णामपूजा सा ॥—वसुनन्दिश्रा०

अर्थात्—अर्हतादिकका नाम उच्चारण करके किसी शुद्ध स्थानमे जो पुष्पादिकक्षेपण किये जाते है, उसको **नामपूजन** कहते हैं ।

२ तदाकार वा अतदाकार वस्तुमे जिनेन्द्रादिके गुणोका आरोपण और सकल्प करके जो पूजन किया जाता हैं, उसको **स्थापना** पूजन कहते हैं। स्थापनाके दो भेद है—१ **सद्भावस्थापना** और १ **असद्भावस्थापना** । अरहतोकी **प्रतिष्ठाविधिको** **'सद्भावस्थापना'** कहते है। (स्थापना पूजनका विशेप वर्णन जाननेके लिये देखो वसुनन्दि-श्रावकाचार आदि ग्रन्थ) ।

३ दव्वेण य दव्वस्स य जा पूजा जाण दव्वपूजा सा ।
दव्वेण गधसलिलाइपुव्वभणिएण कायव्वा ॥
तिविहा दव्वे पूजा सचित्ताचित्तमिस्सभेएण ।
पच्चक्खजिणाईण सचित्तपूजा जहाजोग्ग ॥
तेसि च सरीराण दव्वमुदस्स वि अचित्तपूजा सा ।
जा पुण दोण्ह कीरइ णायव्वा मिस्सपूजा सा ॥—वसुनन्दिश्राव०

अर्थात्—द्रव्यसे और द्रव्यकी जो पूजाकी जाती है, उसको **द्रव्य-पूजन** कहते हैं । जलचदनादिकसे पूजन करनेको **द्रव्यसे** पूजन करना कहते है और **द्रव्यकी** पूजा **सचित्त**, अचित्त तथा मिश्रके भेदसे तीन प्रकार है । साक्षात् श्रीजिनेन्द्रादिके पूजनको **'सचित्त द्रव्यपूजन'** कहते

क्षेत्र[4], काल[5] और भाव[6], ऐसे छह प्रकारका पूजन भी वर्णित है।

है। उन जिनेन्द्रादिके शरीरो तथा द्रव्यश्रुतके पूजनको '**अचित्त द्रव्य पूजन**' कहते है और दोनोके एक साथ पूजन करनेको '**मिश्रद्रव्यपूजन**' कहते है। द्रव्यपूजनके आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्य आदिके भेदसे और भी अनेक भेद है।

४ जिणजणमणिक्खवणणाणुप्पत्ति मोक्खसपत्ती।
णिसिही सुखेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा ॥—वसुनदिश्रा०

अर्थात्—जिन क्षेत्रोमे जिनेन्द्र भगवानके जन्म-तप-ज्ञान-निर्वाण कल्याणक हुए हैं, उन क्षेत्रोमे जलचदनादिकसे पूजन करनेको '**क्षेत्र-पूजन**' कहते हैं।

५ गर्भादिपचकल्याणमर्हता यद्दिनेऽभवत्।
तथा नन्दीश्वरे रत्नत्रयपर्वणि चार्ऽचनम् ॥
स्नपनं क्रियते नाना रसैरिक्षुघृतादिभिः।
तत्र गीतादिमाङ्गल्य कालपूजा भवेदियम् ॥ धर्मसग्रहश्रा०

अर्थात्—जिन तिथियोमे अरहतोके गर्भ-जन्मादिक कल्याणक हुए हैं, उनमे तथा नन्दीश्वर और रत्नत्रयादिक पर्वोमे जिनेन्द्रदेवका पूजन, इक्षुरस और दुग्ध-घृतादिकसे अभिषेक तथा गीत, नृत्य और जागरणादि मागलिक कार्य करनेको '**कालपूजन**' कहते हैं।

६ यदनन्तचतुष्काद्यैर्विधाय गुणकीर्त्तनम्।
त्रिकालं क्रियते देववन्दना भावपूजनम् ॥
परमेष्ठिपदैर्जपः क्रियते यत्स्वशक्तितः।
अथवाऽर्हद्गुणस्तोत्र साप्यर्चा भावपूर्विका ॥
पिंडस्थं च पदस्थं च रूपस्थ रूपवर्जितम्।
ध्यायते यत्र तद्विद्धि भावार्चनमनुत्तरम् ॥ —धर्मसग्रहश्रा०

अर्थात्—जिनेन्द्रके अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्यादि गुणोकी भक्तिपूर्वक स्तुति करके जो त्रिकाल देववन्दान

परन्तु संक्षेपसे पूजनके नित्य और नैमित्तिक, ऐसे दो भेद हैं। अन्य समस्त भेदोंका इन्हीमें अन्तर्भाव है। 'अष्टान्हिक' आदिक चार प्रकारका पूजन नैमित्तिक पूजन कहलाता है और नामादिक छह प्रकारके पूजनोंमें कुछ नित्य, कुछ नैमित्तिक और कुछ दोनो प्रकारके होते है। प्रतिष्ठा भी नैमित्तिक पूजनका ही एक प्रधान भेद है। तथापि नैमित्तिक पूजनोमे बहुतसे ऐसे भी भेद हैं जिनमें पूजनकी विधि प्राय नित्य पूजनके ही समान होती है और दोनोंके पूजकमें भी कोई भेद नही होता, जैसे अष्टान्हिक पूजन और काल पूजनादिक। इसलिये पूजनकी विधि आदिकी मुख्यतासे नित्यपूजन और प्रतिष्ठादिविधान, ऐसे भी दो भेद कहे जाते है और इन्ही भेदोंकी प्रधानतासे पूजकके भी दो ही भेद वर्णन किये गये हैं—एक नित्य पूजन करनेवाला जिसको पूजक कहते है और दूसरा प्रतिष्ठा आदि विधान करनेवाला जिसको पूजकाचार्य कहते है। जैसा कि पूजासार और धर्मसंग्रहश्रावकाचारके निम्नलिखित श्लोकोसे प्रगट है :—

> पूजकः पूजकाचार्य इति द्वेधा स पूजकः।
> आद्यो नित्यार्चकोऽन्यस्तु प्रतिष्ठादिविधायकः ॥ १६॥
>
> —पूजासार
>
> नित्यपूजा–विधायी यः पूजकः स हि कथ्यते।
> द्वितीयः पूजकाचार्यः प्रतिष्ठादिविधानकृत् ॥६—१४२॥
>
> —धर्मसंग्रहश्रावकाचार

चतुर्मुखादिक पूजन तथा प्रतिष्ठादि विधान सदा काल नहीं बन सकते और न सब गृहस्थ जैनियोंसे इनका अनुष्ठान हो सकता

की जाती है, उसको तथा शक्तिपूर्वक पचपरमेष्ठिके जाप वा स्तवनको और पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानको भावपूजन कहते है। (पिंडस्थादिक ध्यानोका स्वरूप ज्ञानार्णवादिक ग्रन्थोमे विस्तारके साथ वर्णन किया है, वहाँसे जानना चाहिये।)

है—क्योंकि कल्पद्रुम पूजन चक्रवर्ति ही कर सकता है; चतुर्मुख पूजन मुकुटबद्ध राजा ही कर सकते है; ऐन्द्रध्वज पूजाको इन्द्रादिक देव ही रचा सकते हैं; इसी प्रकार प्रतिष्ठादि विधान भी खास खास मनुष्य ही सम्पादन कर सकते है—इसलिये सर्वसाधारण जैनियों-के वास्ते नित्यपूजनकी ही मुख्यता है । ऊपर उल्लेख किये हुए आचार्यों आदिके वाक्योंमें 'दिने दिने' और 'अन्वहं' इत्यादि शब्दों-द्वारा नित्यपूजनका ही उपदेश दिया गया है । इसी नित्यपूजन पर मनुष्य, तिर्यंच, स्त्री, पुरुष, नीच, ऊँच, धनी, निर्धनी, व्रती, अव्रती राजा, महाराजा, चक्रवर्त्ति और देवता, सबका समान अधिकार है अर्थात् सभी नित्यपूजन कर सकते हैं ।

नित्यपूजनको नित्यमह, नित्याऽर्चन और सदार्चन इत्यादि भी कहते है । नित्यपूजनका मुख्य स्वरूप भगवज्जिनसेनाचार्यने आदि-पुराणमें इस प्रकार वर्णन किया है:—

> तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति ।
> स्वगृहान्नीयमानार्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥
>
> —अ० ३८, श्लो० २७

अर्थात्—प्रतिदिन अपने घरसे जिनमंदिरको गंध, पुष्प, अक्षता-दिक पूजनकी सामग्री ले जाकर जो जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना है उसको नित्यपूजन कहते है । धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें भी नित्यपूजनका यही स्वरूप वर्णित है । यथा:—

> जलाद्यैर्धौतपूताङ्गैर्गृहान्नीतैर्जिनालयम् ।
> यदर्च्यन्ते जिना युक्त्या नित्यपूजाऽभ्यधायि सा ॥
>
> —अ० ९ श्लो० २७

प्रतिदिन क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, क्या बालिका–सभी गृहस्थ जन अपने अपने घरोंसे जो बादाम, छुहारा, लौंग, इलायची या अक्षत (चावल) आदिक लेकर जिनमंदिरको जाते है और वहां उस द्रव्यको, जिनेन्द्रदेवादिकी स्तुतिपूर्वक नामादि उच्चारण करके,

जिनप्रतिमाके सन्मुख चढ़ाते हैं, वह सब नित्यपूजन कहलाता है। नित्यपूजनके लिये यह कोई नियम नही है कि वह अष्टद्रव्यसे ही किया जावे या कोई खास द्रव्यसे या किसी खास संख्या तक पूजाएँ की जावे, बल्कि यह सब अपनी श्रद्धा, शक्ति और रुचिपर निर्भर है—कोई एक द्रव्यसे पूजन करता है, कोई दोसे और कोई आठोसे, कोई थोडा पूजन करता और थोडा समय लगाता है, कोई अधिक पूजन करता और अधिक समय लगाता है, एक समय जो एक द्रव्यसे पूजन करता है वा थोड़ा पूजन करता है दूसरे समय वही अष्टद्रव्यसे पूजन करने लगता है और बहुतसा समय लगाकर अधिक पूजन करता है। इसीप्रकार यह भी कोई नियम नही है कि मदिरजीके उपकरणोमें और मदिरजीमें रक्खे हुए वस्त्रोको पहिनकर ही नित्य पूजन किया जावे। हम अपने घरसे शुद्ध वस्त्र पहिनकर और शुद्ध वर्तनोमें सामग्री बनाकर मदिरजीमे ला सकते है और खुशीके साथ पूजन कर सकते हैं। जो लोग ऐसा करनेके लिये असमर्थ है या कभी किसी कारणसे ऐसा नही कर सकते है, वे मदिरजीके उपकरण आदिसे अपना काम निकाल सकते हैं, इसीलिये मंदिरोंमें उनका प्रबंध रहता है। बहुतसे स्थानोंपर श्रावकोंके घर विद्यमान होते हुए भी कमसे कम दो चार पूजाओके यथासंभव नित्य किये जानेके लिये, मदिरोंमें पूजन सामग्रीके रक्खे जानेकी जो प्रथा जारी है, उसको भी आज कलके जैनियोंके प्रमाद, शक्तिन्यूनता और उत्साहाभाव आदिके कारण एक प्रकारका जातीय प्रबंध कह सकते है, अन्यथा, शास्त्रोंमे इस प्रकारके पूजन संबंधमे, आमतौरपर अपने घरसे सामग्री लेजाकर पूजन करनेका ही विधान पाया जाता है; जैसा कि ब्रह्मसूरिकृत् त्रिवर्णाचारके निम्नलिखित वाक्यसे भी प्रगट है—

ततश्चैत्यालयं गच्छेत्सर्वभव्यप्रपूजितम् ।
जिनादिपूजायोग्यानि द्रव्याण्यादाय भक्तितः ॥

—अ ४-१९० ।

अर्थात्--संध्यावन्दनादिके पश्चात् गृहस्थ, भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रादिके पूजनके योग्य द्रव्योंको लेकर, समस्त भव्यजीवो-द्वारा पूजित श्रीजिनमंदरजी जावे। भावार्थ—गृहस्थोको जिनमंदरमें पूजनके लिये पूजनोचित द्रव्य लेकर जाना चाहिये। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि बिना द्रव्यके मंदिरजीमें जाना ही निषिद्ध है, जाना निषिद्ध नहीं है। क्योंकि यदि किसी अवस्थामें द्रव्य उपलब्ध नहीं है तो केवल भावपूजन भी हो सकता है। तथापि गृहस्थोंके लिये द्रव्यसे पूजन करनेकी अधिक मुख्यता है। इसीलिये नित्यपूजनका ऐसा मुख्य स्वरूप वर्णन किया गया है।

ऊपर नित्यपूजनका जो प्रधान स्वरूप वर्णन किया गया है, उसके अतिरिक्त, 'जिनबिम्ब और जिनालय बनवाना, जिनमंदिरके खर्चके लिये दानपत्र-द्वारा ग्राम-गृहादिकका मंदिरजीके नाम करदेना तथा दान देते समय मुनीश्वरोंका पूजन करना, यह सब भी नित्यपूजनमे ही दाखिल (परिगृहीत) है।" जैसा कि आदिपुराण पर्व ३८ के निम्नलिखित वाक्योंसे प्रगट है.—

[1]चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत्।
शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदाऽर्चनम् ॥२८॥
या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी।
स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पितः ॥२९॥

श्रीसागारधर्मामृतमें भी नित्यपूजनके सम्बंधमें समग्र ऐसा[2] ही वर्णन पाया जाता है, बल्कि इतना विशेष और मिलता है कि अपने घरपर या मंदिरजीमें [3]त्रिकालदेववंदना—अरहंतदेवकी आराधना—

---

१. इन दोनो श्लोकोका आशय वही है जो ऊपर अतिरिक्त शब्दके अनन्तर ' " के मध्य दिया गया है।

२. आदिपुराण, उक्त श्लोक न २७, २८, २९ के अनुसार।

३. आदिपुराणमे पूजनके अन्य चार भेदोका वर्णन करनेके अनन्तर

करनेको भी नित्यपूजन कहते है। यथा:—

> प्रोक्ता नित्यमहोऽन्वहं निजगृहान्नीतेन गन्धादिना।
> पूजा चैत्यगृहेऽर्हतः स्वविभवाच्चैत्यादिनिर्मापणम् ॥
> भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधादानं त्रिसंध्याश्रया।
> सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिनां नित्यप्रदानानुगम् ॥ २–२५

धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें भी 'त्रिसंध्यं देववन्दनम्' इस पदके द्वारा ६वे अधिकारके श्लोक नं. २६ में, त्रिकाल देववंदनाको नित्यपूजन वर्णन किया है। और त्रिकाल देववन्दना ही क्या, "बलि, अभिषेक (न्हवन) गीत, नृत्य वादित्र आरती और रथयात्रादिक जो कुछ भी नित्य और नैमित्तिकपूजनके विशेष हैं और जिनको भक्त पुरुष सम्पादन करते हैं, उन सबका नित्यादि पंच प्रकारके पूजनमें अन्तर्भाव निर्दिष्ट होनेसे, उनमेसे जो नित्य किये जाते हैं या नित्य किये जानेको है, वे भी नित्यपूजन में समाविष्ट हैं। जैसा कि निम्नलिखित प्रमाणोंसे प्रगट है:—

> बलिस्नपननाट्यादि नित्यं नैमित्तिकं च यत्।
> भक्ताः कुर्वन्ति तेष्वेव तद्यथास्वं विकल्पयेत् ॥
>
> —सागारधर्मा० २-२०

> बलिस्नपनमित्यन्यत्त्रिसंध्यासेवया समम्।
> उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम् ॥
>
> —आदिपुराण ३८-३३

ऊपरके इस कथनसे यह भी स्पष्टरूपसे प्रमाणित होता है कि अपने पूज्यके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्त्तनका नाम ही पूजन है। पूजा भक्ति, उपासना और सेवा इत्यादि शब्द भी प्राय. एकार्थवाची है और उसी एक आशय और भावके द्योतक है। इसप्रकार पूजनका

श्लोक नं ३३ में त्रिकाल-देववन्दनाका वर्णन 'त्रिसंध्यासेवया समम्' इस पदके द्वारा किया है।

स्वरूप समझकर किसी भी गृहस्थको नित्यपूजन करनेसे नहीं चूकना चाहिये। सबको आनंद और भक्तिके साथ नित्यपूजन अवश्य करना चाहिये।

शूद्राऽधिकार

यहाँपर, जिनके हृदयमें यह आशंका हो कि, शूद्र भी पूजन कर सकते हैं या नहीं? उनको समझना चाहिये कि जब तिर्यंच भी पूजनके अधिकारी वर्णन किये गये हैं तब शूद्र, जो कि मनुष्य हैं और तिर्यंचोंसे ऊँचा दर्जा रखते हैं, कैसे पूजनके अधिकारी नहीं हैं? क्या शूद्र जैनी नहीं हो सकते? या श्रावकके व्रत धारण नहीं कर सकते? जब शूद्रोंको यह सब कुछ अधिकार प्राप्त है और वे श्रावकके बारह व्रतोंको धारणकर ऊँचे दर्जेके श्रावक बन सकते हैं और हमेशासे शूद्र लोग जैनी ही नहीं; किन्तु ऊँचे दर्जेके श्रावक (क्षुल्लक) तक होते आये हैं, तब उनके लिये पूजनका निषेध कैसे हो सकता है? श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजके वचनानुसार, जब बिना पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता, और शूद्र लोग भी श्रावक जरूर होते हैं, तब उनको पूजन का अधिकार स्वतः सिद्ध है।

भगवानके समवसरणमें, जहाँ तिर्यंच भी जाकर पूजन करते हैं, वहाँ जिसप्रकार अन्य मनुष्य जाते हैं, उसीप्रकार शूद्रलोग भी जाते हैं और अपनी शक्तिके अनुसार भगवानका पूजन करते हैं। श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमे, महावीरस्वामीके समवसरणका वर्णन करते हुए, लिखा है—'समवसरणमें, जब श्रीमहावीरस्वामीने मुनिधर्म और श्रावकधर्मका उपदेश दिया, तो उसको सुनकर बहुतसे ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य लोग मुनि होगये और चारो वर्णोंके स्त्रीपुरुषोंने अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्रोंने, श्रावकके बारह व्रत धारण किये। इतना ही नहीं, किन्तु उनकी पवित्रवाणीका यहाँतक प्रभाव पड़ा कि कुछ तिर्यंचोंने भी श्रावकके व्रत धारण किये।' इससे, पूजा-वन्दना और

धर्मश्रवणके लिये शूद्रोंका समवसरणमें जाना प्रगट है। शूद्रोंके पूजन-सम्बधमें बहुतसी कथाएँ प्रसिद्ध है। पुण्यास्त्रवकथाकोशमें लिखा है कि 'एक माली (शूद्र) की दो कन्याएं, जिनका नाम कुसुमावती और पुष्पवती था, प्रतिदिन एक एक पुष्प जिनमंदिरकी देहलीपर चढ़ाया करती थी। एक दिन बनसे पुष्प लाते समय उनको सर्पने काट खाया और वे दोनो कन्याएँ मरकर, इस पूजनके फलसे, सौधर्मस्वर्गमे देवी हुईं।' इसी शास्त्रमे एक पशु चरानेवाले नीचकुली ग्वालेकी भी कथा लिखी है, जिसने सहस्रकूट चैत्यालयमें जाकर, चुपकेसे नही किन्तु राजा, सेठ और सुगुप्ति नामक मुनिराजकी उपस्थिति (मौजूदगी) में, एक बृहत् कमल श्रीजिनदेवके चरणोमें चढ़ाया, और इस पूजनके प्रभावसे अगले ही जन्ममें महाप्रतापी राजा करकण्डु हुआ यह कथा श्रीआराधनासारकथाकोशमे भी लिखी है। इस ग्रंथमें ग्वालेकी पूजन-विधिका वर्णन इसप्रकार किया है:—

> तदा गोपालकः सोऽपि स्थित्वा श्रीमज्जिनाग्रतः।
> 'भोः सर्वोत्कृष्ट ! मे पद्मं गृहाणेद‌मिति' स्फुटम् ॥१५॥
> उक्त्वा जिनेंद्रपादाब्जोपरि क्षिप्त्वाशु पंकजम्।
> गतो, मुग्धजनानां च भवेत्सत्कर्म शर्मदम् ॥१६॥
>
> —करकंडुकथा

अर्थात्—जब सुगुप्तिमुनिके द्वारा ग्वालेको यह मालूम हो गया कि सबसे उत्कृष्ट जिनदेव ही हैं तब उस ग्वालेने, श्रीजिनेंद्रदेवके सन्मुख खड़े होकर और यह कहकर कि 'हे सर्वोत्कृष्ट ! मेरे इस कमलको स्वीकार करो' वह कमल श्रीजिनदेवके चरणोपर चढा दिया और इसके पश्चात् वह ग्वाला मंदिरसे चला गया। ग्रन्थकार कहते हैं कि भला काम (सत्कर्म) मूर्ख मनुष्योको भी सुखका देनेवाला होता है। इसी प्रकार शूद्रोंके पूजन सम्बन्धमें और भी बहुतसी कथाएे हैं।

कथाओंको छोड़कर जब वर्त्तमान समयकी ओर देखा जाता है, तब भी यही मालूम होता है कि, आज कल भी बहुतसे स्थानोंपर

शूद्रलोग पूजन करते हैं। जो जैनी शूद्र हैं या शूद्रोंका कर्म करते हुए जिनको पीढ़ियाँ बीत गईं, वे तो पूजन करते ही हैं, परन्तु बहुतसे ऐसे भी शूद्र हैं जो प्रगटरूप या व्यवहारमें जैनी न होते या न कहलाते हुए भी किसी प्रतिमा वा तीर्थस्थानके अतिशय (चमत्कार) पर मोहित होने के कारण उन स्थानोंपर बराबर पूजन करते है—चांदनपुर (महावीरजी), केसरियानाथ आदिक अतिशय क्षेत्रों और श्रीसम्मेद-शिखर, गिरनार आदि तीर्थस्थानोंपर ऐसे शूद्रपूजकोंकी कमी नहीं है। ऐसे स्थानोंपर नीच ऊँच सभी जातियाँ पूजनको आती और पूजन करती हुई देखी जाती है। जिन लोगोंको चैत्रके मेलेपर चांदनपुर जानेका सुअवसर प्राप्त हुआ है, उन्होने प्रत्यक्ष देखा होगा अथवा जिनको ऐसा अवसर नहीं मिला वे जाकर देख सकते है कि चैत्र शुक्ला चतुर्दशीसे लेकर ३-४ दिन तक कैसी कैसी नीच जातियोंके मनुष्य और कितने शूद्र, अपनी अपनी भाषाओंमें अनेक प्रकारकी जय बोलते आनंदमें उछलते और कूदते, मंदिरके श्रीमंडपमें घुस जाते हैं और वहाँपर अपने घरसे लाये हुए द्रव्यको चढाकर तथा प्रदक्षिणा देकर मंदिरसे बाहर निकलते हैं। बल्कि वहाँ तो रथोत्सवके समय यहाँतक होता है कि मंदिरका व्यासमाली, जो चढी हुई सामग्री लेने-वाला और निर्माल्य भक्षण करनेवाला है, स्वयं वीरभगवानकी प्रति-माको उठाकर रथमें विराजमान करता है।

यदि शूद्रोंका पूजन करना असत्कर्म (बुरा काम) होता और उस-से उनको पापबन्ध हुआ करता, तो पशुचरानेवाले नीचकुली ग्वाले को कमलके फूलसे भगवानकी पूजा करनेपर उत्तम फलकी प्राप्ति न होती और मालीकी लड़कियोंको पूजन करनेसे स्वर्ग न मिलता। इसीप्रकार शूद्रोंसे भी नीच पद धारण करनेवाले मेंढक जैसे तिर्यंच (जानवर) को पूजनके संकल्प और उद्यम-मात्रसे देवगतिकी प्राप्ति न होती [क्योंकि जो काम बुरा है उसका संकल्प और उद्यम भी बुरा ही होता है अच्छा नहीं हो सकता] और हाथीको, अपनी सूंडमें

पानी भरकर अभिषेक करने और कमलका फूल चढाकर बाँबीमें स्थित प्रतिमाका नित्यपूजन करनेसे. अगले ही जन्ममें मनुष्यभवके साथ साथ राजपद और राज्य न मिलता। इससे प्रगट है कि शूद्रों-का पूजन करना असत्कर्म नहीं हो सकता, बल्कि वह सत्कर्म है। आराधनासारकथाकोशमें भी ग्वालेके इस पूजन-कर्मको सत्कर्म ही लिखा है; जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए श्लोक नं. १६ के चतुर्थ पदसे प्रगट है।

इन सब बातोंके अतिरिक्त जैनशास्त्रोंमें शूद्रोंके पूजनके लिए स्पष्ट आज्ञा भी पाई जाती है। धर्मसंग्रहश्रावकाचारके ६वें अधि-कारमे लिखा है :—

> यजनं याजनं कर्माऽध्ययनाऽध्यापने तथा।
> दानं प्रतिग्रहश्चेति षट्कर्माणि द्विजन्मनाम्॥ २२५॥
> यजनाऽध्ययने दानं परेषां त्रीणि ते पुनः।
> जाति-तीर्थ-प्रभेदेन द्विधा ते ब्राह्मणादयः॥ २२६॥

अर्थात् ब्राह्मणोंके पूजन करना पूजन कराना, पढना, पढ़ाना दान देना, और दान लेना ये छह कर्म हैं। शेष क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन तीन वर्णोंके पूजन करना पढना और दान देना ये तीन कर्म हैं। और वे ब्राह्मणादिक जाति और तीर्थके भेद-से दो प्रकारके हैं। इससे साफ प्रगट है कि पूजन करना जिस प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योंका धार्मिक कर्म है उसी प्रकार वह शूद्रोंका भी धार्मिक कर्म है।

इसी धर्मसंग्रहश्रावकाचारके ६वें अधिकारके श्लोक नं० १४२ में, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवालेके दो भेद वर्णन किये है—एक नित्यपूजन करनेवाला जिस को 'पूजक' कहते हैं। और दूसरा प्रतिष्ठादि विधान करनेवाला, जिस-को 'पूजकाचार्य' कहते हैं। इसके पश्चात् दो श्लोकोमें, ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकको लक्ष्य करके, प्रथम भेद अर्थात् पूजकका स्वरूप इस

प्रकार वर्णन किया है :—

ब्राह्मणादि चतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः ।
सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः ॥ १४३ ॥
जात्या कुलेन पूतात्मा शुचिर्बन्धु सुहृज्जनैः ।
गुरूपदिष्टमंत्रेण युक्तः स्यादेष पूजकः ॥ १४४ ॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णोंमेंसे किसी भी वर्णका धारक, जो दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंडविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग, इसप्रकार सप्तशील व्रतसे युक्त हो, सत्य और शौचका दृढतापूर्वक (निरतिचार) आचरण करनेवाला—सत्यवान्, शौचवान् और दृढाचारी हो - हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पाँच अव्रतों (पापों) से रहित हो, जाति और कुलसे पवित्र हो, बन्धु-मित्रादिकसे शुद्ध हो और गुरु उपदेशित मंत्रसे युक्त हो या ऐसे मंत्रसे जिसका संस्कार हुआ हो; वह उत्तम पूजक कहलाता है।

इसीप्रकार पूजासार ग्रन्थमें भी पूजकके उपर्युक्त दोनो भेदोंका कथन करके, निम्न लिखित दो श्लोकोंमें नित्यपूजकका, उत्कृष्टापेक्षा-से प्रायः समस्त यही स्वरूप वर्णन किया है :—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽऽद्यः सुशीलवान् ।
दृढव्रतो दृढाचारः सत्यशौचसमन्वितः ॥ १७ ॥
कुलेन जात्या संशुद्धो मित्रबन्ध्वादिभिः शुचिः ।
गुरूपदिष्टमंत्राढ्यः प्राणिबधादिदूरगः ॥ १८ ॥

ऊपरके इन दोनों ग्रन्थोंके प्रमाणोंसे भली भांति स्पष्ट है कि, शूद्रोंको भी श्रीजिनेंद्रदेवके पूजनका अधिकार प्राप्त है और वे भी नित्य-पूजक होते हैं। साथ ही इसके यह भी प्रगट है कि शूद्र लोग साधारण पूजक ही नहीं, बल्कि ऊंचे दर्जेके नित्यपूजक भी होते हैं।

यहाँपर यह प्रश्न उठ सकता है कि, ऊपर जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया गया है वह पूजक मात्रका स्वरूप न होकर, ऊंचे दर्जेके

नित्यपूजकका ही स्वरूप है या उत्कृष्टकी अपेक्षा कथन किया गया है यह सब किस आधारपर माना जावे ? इसका उत्तर यह है कि धर्म-संग्रहश्रावकाचारके श्लोक नं. १४४ मे जो 'एष' शब्द आया है वह उत्तमताका वाचक है। यह शब्द 'एतद्' शब्दका रूप न होकर एक पृथक् ही शब्द है। वामन शिवराम आप्टे कृत कोशमें इस शब्दका अर्थ अंग्रेजीमें desirable और to be desired किया है। संस्कृतमे इसका अर्थ प्रशस्त प्रशंसनीय और उत्तम होता है। इसी प्रकार पूजासार ग्रन्थके श्लोक नं० २८ में जहाँपर पूजक और पूजकाचार्यका स्वरूप समाप्त किया है वहाँपर, अन्तिम वाक्य यह लिखा है कि 'एवं लक्षणवानार्यो जिनपूजासु शस्यते' (अर्थात् ऐसे लक्षणोंसे लक्षित आर्यपुरुष जिनेन्द्रदेवकी पूजामे प्रशंसनीय कहा जाता है।) इस वाक्यका अन्तिम शब्द 'शस्यते' साफ बतला रहा है कि ऊपर जो स्वरूप वर्णन किया है वह प्रशस्त और उत्तम पूजकका ही स्वरूप है। दोनो ग्रन्थोमे इन दोनो शब्दोंसे साफ़ प्रगट है कि यह स्वरूप उत्तम पूजकका ही वर्णन किया गया है। परन्तु यदि ये दोनो शब्द (एष और शस्यते) दोनो ग्रन्थोमें न भी होते, या थोड़ी देरके लिये इनको गौण किया जाय तब भी ऊपर कथन किये हुए पूजन-सिद्धान्त, आचार्योंके वाक्य और नित्यपूजनके स्वरूपपर विचार करनेसे यही नतीजा निकलता है कि यह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्य पूजकको लक्ष्य करके ही लिखा गया है। लक्षणसे इसका कुछ सम्बंध नही है। क्योंकि लक्षण लक्ष्यके सर्वदेशमें व्यापक होता है। ऊपरका स्वरूप ऐसा नही है जो साधारणसे साधारण पूजकमे भी पायाजावे, इसलिये वह कदापि पूजकका लक्षण नही होसकता। यदि ऐसा न माना जाय—अर्थात् इसको ऊचे दर्जेके नित्यपूजकका स्वरूप स्वीकार न किया जावे, बल्कि नित्यपूजक मात्रका स्वरूप वा दूसरे शब्दोमें पूजकका लक्षण माना जावे तो इससे आजकलके प्राय. किसी भी जैनीको पूजनका अधिकार नही रहता, क्योकि सप्तशीलव्रत और हिंसादिक

पंच पापोंके त्यागरूप पच अणुव्रत, इसप्रकार श्रावकके बारह व्रतोंका पूर्णतया पालन दूसरी (व्रत) प्रतिमामें ही होता है और वर्तमान जैनियोंमे इस प्रतिमाके धारक दो चार त्यागियोंको छोड़कर, शायद कोई बिरले ही निकले ! इसके सिवाय जैनसिद्धान्तोंसे बड़ा भारी विरोध आता है। क्योंकि जैनशास्त्रोंमें मुख्यरूपसे श्रावकके तीन भेद वर्णन किये हैं:—

१ पाक्षिक, २ नैष्ठिक और ३ साधक। श्रावकधर्म जिसका पक्ष और प्रतिज्ञाका विषय है, श्रावकधर्मको जिसने स्वीकार कर रक्खा है और उसपर आचरण करना भी प्रारंभ कर दिया है, परन्तु उस धर्मका निर्वाह जिससे यथेष्ट नही होता, उस प्रारब्ध देशसंयमीको 'पाक्षिक' कहते हैं। जो निरतिचार श्रावकधर्मका निर्वाह करनेमें तत्पर है उसको 'नैष्ठिक' कहते हैं और जो आत्मध्यानमें तत्पर हुआ समाधि-पूर्वक मरण साधन करता है उसको 'साधक' कहते हैं*। नैष्ठिक श्रावकके दर्शनिक व्रतिक आदिक ११ भेद हैं जिनको ११ प्रतिमा भी कहते है दूसरी प्रतिमावाले व्रतिक श्रावकसे पहली प्रतिमावाला और पहिली प्रतिमावालेसे पाक्षिक श्रावक नीचे दर्जेपर होता है। दूसरे शब्दोमें यों कहिये कि पाक्षिक श्रावक, मूल भेदोंकी अपेक्षा, दर्शनिकसे एक और व्रतिकसे दो दर्जे नीचे होता है अथवा उसको सबसे घटिया दर्जेका श्रावक कहते है। परन्तु शास्त्रोंमें व्रतिकके समान, दर्शनिक हीको नही, किन्तु पाक्षिकको भी पूजनका अधिकारी वर्णन किया है, जैसा कि धर्मसंग्रहश्रावकाचार (अ० ५) में निम्नलिखित श्लोकों-द्वारा उनके स्वरूप-कथनसे प्रगट है:—

सम्यग्दृष्टिः सातिचारमूलाणुव्रतपालकः।

---

* "पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिकः साधकः स्वयुक्॥ २०॥
—सागारधर्मामृत

अर्चादिनिरतस्त्वग्रपदं कांक्षी हि पाक्षिकः ॥ ४ ॥

पाक्षिकाचारसम्पत्त्या निर्मलीकृतदर्शनः ।
विरक्तो भवभोगाभ्यामर्हदादिपदार्चकः ॥ १४ ॥

मलान्मूलगुणानां निर्मूलयन्नग्रिमोत्सुकः ।
न्याय्यां वार्त्तां वपुःस्थित्यै दधद्दर्शनिको मतः ॥ १५ ॥

ऊपरके श्लोकोंमें,'अर्चादिनिरत'(पूजनादिमें तत्पर) इस पदसे, पाक्षिकश्रावकके लिये पूजन करना जरूरी रक्खा है। और 'अर्हदादि-पदाऽर्चकः' (अर्हन्तादिकके चरणोंका पूजनेवाला) इस पदसे दर्शनिक श्रावकके लिये पूजन करना आवश्यक कर्म बतलाया है। सागारधर्मामृतके दूसरे अध्यायमें,जिसका अंतिम काव्य,'सैषः प्राथमकल्पिकः .' इत्यादि है, पाक्षिकश्रावकका सदाचार वर्णन किया है। उसमे भी, "यजेत देव सेवेत गुरून् " इत्यादि श्लोकों द्वारा, पाक्षिकश्रावकके लिये नित्यपूजन करनेका विधान किया है। भगवज्जिनसेनाचार्य भी आदिपुराणमें निम्नलिखित श्लोक-द्वारा सूचित करते हैं कि, पूजन करना प्राथमकल्पिकी (पाक्षिकी) वृत्ति अर्थात् पाक्षिकश्रावकका कर्म वा श्रावकमात्रका प्रथम कर्म है। यथा :—

एवंविधविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम् ।
विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम् ॥ ३८-३४

यह तो हुई पाक्षिकश्रावककी बात, अब अविरतसम्यग्दृष्टिको लीजिये, अर्थात् ऐसे सम्यग्दृष्टिको लीजिये जिसके किसी प्रकारका कोई व्रत होना तो दूर रहा, व्रत या संयमका आचरण भी अभीतक जिसने प्रारंभ नहीं किया। जैनशास्त्रोंमें ऐसे अव्रतीको भी पूजनका अधिकारी वर्णन किया है। प्रथमानुयोगके ग्रन्थोंसे प्रगट है कि स्वर्गादिकके प्रायः सभी देव, देवांगनासहित,समवसरणादिमें जाकर साक्षात् श्रीजिनेन्द्रदेवका पूजन करते हैं, नन्दीश्वर द्वीपादिकमें जाकर जिन-बिम्बोंका अर्चन करते हैं और अपने विमानोंके चैत्यालयोंमे नित्यपूजन

करते हैं। जगह जगह शास्त्रोंमें नियमपूर्वक उनके पूजनका विधान पाया जाता है। परन्तु वे सब 'अव्रती' ही होते है—उनके किसी प्रकारका कोई व्रत नही होता। देवोंको छोड़कर अव्रती मनुष्योके पूजनका भी कथन शास्त्रोंमें स्थान स्थानपर पाया जाता है। समवसरणमें अव्रती मनुष्य भी जाते हैं और जिनवाणीको सुनकर उनमेसे बहुतसे व्रत ग्रहण करते हैं, जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए हरिवंशपुराणके कथनसे प्रगट है। महाराजा श्रेणिक भी अव्रती ही थे, जो निरन्तर श्रीवीरजिनेंद्रके समवसरणमें जाकर भगवानका साक्षात् पूजन किया करते थे और जिन्होंने अपनी राजधानीमें स्थान स्थानपर अनेक जिनमंदिर बनवाये थे, जिसका कथन हरिवंशपुराणादिकमें मौजूद है। सागारधर्मामृतमें पूजनके फलका वर्णन करते हुए साफ़ लिखा है कि—

> दृक्पूतमपि यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रियः।
> श्रयन्त्यहंपूर्विकया किं पुनर्व्रतभूषितम्॥ ३२॥

अर्थात्—अर्हंतका पूजन करनेवाले अविरतसम्यग्दृष्टिको भी पूजा, धन, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल और परिजनादिक सम्पदाएँ, मै पहले, ऐसी शीघ्रता करती हुई प्राप्त होती हैं। और जो व्रतसे भूषित है उसका कहना ही क्या? उसको तो वे सम्पदाएँ और भी विशेषताके साथ प्राप्त होती हैं।

इससे यही सिद्ध हुआ कि—धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासारमें वर्णित पूजकके उपर्युक्त स्वरूपको पूजकका लक्षण माननेसे जो व्रती-श्रावक दूसरी प्रतिमाके धारक ही पूजनके अधिकारी ठहरते थे, उसका आगमसे विरोध आता है। इसलिये वह स्वरूप पूजकमात्रका स्वरूप नहीं है, किन्तु ऊंचे दर्जेके नित्य पूजकका ही स्वरूप है। और इसलिये शूद्र भी ऊंचे दर्जेका नित्यपूजक हो सकता है।

यहाँपर इतना और भी प्रगट कर देना जरूरी है कि, जैन शास्त्रोंमें आचरण-सम्बंधी कथनशैलीका लक्ष्य प्रायः उत्कृष्ट ही

रक्खा गया मालूम होता है। प्रत्येक ग्रन्थमें उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यरूप समस्त भेदोका वर्णन नही किया गया है। किसी किसी ग्रन्थमे ही यह विशेष मिलता है। अन्यथा, जहाँ तहाँ सामान्यरूपसे उत्कृष्टका ही कथन पाया जाता है। इसके कारणो पर जहाँतक विचार किया जाता है तो यही मालूम होता है कि, प्रथम तो उत्कृष्ट आचरणकी प्रधानता है। दूसरे, समस्त भेद-प्रभेदोंका वर्णन करनेसे ग्रन्थका विस्तार बहुत ज्यादह बढ़ता है और इस ग्रन्थ-विस्तारका भय सदा ग्रन्थकर्ताओको रहता है। क्योकि विस्तृत ग्रन्थके सम्बंधमे पाठकोमे एक प्रकारकी अरुचिका प्रादुर्भाव हो जाता है और सर्व साधारणकी प्रवृत्ति उसके पठन-पाठनमे नही होती। तथा ऐसे ग्रन्थका रचना भी कोई आसान काम नही है—समस्तविषयोंका एक ग्रन्थमें समावेश करना वड़ा ही दुःसाध्य कार्य है। इसके लिये अधिक काल अधिक अनुभव और अधिक परिश्रमकी सविशेषरूपसे आवश्यकता ह। तीसरे, ग्रन्थोकी रचना प्रायः ग्रन्थकारोंकी रुचिपर ही निर्भर होती है—कोई ग्रन्थकार संक्षेपप्रिय होते हैं और कोई विस्तारप्रिय—उनकी इच्छा है कि वे चाहे, अपने ग्रन्थमें, जिस विषयको मुख्य रक्खें और चाहे जिस विषयको गौण। जिस विषयको ग्रन्थकार अपने ग्रन्थमें मुख्य रखता है उसका प्रायः विस्तारके साथ वर्णन करता है और जिस विषयको गौण रखता है उसका सामान्यरूपसे उत्कृष्टकी अपेक्षा कथन कर देता है। यही कारण है कि कोई विषय एक ग्रन्थमें विस्तारके साथ मिलता है और कोई दूसरे ग्रन्थमें। वल्कि एक विषयकी भी कोई वात किसी ग्रन्थमे मिलती है और कोई किसी ग्रन्थमे। दृष्टान्तके तौरपर पूजनके विषयहीको लीजिये—स्वामी समन्तभद्राचार्यने, रत्नकरंडश्रावकाचारमे, 'देवाधिदेवचरणे…' तथा 'अर्हच्चरणसपर्या…' इन पूजनके प्रेरक और पूजन फलप्रतिपादक दो श्लोकोंके सिवाय इस विषयका कुछ भी वर्णन नहीं किया। श्रीपद्मनन्दि आचार्यने, पद्मनंदिपंचविंशतिकामें, गृहस्थियोंके

लिये पूजनकी खास जरूरत वर्णन की है और उसपर जोर दिया है; परन्तु पूजन और पूजनके भेदोंका कुछ वर्णन नहीं किया। वसुनन्दिआचार्यने वसुनन्दिश्रावकाचारमें, भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें इसका कुछ कुछ विशेष वर्णन किया है। इसीप्रकार सागारधर्मामृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार वगैरह ग्रन्थोंमें भी इसका कुछ कुछ विशेष वर्णन पाया जाता है; परन्तु पूरा कथन किसी भी एक ग्रन्थमें नहीं मिलता। कोई बात किसीमें अधिक है और कोई किसीमें। इसीप्रकार ग्यारह प्रतिमाओंके कथनको लीजिये, बहुतसे ग्रन्थोंमें इनका कुछ वर्णन नहीं किया, केवल नाम मात्र कथन कर दिया या प्रतिमाका भेद न कहकर सामान्य रूपसे श्रावकके १२-व्रतोंका वर्णन कर दिया है। रत्नकरंडश्रावकाचारमें इनका बहुत सामान्यरूपसे कथन किया गया है। वसुनन्दिश्रावकाचारमें उससे कुछ अधिक वर्णन किया गया है। परन्तु सागारधर्मामृतमें अपेक्षाकृत प्रायः अच्छा खुलासा मिलता है। ऐसी ही अवस्था अन्य और भी विषयोकी समझ लेनी चाहिए।

अब यहाँपर यह प्रश्न उठ सकता है कि, ग्रन्थकार जिस विषयको गौण करके उसका सामान्य कथन करता है वह उसका उत्कृष्टकी अपेक्षासे क्यों कथन करता है, जघन्यकी अपेक्षासे क्यों नही करता? इसका उत्तर यह है कि, प्रथम तो उत्कृष्ट आचरणकी प्रधानता है। जबतक उत्कृष्ट दर्जेके आचरणमें अनुराग नही होता तबतक नीचे दर्जेके आचरणको आचरण ही नही कहते *, इससे उसके लिये

---

* सागारधर्मामृतके प्रथम श्लोककी टीकामे लिखा है,—"यतिधर्मानुरागरहितानामागारिणां देशविरतेरप्यसम्यक्रूपत्वात्। सर्वविरतिलालसः खलु देशविरतिपरिणामः।" अर्थात् यतिधर्मभे अनुराग रहित गृहस्थियोका 'देशव्रत' भी मिथ्या है। सकलविरतिमे जिसकी लालसा है वही देशविरतिके परिणामका धारक हो सकता है। इससे

साधन अवश्य चाहिये। दूसरे ऊँचे दर्जेके आचरणसे किंचित् भी स्खलित होनेसे स्वत. ही नीचे दर्जेका आचरण हो जाता है। संसारी जीवोंकी प्रवृत्ति और उनके संस्कार ही प्राय: उनको नीचेकी ओर ले जाते हैं, उसके लिये नियमित रूपसे किसी विशेष उपदेशकी जरूरत नहीं। तीसरे, ऊँचे दर्जेको छोड़कर अक्रमरूपसे नीचे दर्जेका ही उपदेश देनेवालेको जैनशासनमें दुर्बुद्धि और दडनीय कहा है, जैसा कि. श्री अमृतचंद्र आचार्यके निम्न लिखित वाक्योंसे ध्वनित हैं:—

यो मुनिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥ १८॥
अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि संप्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥ १९ ॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

यह शासन-दंड भी संक्षेप और सामान्य लिखनेवालोंको उत्कृष्टकी अपेक्षासे कथन करनेमे कुछ कम प्रेरक नही है। इन्ही समस्त कारणोंसे आचरण-सबंधी कथनशैलीका प्राय: उत्कृष्टाऽपेक्षासे होना पाया जाता है। किसी किसी ग्रन्थमे तो यह उत्कृष्टता यहाँतक बढ़ी हुई है कि साधारण पूजकका स्वरूप वर्णन करना तो दूर रहा, ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका भी स्वरूप वर्णन नही किया है, वल्कि पूजकाचार्यका ही स्वरूप लिखा है। जैसा कि वसुनन्दिश्रावकाचारमें, नित्यपूजकका स्वरूप न लिखकर पूजकाचार्य (प्रतिष्ठाचार्य) का ही स्वरूप लिखा है। इसीप्रकार एकसन्धिभट्टारककृत जिनसंहितामें पूजकाचार्यका ही स्वरूप वर्णन किया है। परन्तु इस संहितामें इतनी

भी यही नतीजा निकलता है कि, जघन्य चारित्रका धारक भी कोई नहीं कहलाया जा सकता है जब ऊँचे दर्जेके आचरणका अनुरागी हो और शक्ति आदिकी न्यूनतासे, उसको धारण न कर सकता हो।

विशिष्टता और है कि, पूजक शब्दसे ही पूजकाचार्यका कथन किया है। यद्यपि 'पूजक' शब्दसे पूजक (नित्यपूजक) और पूजकाचार्य (प्रतिष्ठादिविधान करनेवाला पूजक) दोनोका ग्रहण होता है—जैसा कि ऊपर उल्लेख किये पूजासार ग्रन्थके, 'पूजक: पूजकाचार्य: इति द्वेधा स पूजक:,' इस वाक्यसे प्रगट है—तथापि साधारण ज्ञान वाले मनुष्योंको इससे भ्रम होना संभव है। अतः यहाँपर यह बतला देना जरूरी है कि उक्त जिनसंहिता में जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया है वह वास्तवमें पूजकाचार्यका ही स्वरूप है। वह स्वरूप इस संहिताके तीसरे परिच्छेदमें इसप्रकार दिया है:—

अथ वक्ष्यामि भूपाल ! शृणु पूजकलक्षणम् ।
लक्षितं भगवद्भिर्यद्वचः स्वखिलगोचरे ॥ १ ॥
त्रैवर्णिकोऽभिरूपाङ्गः सम्यग्दृष्टिरणुव्रती ।
चतुरः शौचवान्विद्वान् योग्यः स्याज्जिनपूजने ॥ २ ॥
न शूद्रः स्यान्न दुर्दृष्टिर्न पापाचारपण्डितः ।
न निकृष्टक्रियावृत्तिर्नातिकपरिदूषितः ॥ ३ ॥
नाऽधिकाङ्गो न हीनाङ्गो नाऽतिदीर्घो न वामनः ।
नाऽविदग्धो न तन्द्रालुर्नाऽतिवृद्धो न बालकः ॥४॥
नाऽतिलुब्धो न दुष्टात्मा नाऽतिमानो न मायिकः ।
नाऽशुचिर्न विरूपाङ्गो नाऽजानन् जिनसंहिताम् ॥५॥
निषिद्धः पुरुषो देव यद्यर्चेत् त्रिजगत्प्रभुम् ।
राजराष्ट्रविनाशः स्यात्कर्तृकारकयोरपि ॥६॥
तस्माद्यत्नेन गृह्णीयात्पूजकं त्रिजगद्गुरोः ।
उक्तलक्षणमेवाऽऽर्यः कदाचिदपि नाऽपरम् ॥७॥
यदीन्द्रवृन्दाऽर्चितपादपङ्कजं जिनेश्वरं प्रोक्तगुणः समर्चयेत् ।
नृपश्च राष्ट्रं च सुखास्पदं भवेत् तथैव कर्त्ता च जनश्च कारकः ॥८॥

भावार्थ इसका यह है कि हे राजन्! मैं अब श्रीजिनभगवानके वचनानुसार पूजकका लक्षण कहता हूँ; उसको तुम सुनो—

जो तीनों वर्णोंमेंसे किसी वर्णका धारक हो रूपवान हो, सम्यग्दृष्टि हो, पंच अणुव्रतका पालन करनेवाला हो, चतुर हो, शौचवान हो और विद्वान हो वह जिनदेवकी पूजा करनेके योग्य होता है। (परन्तु) शूद्र, मिथ्यादृष्टि, पापाचारमें प्रवीण, नीचक्रिया तथा नीच कर्म करके आजीविका करनेवाला, रोगी अधिक अंगवाला, अंगहीन, अधिक लम्बे कदका, बहुत छोटे कदका (वामना), भोला वा मूर्ख, निद्रालु या आलसी, अतिवृद्ध बालक, अति लोभी दुष्टात्मा, अतिमानी, मायाचारी, अपवित्र, कुरूप और जिनसंहिताको न जाननेवाला पूजन करनेके योग्य नहीं होता है। यदि निषिद्ध पुरुष भगवानका पूजन करे तो राजा और देशका तथा पूजन करनेवाले और करानेवाले दोनोका नाश होता है। इसलिये पूजन करानेवालेको यत्नके साथ जिनेन्द्रदेवका पूजक ऊपर कहे हुए गुणोंवाला ही ग्रहण करना चाहिये—दूसरा नही। यदि ऊपर कहे हुए गुणोंवाला पूजक इन्द्र समूहसे वंदित श्रीजिनदेवके चरणकमलकी पूजा करे तो राजा, देश तथा पूजन करनेवाला और कराने वाला सब सुखके भागी होते हैं।'

अब यहाँपर विचारणीय यह है कि, यह उपर्युक्त स्वरूप साधारण नित्यपूजकका है या ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका अथवा पूजकाचार्यका है। साधारण नित्यपूजकका यह स्वरूप हो नही सकता, क्योंकि ऐसा माननेपर आगमसे विरोधादिक समस्त वही दोष यहाँ भी पूर्णरूपसे घटित होते हैं, जो कि धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासारमे वर्णन किये हुए ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकके स्वरूपको नित्यपूजक मात्रका स्वरूप स्वीकार करनेपर विस्तारके साथ ऊपर दिखलाये गये हैं। बल्कि इस स्वरूपमें कुछ बातें उससे भी अधिक हैं, जिनसे और भी अनेक प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित होती हैं और जो विस्तार-भयसे यहाँ नही लिखी जाती। इस स्वरूपके अनुसार जो जैनी रूपवान् नही है, विद्वान् नही है, चतुर नही है अर्थात् भोला वा मूर्ख है; जो जिनसंहिताको नही जानता, जिसका कद अधिक लम्बा

या छोटा है, जो बालक है या अतिवृद्ध है, जो पापके काम करना जानता है और जो अतिमानी, मायाचारी तथा लोभी है, वह भी पूजनका अधिकारी नहीं ठहरता। इसको साधारण नित्यपूजकका स्वरूप माननेसे पूजनका मार्ग और भी अधिक इतना तंग (सकीर्ण) हो जाता है कि वर्तमान १३-१४ लाख जैनियोंमें शायद कोई बिरला ही जैनी ऐसा निकले जो इन समस्त लक्षणोसे सुसम्पन्न हो और जो जिनदेवका पूजन करनेके योग्य समझा जावे। वास्तवमें भक्तिपूर्वक जो नित्यपूजन किया जाता है उसके लिये इन बहुतसे विशेषणोकी आवश्यकता नही है, यह ऊपर कहे हुए नित्यपूजन के स्वरूपसे ही प्रगट है। अत. आगमसे विरोध आने तथा पूजनसिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपसे विरुद्ध पड़नेके कारण यह स्वरूप साधारण नित्यपूजकका भी नही हो सकता। इसी प्रकार यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका भी नही हो सकता। क्योंकि ऊँचे दर्जेके नित्य-पूजकका जो स्वरूप धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रन्थोंमें वर्णन किया है और जिसका कथन ऊपर आ चुका है, उससे इस स्वरूपमें बहुत कुछ विलक्षणता पाई जाती है। यहाँपर अन्य बातों-के सिवा त्रैवर्णिकको ही पूजनका अधिकारी वर्णन किया है; परंतु ऊपर अनेक प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया जा चुका है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारो ही वर्णके मनुष्य पूजन कर सकते हैं और ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक हो सकते है। इसलिये यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक तक ही पर्याप्त नही होता, बल्कि उसकी सीमासे बहुत आगे बढ जाता है।

दूसरे यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि ऊँचा दर्जा हमेशा नीचे दर्जेकी और नीचा दर्जा ऊँचेकी अपेक्षासे ही कहा जाता है। जब एक दर्जेका मुख्यरूपसे कथन किया जाता है तब दूसरा दर्जा गौण होजाता है,परन्तु उसका सर्वथा निषेध नहीं किया जाता। जैसा कि सकलचारित्र (महाव्रत) का वर्णन करते हुए देशचारित्र (अणु-

व्रत) और देशचारित्रका कथन करते समय सकलचारित्र गौण होता है; परन्तु उसका सर्वथा निषेध नही किया जाता अर्थात् यह नही कहा जाता कि जिसमे महाव्रतीके लक्षण नही वह व्रती ही नही हो सकता। व्रती वह जरूर हो सकता है; परन्तु महाव्रती नही कहला सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि ग्रन्थकारमहोदय-के लक्ष्यमे यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका ही होता, तो वे कदापि साधारण (नीचे दर्जेके) नित्यपूजकका सर्वथा निषेध न करते—अर्थात्, यह न कहते कि इन लक्षणोंसे रहित दूसरा कोई पूजक होनेके योग्य ही नही या पूजन करनेका अधिकारी नही। क्योंकि दूसरा नीचे दर्जेवाला भी पूजक होता है और वह नित्य-पूजन कर सकता है। यह दूसरी वात है कि वह कोई विशेष नैमित्तिक पूजन न कर सकता हो। परन्तु ग्रन्थकारमहोदय 'उक्त-लक्षणमेवार्यं कदाचिदपि नाऽपरम्'' इस सप्तम श्लोकके उत्तरार्ध-द्वारा स्पष्टरूपसे उक्त लक्षणरहित दूसरे मनुष्यके पूजकपनेका निषेध करते है, वल्कि छटे श्लोकमें यहाँतक लिखते है कि यदि निषिद्ध (उक्तलक्षणरहित) पुरुष पूजन कर ले तो राजा, देश, पूजन करने-वाला और करानेवाला सब नाशको प्राप्त हो जावेगे। इससे प्रगट है कि उन्होने यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकको भी लक्ष्य करके नहीं लिखा है। भावार्थ—इस स्वरूपका किसी भी प्रकारके नित्य पूजकके साथ नियमित अथवा अविनाभाव सम्बन्ध न होनेसे, यह किसी भी प्रकारके नित्यपूजकका स्वरूप या लक्षण नही है। वल्कि उस नैमित्तिक पूजनविधानके कर्तासे सम्बन्ध रखता है जिस पूजन-विधानमे पूजन करनेवाला और होता है और उसका करानेवाला अर्थात् उस पूजनविधानके लिये द्रव्यादि खर्च करनेवाला दूसरा होता है। क्योकि स्वय उपर्युक्त श्लोकोंमे आये हुए ''कर्तृकार-कयोः' 'गृह्णीयात' और 'नथंच कर्त्ता च जनश्च कारकः' इन पदोंसे-भी यह वात पाई जाती है। 'यत्नेन गृह्णीयात पूजकं' 'उक्तलक्षण-

मेवार्यः' ये पद साफ़ बतला रहे हैं कि यदि यह वर्णन नित्यपूजकका होता तो यह कहने या प्रेरणा करनेकी जरूरत नही थी कि पूजन-विधान करानेवाले को तलाश करके उक्त लक्षणोंवाला ही पूजक (पूजनविधान करनेवाला) ग्रहण करना चाहिये, दूसरा नहीं। इसी प्रकार पूजन-फलवर्णनमें, 'कर्तृकारकयो' इत्यादि पदों-द्वारा पूजन करनेवाले और करानेवाले दोनोंका भिन्न भिन्न निर्देश करनेकी भी कोई जरूरत नही थी; परन्तु चूँकि ऐसा किया गया है, इससे स्वयं ग्रन्थकारके वाक्योंसे भी प्रगट है कि यह नित्यपूजकका स्वरूप या लक्षण नही है। तब यह स्वरूप किसका है? इस प्रश्नके उत्तरमें यही कहना पड़ता है कि पूजकके जो मुख्य दो भेद वर्णन किये गये है—एक नित्यपूजन करनेवाला और दूसरा प्रतिष्ठादि विधान करने वाला—उनमेंसे यह स्वरूप प्रतिष्ठादि विधान करनेवाले पूजकका ही हो सकता है, जिसको प्रतिष्ठाचार्य, पूजकाचार्य और इन्द्र भी कहते है। प्रतिष्ठादि विधानमें ही प्रायः ऐसा होता है कि विधानका करने वाला तो और होता है और उसका करानेवाला दूसरा। तथा ऐसे ही विधानोंका शुभाशुभ असर कथंचित् राजा, देश, नगर और करानेवाले आदि पर पड़ता है। प्रतिष्ठा-विधानमें प्रतिमाओमें मंत्रद्वारा अर्हंतादिककी प्रतिष्ठाकी जाती है। अतः जिस मनुष्यके मंत्रसामर्थ्य-से प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित होकर पूजने योग्य होती है वह कोई साधारण व्यक्ति नही हो सकता। वह कोई ऐसा ही प्रभावशाली, माननीय, सर्वगुणसम्पन्न असाधारण व्यक्ति होना चाहिये।

इन सबके अतिरिक्त, पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका जो स्वरूप धर्मसंग्रहश्रावकाचार, पूजासार और प्रतिष्ठासारोद्धार आदिक जैन-शास्त्रोंमें स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है उससे इस स्वरूपकी प्राय.सब बाते मिलती है, जिससे भले प्रकार निश्चित होता है कि यह स्वरूप प्रतिष्ठादि-विधान करनेवाले पूजक अर्थात् प्रतिष्ठाचार्य या पूजकाचार्यसे ही सम्बन्ध रखता है। यद्यपि इस निबन्धमे पूजकाचार्यया

प्रतिष्ठाचार्यका स्वरूप विवेचनीय नही है तथापि प्रसंगवश यहाँपर उसका किंचित् दिग्दर्शन करादेना जरूरी है, जिससे, यह मालूम करके कि दूसरे शास्त्रोंमें भी प्राय. यही स्वरूप प्रतिष्ठाचार्य या पूजकाचार्य का वर्णन किया है, इस विषयमें फिर कोई सदेह वाकी न रहे। सवसे प्रथम धर्मसंग्रहश्रावकाचारको ही लीजिये। इस ग्रन्थके ६ वे अधिकारमें, नित्यपूजकका स्वरूप कथन करनेके अनन्तर, श्लोक नं १४५ से १५२ तक आठ श्लोको में पूजकाचार्यका स्वरूप वर्णन किया है। वे श्लोक इस प्रकार है:—

इदानीं पूजकाचार्यलक्षणं प्रतिपाद्यते।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो नानालक्षणलक्षितः॥ १४५॥
कुलजात्यादिसशुद्धः सद्दृष्टिर्देशसंयमी।
वेत्ता जिनागमस्याऽनालस्यः श्रुतवहुश्रुतः॥ १४६॥
ऋजुर्वाग्मी प्रसन्नोऽपि गंभीरो विनयान्वित.।
शौचाऽऽचमनसोत्साहो दानवान्कर्मकर्मठः॥ १४७॥
साङ्गोपाङ्गयुत. शुद्धो लक्ष्यलक्षणवित्सुधीः।
स्वदारी ब्रह्मचारी वा नीरोगः सत्क्रियारतः॥ १४८॥
वारिमंत्रव्रतस्नातः प्रोपधव्रतधारकः।
निरभिमानी च मौनी च त्रिसंध्यं देववन्दकः॥ १४९॥
श्रावकाचारपूतात्मा दीक्षाशिक्षागुणान्वितः।
क्रियापोडशभिः पूतो ब्रह्मसूत्रादिसंस्कृतः॥ १५०॥
न हीनाङ्गो नाऽधिकांगो न प्रलम्बो न वामनः।
न कुरूपी न मूढात्मा न वृद्धो नातिवालकः॥ १५१॥
न क्रोधादिकपायाढ्यो नार्थार्थी व्यसनी न च।
नान्त्यास्त्रयो न ताद्यौ श्रावकेपु न संयमी॥ १५२॥

इन उपर्युक्त पूजकाचार्यस्वरूपप्रतिपादक श्लोकोमे जो–"ब्राह्मणः (ब्राह्मण हो), क्षत्रियः (क्षत्रिय हो), वैश्यः (वैश्य हो), नानालक्षणलक्षितः (शरीरसे सुन्दर हो), सद्दृष्टिः (सम्यग्दृष्टि हो), देश-

संयमी (अणुव्रती हो), जिनागमस्य वेत्ता (जिनसंहिता आदि जैन-शास्त्रोंका जाननेवाला हो), अनालस्यः (आलस्य वा तन्द्रारहित हो), वाग्मी (चतुर हो), विनयान्वितः (मानकषायके अभावरूप विनय-सहित हो), शौचाचमनसोत्साहः (शौच और आचमन करनेमें उत्साहवान् हो), सांगोपांगयुतः (ठीक अंगोपागका धारक हो),शुद्धः (पवित्र हो), लक्ष्यलक्षणवित्सुधीः (लक्ष्य और लक्षणका जाननेवाला बुद्धिमान् हो), स्वदारी ब्रह्मचारी वा (स्वदारसतोषी हो या अपनी स्त्रीका भी त्यागी हो अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रतके जो दो भेद है उनमें-से किसी भेदका धारक हो), नीरोगः (रोग रहित हो), सत्क्रिया-रतः (नीची क्रियाके प्रतिकूल ऊची और श्रेष्ठ क्रिया करनेवाला हो), वारिमंत्रव्रतस्नातः (जलस्नान, मत्रस्नान और व्रतस्नानसे पवित्र हो), निरभिमानी (अभिमानरहित हो), न हीनांगः (अंग-हीन न हो) नाऽधिकांगः (अधिक अंगका धारक न हो), न प्रलम्बः (लम्बे कदका न हो), न वामनः (छोटे कदका न हो), न कुरूपी (बदसूरत न हो), न मूढात्मा (मूर्ख न हो), न वृद्धः (बूढा न हो), नाऽतिबालकः (अति बालक न हो), न क्रोधादिकषायाढ्यः (क्रोध, मान, माया, लोभ, इन कषायोंमेंसे किसी कषायका धारक न हो), न च व्यसनी (और पापाचारी न हो),"—इत्यादि विशेषण-पद आये है, उनसे प्रगट है कि उपर्युक्त जिनसंहितामें जो विशेषण पूजकके दिये है वे सब यहाँपर साफ तौरसे पूजकाचार्यके वर्णन किये है। बल्कि श्लो० न० १५१ तो जिनसंहिताके श्लोक नं ४ से प्रायः यहाँतक मिलता जुलता है कि एकको दूसरेका रूपान्तर कहना चाहिये। इसीप्रकार निम्नलिखित तीन श्लोकोंमें जो ऐसे पूजकके द्वारा कियेहुए पूजनका फल वर्णन किया है वह भी जिनसंहिताके श्लोक नं० ६ और ८ से बिल्कुल मिलता जुलता है।

ईदृग्दोषभृदाचार्यः प्रतिष्ठां कुरुतेऽत्र चेत्।
तदा राष्ट्रं पुरं राज्यं राजादिः प्रलयं व्रजेत् ॥ १५३ ॥

कर्ता फलं न चाप्नोति नैव कारयिता ध्रुवम्।
ततस्तल्लक्षणश्रेष्ठः पूजकाचार्य इष्यते ॥ १५४ ॥
पूर्वोक्तलक्षणैः पूर्णः पूजयेत्परमेश्वरम्।
तदा दाता पुरं देशं स्वयं राजा च वर्द्धते ॥ १५५ ॥

अर्थात्—यदि इन दोषोका धारक पूजकाचार्य कहीपर प्रतिष्ठा करावे, तो समझो कि देश, पुर, राज्य तथा राजादिक नाशको प्राप्त होते है और प्रतिष्ठा करने और करानेवाला दोनों भी अच्छे फलको प्राप्त नही होते, इसलिये उपर्युक्त उत्तम लक्षणोसे विभूषितही पूजकाचार्य (प्रतिष्ठाचार्य) कहा जाता है। ऊपर जो जो पूजकाचार्यके लक्षण कह आये हैं, यदि उन लक्षणोंसे युक्त पूजक परमेश्वरका पूजन (प्रतिष्ठादि विधान) करे तो उस समय धनका खर्च करनेवाला दाता, पुर, देश तथा राजा ये सब दिनोंदिन वृद्धिको प्राप्त होते हैं।

पूजासार ग्रन्थमें भी, नित्य पूजकका स्वरूप कथन करनेके अनन्तर श्लोक नं० १६ से २८ तक पूजकाचार्यका स्वरूप वर्णन किया गया है। इस स्वरूपमे भी पूजकाचार्यके प्राय वे ही सब विशेषण दिये गये है जो कि धर्मसग्रहश्रावकाचारमें वर्णित है और जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। यथा.—

"लक्षणोद्भासी[1], जिनागमविशारदः, सम्यग्दर्शनसम्पन्नः, देशसयमभूपित. वाग्मी, श्रुतबहुग्रन्थः, अनालस्यः, ऋजुः, विनयसयुतः, पूतात्मा[2], पूतवाग्वृत्ति[3], शौचाचमनतत्परः, सांगोपांगेन संशुद्धः, लक्षणलक्ष्यवित्, नीरोगी, ब्रह्मचारी च स्वदाराऽरतिकोऽपि वा, जलमंत्रव्रतस्नातः, निरभिमानी, विचक्षणः, सुरूपा, सत्क्रियः, वैश्यादिपु समुद्भव." इत्यादि।

इसी प्रकार प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रन्थके प्रथम परिच्छेदमे श्लोक

---

१ शरीरसे सुन्दर हो. २ पापाचारी न हो ३ सच बोलनेवाला हो तथा नीच क्रिया करके आजीविका करनेवाला न हो।

नं०१० से १६ तक जो प्रतिष्ठाचार्यका स्वरूप दिया गया है, उसमेंभी— "कल्याणांगः, रुजा हीनः, सकलेन्द्रियः, शुभलक्षणसम्पन्न, सौम्यरूपः, सुदर्शनः, विप्रो वा क्षत्रियो वैश्यः, विकर्मकरणोऽज्झितः, ब्रह्मचारी गृहस्थो वा, सम्यग्दृष्टिः, निःकषायः, प्रशान्तात्मा, वेश्यादिव्यसनोज्झितः, दृष्टसृष्टक्रियः, विनयान्वितः, शुचिः, प्रतिष्ठाविधिवित्सुधीः, महापुराणशास्त्रज्ञः, न चार्थार्थी, न च द्वेष्टि—"

इत्यादि विशेषण पदोंसे प्रतिष्ठाचार्यके प्रायः वे ही समस्त विशेषण वर्णन किये गये है, जो कि जिनसहितामें पूजकके और धर्मसंग्रहश्रावकाचार तथा पूजासार ग्रन्थोमें पूजकाचार्यके वर्णन किये है।

यह दूसरी बात है कि किसीने किसी विशेषणको संक्षेपसे वर्णन किया और किसीने विस्तारसे, किसीने एक शब्दमें वर्णन किया और किसीने अनेक शब्दोंमें; अथवा किसीने सामान्यतया एकरूपमें वर्णन किया और किसीने उसी विशेषणको शिष्योंको अच्छीतरह समझानेके लिये अनेक विशेषणोंमें वर्णन कर दिया, परन्तु आशय सबका एक है, अत. सिद्ध है कि जिनसंहितामे जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया है वह वास्तवमें प्रतिष्ठादिविधान करनेवाले पूजक अर्थात् पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका ही है।

इस प्रकार यह संक्षिप्त रूपसे, आचरण-सम्बधी कथनशैलीका रहस्य है। धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रन्थमें जो, साधारणनित्यपूजकका स्वरूप न लिखकर, ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका ही स्वरूप लिखा गया है उसका भी यही कारण है।

यद्यपि ऊपर यह दिखलाया गया है कि उक्त दोनो ग्रन्थोमें जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया गया है वह ऊँचे दर्जेके नित्य पूजकका स्वरूप होनेसे और उसमें शूद्रको भी स्थान दिये जानेसे शूद्र भी ऊँचे दर्जेका नित्यपूजक हो सकता है तथापि इतना और समझ लेना चाहिये कि शूद्र भी उन समस्त गुणोंका पात्र है जो कि, नित्यपूजकके स्वरूपमें वर्णन किये गये हैं और वह ११ वी प्रतिमाको

धारण करके ऊँचे दर्जेका श्रावक भी हो सकता है, अतः उसके ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक हो सकनेमें कोई बाधक भी प्रतीत नही होता। वह पूर्णरूपसे नित्यपूजनका अधिकारी है।

अब जिन लोगोका ऐसा खयाल है कि शूद्रोका उपनीति (यज्ञोपवीतधारण) संस्कार नही होता और इसलिये वे पूजनके अधिकारी नही हो सकते; उनको समझना चाहिये कि पूजनके किसी खास भेदको छोड़कर आमतौर पर पूजनके लिये यज्ञोपवीत (ब्रह्मसूत्र-जनेऊ) का होना जरूरी नही है। स्वर्गादिकके देव और देवागनाये प्रायः सभी जिनेन्द्रदेवका नित्यपूजन करते है और खास तौरसे पूजन करनेके अधिकारी वर्णन किये गये है, परन्तु उनका यज्ञोपवीत संस्कार नही होता। ऐसी ही अवस्था मनुष्य-स्त्रियोंकी है। वे भी जगह जगह शास्त्रोमें पूजनकी अधिकारिणी वर्णन की गई हैं— स्त्रियोकी पूजन-सम्बन्धिनी असख्य कथाओसे जैनसाहित्य भरपूर है—उनका भी यज्ञोपवीत-सस्कार नही होता। ऊपर उल्लेख की हुई कथाओमे जिन गज-ग्वाल आदिने जिनेन्द्रदेवका पूजन किया है, वे भी यज्ञोपवीत-सस्कारसे सस्कृत (जनेऊके धारक) नहीं थे। इससे प्रगट है कि नित्यपूजकके लिये यज्ञोपवीत-संस्कारसे संस्कृत होना लाजमी और जरूरी नहीं है और न यज्ञोपवीत पूजनका चिन्ह है। बल्कि वह द्विजोंके व्रतका चिन्ह है; जैसा कि आदिपुराण पर्व ३८-३९-४१मे, भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्नलिखित वाक्योंसे प्रगट है:—

"व्रतचिन्हं दधत्सूत्रम् ......"
"व्रतसिद्ध्यर्थमेवाऽहमुपनीतोऽस्मि साम्प्रतम् ..."
"व्रतचिन्ह भवेदस्य सूत्रं मंत्रपुरःसरम् ..."
"व्रतचिन्ह च नः सूत्र पवित्रं सूत्रदर्शितम्।"
"व्रतचिन्हानि सूत्राणि गुणभूमिविभागत।"

वर्त्तमान प्रवृत्ति (रिवाज) की ओर देखनेसे भी यही मालूम होत

है कि नित्यपूजनके लिये जनेऊका होना जरूरी नही समझा जाता; क्योंकि स्थान-स्थानपर नित्यपूजन करनेवाले तो बहुत है परंतु यज्ञोपवीतसंस्कारसे संस्कृत (जनेऊधारक) बिरले ही जैनी देखनेमें आते हैं। और उनमें भी बहुतसे ऐसे पाये जाते हैं जिन्होंने नाममात्र कन्धेपर सूत्र (तागा) डाल लिया है, वैसे यज्ञोपवीत संबंधी क्रियाकर्मसे वे कोसों दूर है। दक्षिण देशको छोड़कर अन्य देशोंमें तथा खासकर पश्चिमोत्तर प्रदेश अर्थात् युक्तप्रांत और पंजाबदेशमें तो यज्ञोपवीतसंस्कारकी प्रथा ही, एक प्रकारसे, जैनियोंसे उठ गई है; परन्तु नित्यपूजन सर्वत्र बराबर होता है। इससे भी प्रगट है कि नित्यपूजनके लिये जनेऊका होना आवश्यक कर्म नही है और इसलिये जनेऊका न होना शूद्रोंको नित्यपूजन करनेमें किसी प्रकार भी बाधक नही हो सकता। उनको नित्यपूजनका पूरा पूरा अधिकार प्राप्त है।

यह दूसरी बात है कि कोई अस्पृश्य शूद्र, अपनी अस्पृश्यताके कारण, किसी मदिरमें प्रवेश न कर सके और मूर्तिको न छू सके; परन्तु इससे उसका पूजनाधिकार खंडित नही हो जाता। वह अपने घरपर त्रिकाल-देववन्दना कर सकता है, जो पूजनमें दाखिल है। तथा तीर्थस्थानों, अतिशयक्षेत्रों और अन्य ऐसे पर्वतो पर—जहाँ खुले मैदानमें जिनप्रतिमाएँ विराजमान है और जहाँ भील, चाण्डाल तथा म्लेच्छ तक भी बिना रोकटोक जाते है—जाकर दर्शन और पूजन कर सकता है। इसी प्रकार वह बाहरसे भी मंदिरके शिखरादिकमें स्थित प्रतिमाओका दर्शन और पूजन कर सकता है। प्राचीन समयमें प्रायः जो जिनमंदिर बनवाये जाते थे उनके शिखर या द्वार आदिक अन्य किसी ऐसे उच्च स्थानपर, जहाँ सर्वसाधारणकी दृष्टि पड़ सके, कमसेकम एक जिनप्रतिमा ज़रूर विराजमान की जाती थी, ताकि (जिससे) वे जातियाँ भी, जो अस्पृश्य होनेके कारण, मंदिरमें प्रवेश नही कर सकती, बाहरसे ही दर्शनादिक कर सके। यद्यपि आजकल ऐसे मंदिरोंके बनवानेकी वह प्रशंसनीय प्रथा जाती रही है—जिसका

प्रधान कारण जैनियोका क्रमसे ह्रास और इनमेसे राजसत्ताका सर्वथा लोप हो जाना ही कहा जा सकता है—तथापि दक्षिण देशमें, जहाँ-पर अन्तमें जैनियोका बहुत कुछ चमत्कार रह चुका है और जहाँसे जैनियोका राज्य उठे हुए बहुत अधिक समय भी नही हुआ है, इस समय भी ऐसे जिनमंदिर विद्यमान हैं जिनके शिखरादिकमें जिनप्रति-माएँ अंकित है।

इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों ही वर्णके सब मनुष्य नित्यपूजनके अधिकारी है और खुशीसे नित्यपूजन कर सकते हैं। नित्यपूजनमे उनके लिये यह नियम नहीं है कि वे पूजकके उन समस्त गुणोको प्राप्त करके ही पूजन कर सकते हों, जो कि धर्म-सग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रन्थोमे वर्णन किये हैं। बल्कि उनके विना भी वे पूजन कर सकते हैं और करते है। क्योंकि पूजकका जो स्वरूप उक्त ग्रन्थोमे वर्णन किया है वह ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका है और जब वह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका है तब यह स्वतः सिद्ध है कि उस स्वरूपमे वर्णन किये हुए गुणोमेसे यदि कोई गुण किसीमे न भी होवे तो भी वह पूजनका अधिकारी और नित्यपूजक हो सकता है। दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि जिनके हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (परस्त्रीसेवन) परिग्रह इन पंच पापो या इनमेसे किसी पापका त्याग नही है, जो दिग्विरति आदि सप्तशीलव्रत या उनमेसे किसी शीलव्रतके धारक नही हैं, अथवा जिनका कुल और जाति शुद्ध नही है या इसी प्रकार और भी किसी गुणसे जो रहित हैं, वे भी नित्य-पूजन कर सकते है और उनको नित्यपूजनका अधिकार प्राप्त है।

यह दूसरी बात है कि गुणोकी अपेक्षा उनका दर्जा क्या होगा? अथवाकी फल प्राप्तिमे अपने अपने भावोंकी अपेक्षा उनमें क्या कुछ न्यूनाधिकता (कमी वेशी) होगी ? और वह यहाँपर विवेच-नीय नही है।

यद्यपि आजकल अधिकाश ऐसे ही गृहस्थ जैनी पूजन करते हुए

देखे जाते है जो हिंसादिक पॉच पापोंके त्यागरूप पंचअणुव्रत या दिग्विरति आदि सप्तशीलव्रतके धारक नहीं हैं, तथापि प्रथमानुयोगके ग्रन्थोंको देखनेसे मालूम होता है कि, ऐसे लोगोंका यह (पूजनका) अधिकार अर्वाचीन नही, बल्कि प्राचीन समयसे ही उनको प्राप्त है। जहॉ तहाँ जैनशास्त्रोंमें दिये हुए अनेक उदाहरणोंसे इसकी भले प्रकार पुष्टि होती है। यथाः—

लंकाधीश महाराज रावण परस्त्रीसेवनका त्यागी नही था, प्रत्युत वह परस्त्रीलम्पट विख्यात है। इसी दुर्वासनासे प्रेरित होकर ही उसने प्रसिद्ध सती सीताका हरण किया था। इस विषयमें उसकी जो कुछ भी प्रतिज्ञा थी वह एतावन्मात्र (केवल इतनी) थी कि, 'जो कोई भी परस्त्री मुझको नहीं इच्छेगी, मैं उससे बलात्कार नही करूंगा।' नहीं कह सकते उसने कितनी परस्त्रियोंका—जो किसी भी कारणसे उससे रजामंद (सहमत) होगई हो—सतीत्वभंग किया होगा अथवा उक्त प्रतिज्ञासे पूर्व कितनी परदाराओसे बलात्कार भी किया होगा। इस परस्त्रीसेवनके अतिरिक्त वह हिंसादिक अन्य पापोंका भी त्यागी नही था। दिग्विरति आदि सप्तशील व्रतोंके पालनकी तो वहा बात ही कहाँ? परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराणमें अनेक स्थानोंपर ऐसा वर्णन मिलता है कि—'महाराजा रावणने बड़ी भक्तिपूर्वक श्रीजिनेद्रदेवका पूजन किया। रावणने अनेक जिनमंदिर बनवाये। वह राजधानीमे रहते हुए अपने राजमन्दिरोंके मध्यमें स्थित श्रीशातिनाथके सुविशाल चैत्यालयमें पूजन किया करता था। बहुरूपिणी विद्याको सिद्ध करनेके लिये बैठनेसे पूर्व तो उसने इस चैत्यालयमें बड़े ही उत्सवके साथ पूजन किया था और अपनी समस्त प्रजाको पूजन करनेकी आज्ञा दी थी। सुदर्शन मेरु और कैलाश पर्वत आदिके जिनमन्दिरोंका उसने पूजन किया और साक्षात् केवली भगवानका भी पूजन किया था।'

कौशांबी नगरीका राजा सुमुख भी परस्त्रीसेवनका त्यागी नही था। उसने बीरक सेठकी स्त्री वनमालाको अपने घरमें डाल लिया था। फिर भी उसने महातपस्वी वरधर्म नामके मुनिराजको वनमालासहित आहार दिया और पूजन किया। यह कथा जिनसेनाचार्यकृत तथा जिनदासब्रह्मचारिकृत दोनो हरिवंश पुराणोंमें लिखी है।

इसी प्रकार और भी सैकड़ों प्राचीन कथाएँ विद्यमान हैं, जिनमें पापियो तथा अव्रतियोका पापाचरण कही भी उनके पूजनका प्रतिबंधक नही हुआ और न किसी स्थानपर ऐसे लोगोके इस पूजनकर्मको असत्कर्म बतलाया गया। वास्तवमे, यदि विचार किया जाय तो मालूम होगा कि जिनेद्रदेवका भावपूर्वक पूजन स्वयं पापोका नाश करनेवाला है, शास्त्रोमे उसे अनेक जन्मोके संचित पापोको भी क्षण मात्रमें भस्म कर देनेवाला वर्णन किया है*। इसीसे पापोंकी निवृत्तिपूर्वक इष्ट-सिद्धिके लिये लोग जिनदेवका पूजन करते हैं। फिर पापाचरणियोंके लिये उसका निषेध कैसे हो सकता है? उनके लिये तो ऐसी अवस्थामे, पूजनकी और भी अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। पूजासार ग्रन्थमें साफ ही लिखा है कि.—

ब्रह्मघ्नोऽथवा गोघ्नो वा तस्कर: सर्वपापकृत।
जिनांघ्रिगंधसम्पर्कान्मुक्तो भवति तत्क्षणम्॥

अर्थात्—जो ब्रह्महत्या या गोहत्या किये हुए हो, दूसरोंका माल चुरानेवाला चोर हो अथवा इससे भी अधिक सम्पूर्ण पापोका करनेवाला भी क्यों न हो, वह भी जिनेद्र भगवानके चरणोका भक्तिभावपूर्वक चंदनादि सुगध द्रव्योसे पूजन करनेपर तत्क्षण उन पापोसे छुटकारा पानेमे समर्थ होजाता है। इससे साफ तौर पर प्रगट है कि

---

* जिनपूजा कृता हन्ति पाप नानाभवोद्भवम्।
बहुकालचितं काष्ठराशिं वन्हिमिवाखिलम्॥९–१०३॥
—धर्मसग्रहश्रावकाचार

पापीसे पापा और कलंकीसे कलंकी मनुष्य भी श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन कर सकता है और भक्तिभावसे जिनदेवका पूजन करके अपने आत्माके कल्याणकी ओर अग्रसर हो सकता है। इसलिये जिसप्रकार भी बन सके सबको नित्यपूजन करना चाहिये। सभी नित्यपूजनके अधिकारी है और इसीलिये ऊपर यह कहा गया था कि इस नित्यपूजनपर मनुष्य, तिर्यंच, स्त्री, पुरुष, नीच, ऊँच, धनी, निर्धनी, व्रती, अव्रती, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती और देवता सबका समानाधिकार है। समानाधिकारसे यहाँ कोई यह अर्थ न समझ लेवे कि सब एक साथ मिलकर,एक थालीमें एक संदली या चौकीपर अथवा एक ही स्थानपर पूजन करनेके अधिकारी है, किन्तु इसका अर्थ केवल यह है कि सभी पूजनके अधिकारी है । वे, एक रसोई या भिन्न भिन्न रसोईयोसे भोजन करनेके समान, आगे पीछे, बाहर भीतर, अलग और शामिल, जैसा अवसर हो और जैसी उनकी योग्यता उनको इजाजत (आज्ञा) दे, पूजन कर सकते है।

दस्साधिकार

यद्यपि अब कोई ऐसा मनुष्य या जाति-विशेष नही रही जिसके पूजनाधिकारकी मीमासा की जाय—जैनधर्ममें श्रद्धा और भक्ति रखनेवाले ऊँच-नीच सभी प्रकारके मनुष्योंको नित्यपूजनका अधिकार प्राप्त है—तथापि इतनेपर भी जिनके हृदयमें इस प्रकारकी कुछ शंका अवशेष हो कि दस्से (गोटे) जैनी भी पूजन कर सकते हैं या कि नही, उनको इतना और समझ लेना चाहिये कि जैनधर्ममें दस्से' और 'बीसे' का कोई भेद नही है, न कही पर जैनशास्त्रोमें 'दस्से' और 'बीसे' शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णोंसे बाह्य(बाहर) बीसोंका कोई पाँचवाँ वर्ण नही है उसी प्रकार दस्सोंका भी कोई भिन्न वर्ण नही है। चारों वर्णोंमें ही उनका भी अन्तर्भाव

है। चारों ही वर्णके सभी मनुष्योंको पूजनका अधिकार प्राप्त होनेसे उनको भी वह अधिकार प्राप्त है। वैश्य जातिके दस्सोंका वर्ण वैश्य ही होताहै*। वे वैश्य होनेके कारण शूद्रोंसे ऊँचा दर्जा रखते है और शूद्र लोग मनुष्य होनेके कारण तिर्यंचोसे ऊँचा दर्जा रखते हैं। जब शूद्र तो शूद्र, तिर्यंच भी पूजनके अधिकारी वर्णन किये गये हैं और तिर्यंच भी कैसे ? मेंढक जैसे ! तब वैश्यजातिके दस्से पूजनके अधिकारी कैसे नही ? क्या वे जैनगृहस्थ या श्रावक नही होते ? अथवा श्रावकके बारह व्रतोको धारण नही कर सकते ? जब दस्से लोग यह सब कुछ होते है और यह सब कुछ अधिकार उनको प्राप्त है, तब वे पूजन के अधिकारसे कैसे वंचित रक्खे जा सकते है ? पूजन करना गृहस्थ जैनियोका परमावश्यक कर्म है। उसके साथ अग्रवाल, खंडेलवाल या परवार आदि जातियोका कोई बन्धन नही है—सबके लिये समान उपदेश है—जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुये आचार्योंके वाक्यों से प्रगट है। परमोपकारी आचार्योंने तो ऐसे मनुष्योंको भी पूजनाधिकारसे वंचित नही रक्खा जो आकंठ पापमें मग्न है और पापीसे पापी कहलाते हैं। फिर वैश्य जातिके दस्सोंकी तो बात ही क्या हो सकती है ? श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजका तो वचन ही यह है कि बिना पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता। दस्से लोग श्रावक होते ही है, इससे उनको पूजनका अधिकार स्वतः सिद्ध है और वे बराबर पूजनके अधिकारी है।

शोलापुरमें दस्से जैनियोंके बनाये हुए तीन शिखरबन्द मंदिर और अनेक चैत्यालय मौजूदहै। ग्वालियरमे भी दस्सोंका एक मंदिर है, सिवनीकी तरफ दस्से भाइयोंके बहुतसे जैनमंदिरहैं। श्रीसम्मेदशिखर शत्रुंजय, मांगीतुंगी और कुन्थलगिरि तीर्थो पर शोलापुर वाले

---

* वैश्यजातिके दस्सोंको छोटीसरण (श्रेणि) या 'छोटीसेन'के बनिये अथवा 'बिनैकया' भी कहते है।

प्रसिद्ध धनिक श्रीमान् हरिभाई देवकरणजी दस्साके बनवाये हुए जिन मंदिर हैं। इन समस्त मंदिर और चैत्यालयोंमें दस्सा, बीसा, सभी लोग बराबर पूजन करते है।

शोलापुरके प्रसिद्ध विद्वान सेठ हीराचंद नेमिचंदजी आनरेरी मजिस्ट्रेट दस्सा जैनी हैं। उनके घरमें एक चैत्यालय है, जिसमें वे और अन्य भाई सभी पूजन करते है। इसी प्रकार अन्य स्थानोंपर भी दस्सा जैनियोंके मन्दिर है, जिनमें सब लोग पूजन करते है। जहाँ उनके पृथक् मदिर नही है वहाँ वे प्राय. बीसोंके मदिरमें ही दर्शन-पूजन करते है।

यह दूसरी वात है कि कोई एक द्रव्य या दो द्रव्यसे पूजन करनेको अथवा मंदिरके वस्त्रो और मंदिरके उपकरणोंमें पूजन न करके अन्य वस्त्रादिकोमें पूजन करनेको पूजन ही न समझता हो, और इसी अभिप्रायके अनुसार कही कहीके बीसे अपने मदिरोंमें दस्सोंको मंदिरके वस्त्र पहनकर और मंदिरके उपकरणोंको लेकर अष्ट द्रव्यसे पूजन न करने देते हों, परन्तु इसको केवल उनकी कल्पना ही कह सकते है—शास्त्रोमें इसका कोई आधार और प्रमाण नही है। पूजन-सिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपके अनुसार वह पूजन अवश्य है। तीर्थस्थानों और अतिशयक्षेत्रोंकी पूजा-वन्दनाको दस्से-बीसे सभी जाते है और सभी अष्टद्रव्यसे पूजन करते है।

श्रीतारंगाजी तीर्थपर नानचंद पदमसा नामके एक मुनीम है जो दस्सा जैनीहै। वे उक्त तीर्थपर बीसोंके मदिरोमें, मदिरके वस्त्रोको पहन कर और मदिरके उपकरणोको लेकर ही, नित्य अष्ट द्रव्यसे पूजन करते है। अन्य स्थानोपर भी—जहाँके वीसोमे इस प्रकारकी कल्पना नही है—दस्सा जैनी बीसोंके मंदिरमे उसी प्रकार अष्ट द्रव्यादिसे पूजन करते है जिसप्रकार कि वे अपने मदिरोमें करते है। जिनको ऐस देखनेका अवसर न मिला हो वे दक्षिण देशकी ओर जाकर स्वयं देख सकते है। उधर जाने पर उनको ऐसी जैन जातियाँ भी आम तौरपर

पूजन करती हुई मिलेंगी जिनमे पुनर्विवाहकी प्रथा भी जारी है।

इसके अतिरिक्त दस्सा जैनियोने अनेक प्रतिष्ठाएँ भी कराई है। एक प्रतिष्ठा शोलापुरके सेठ रावजी नानचन्दने कराई थी। पिछले साल भी दस्सा जैनियोंकी दो प्रतिष्ठाएँ हो चुकी है। प्रतिष्ठा कराने वाले भगवानकी प्रतिमाके साथ रथादिकमे बैठते है और स्वयं भगवानका अष्ट द्रव्यसे पूजन करते हैं। इसप्रकार प्रवृत्ति भी दस्सोंके पूजनाधिकारका भले प्रकार समर्थन करती है। इसलिये दस्सोंको बीसोंके समान ही पूजनका अधिकार प्राप्त है।

किसी किसीका कहना है कि अपध्वंसज अर्थात् व्यभिचारजात-को ही दस्सा कहते हैं और व्यभिचारजात पूजनके अधिकारी नही होते, परन्तु ऐसा कहनेमें कोइ प्रमाण नही है। जब प्रवृत्तिकी ओर देखते है तो वह भी इसके विरुद्ध पाई जाती है—जो मनुष्य किसी विधवा स्त्रीको प्रगट रूपसे अपने घरमे डाल लेता है अर्थात् उसके साथ कराओ (धरेजा) कर लेता है वह स्वयं व्यभिचारजात (व्यभिचारसे पैदा हुआ मनुष्य) न होते हुए भी 'दस्सा' समझा जाता है। यदि कोई बीसा किसी नीच जाति (शूद्रादिक) की कन्यासे विवाह कर लेता है तो वह भी आजकल जातिसे च्युत किया जाकर दस्सा या गाटा बनादिया जाता है और उसकी संतान भी दस्सोंमे ही परिगणित होती है। इसीप्रकार यदि विधवाके साथ कराओ कर लेनेसे कोई पुत्र पैदा हो और उसका विवाह विधवासे न होकर किसी कन्यासे हो तो विधवा-पुत्रकी सतान 'व्यभिचारजात' न होते हुए भी 'दस्सा' ही कहलाती हैं। बहुधा वह संतान जो भर्तारके जीवित रहते हुए जारसे उत्पन्न होती है, व्यभिचारजात होते हुए भी, दस्सोंमे शामिल नही की जाती। कही कही पर दस्सेकी कन्यासे विवाहकर लेनेवाले बीसेको भी जातिसे खारिज(च्युत) करके दस्सोमे शामिल कर देते है,परन्तु बम्बई और दक्षिण प्रान्तादि बहुतसे स्थानोंमे यह प्रथा नही है। वहाँपर दस्सों और बीसोंमे परस्पर विवाह

संबंध होनेसे कोई जातिच्युत नही किया जाता। हमारी भारतवर्षीय दिगम्बरजैनमहासभाके सभापति, जैनकुलभूषण श्रीमान् सेठ माणिकचंदजी जे.पी. बम्बईके भाई पानाचंदजीका विवाह भी एक दस्सेकी कन्यासे हुआ था; परन्तु इससे उनपर कोई कलंक नही आया और कलंक आनेकी कोई बात भी न थी। प्राचीन और समीचीन प्रवृत्ति भी, शास्त्रोमें, ऐसी ही देखी जाती है, जिससे ऐसे विवाह सम्बन्धों पर कोई दोषारोपण नही हो सकता। अधिक दूर जानेकी जरूरत नहीं है। श्रीनेमिनाथजी तीर्थंकरके चचा वसुदेवजीको ही लीजिये। उन्होंने एक व्यभिचारजातकी पुत्रीसे, जिसका नाम प्रियगुसुन्दरी था, विवाह किया था। प्रियंगुसुन्दरीके पिताका अर्थात् उस व्यभिचारजातका नाम एणीपुत्र था। वह एक तापसीकी कन्या ऋषिदत्तासे, जिससे श्रावस्ती नगरीके राजा शीलायुधने व्यभिचार किया था और उस व्यभिचारसे उक्त कन्याको गर्भ रह गया था, उत्पन्न हुआ था। यह कथा श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमे लिखी है। इस विवाहसे वसुदेवजी पर, जो बड़े भारी जैनधर्मी थे, कोई कलक नहीं आया। न कही पर वे पूजनाधिकारसे वचित रक्खे गये। बल्कि उन्होने श्रीनेमिनाथजीके समवसरणमें जाकर साक्षात् श्रीजिनेद्रदेवका पूजन किया है और उनकी उक्त 'प्रियगुसुन्दरी' राणीने जिनदीक्षा धारण×की है। इससे प्रगट है कि व्यभिचारजातका ही नाम दस्सा नहीं है और न कोई व्यभिचारजात (अपध्वंसज) पूजनाऽधिकारसे वंचित है। "शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः"—समस्त अपध्वंसज (व्यभिचारसे उत्पन्न हुए मनुष्य) शूद्रोके समानधर्मी है—यह वाक्य यद्यपि मनुस्मृतिका है, परन्तु यदि इस वाक्यको सत्य भी मान लिया जाय और अपध्वंसजोंको ही दस्से समझ लिया जाय, तो भी वे पूजनाधिकारसे वंचित नही हो सकते।

× व्यभिचारजात भी दस्सा होता है ऐसा कह सकते है।

क्योंकि शूद्रोंको साफ तौरसे पूजनका अधिकार दिया गया है, जिसका कथन ऊपर विस्तारके साथ आचुका है। जव शूद्रोंको पूजनका अधिकार प्राप्त है, तव उनके समान धर्मियोंको उस अधिकारका प्राप्त होना स्वतः सिद्ध है।

पूजनका अधिकार ही क्या ? जैनशास्त्रोके देखनेसे तो मालूम होता है कि अपध्वंसज लोग जिनदीक्षा तक धारण कर सकते हैं, जिसकी अधिकार-प्राप्ति शूद्रोंको भी प्राय. नही कही जाती। उदाहरणके तौरपर राजा कर्णको ही लीजिये। राजा कर्ण एक कुँवारी कन्यासे व्यभिचार-द्वारा उत्पन्न हुआ था और इसलिये वह अपध्वंसज' और 'कानीन' कहलाता है। श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवश-पुराणमें लिखा है कि महाराजा जरासिधके मारे जानेपर राजा कर्णने सुदर्शन नामके उद्यानमें जाकर दमवर नामके दिगम्बर मुनिके निकट जिनेश्वरी दीक्षा धारण की। श्रीजिनदास ब्रह्मचारिकृत हरिवंश-पुराणमे भी ऐसा ही लिखा है, जैसा कि उसके निम्नलिखित श्लोकसे प्रगट है —

विजितोऽप्यरिभिः कर्णो निर्विण्णो मोक्षसौख्यदाम्।
दीक्षां सुदर्शनोद्यानेऽग्रहीद्दमवरान्तिके ॥ २६-२०८ ॥

अर्थात्—शत्रुओंसे विजित होनेपर राजा कर्णको वैराग्य उत्पन्न होगया और तव उन्होने सुदर्शन नामके उद्यानमें जाकर श्रीदमवर नामके मुनिके निकट, मोक्षका सुख प्राप्त करानेवाली. जिनदीक्षा धारण की।

इससे यह भी प्रगट हुआ कि 'अपध्वसज' लोग अपने वर्णको छोडकर 'शूद्र' नही हो जाते, वल्कि वे शूद्रोसे कथचित् ऊचा दर्जा रखते है और इसलिये दीक्षा धारण कर सकते है। ऐसी अवस्थामे उनका पूजनाऽधिकार और भी निर्विवाद हो जाता है।

यदि थोडी देरके लिये व्यभिचारजातको पूजनाऽधिकारसे वचित रक्खा जावे तो कुंड, गोलक, कानीन और सहोढादिक सभी प्रकारके

व्यभिचारजात पूजनाधिकारसे वंचित रहेंगे। भर्तारके जीवित रहनेपर जो संतान जारसे उत्पन्न होती है वह 'कुंड' कहलाती है। भर्तारके मरे पीछे जो संतान जारसे उत्पन्न होती है उसको 'गोलक' कहते हैं। अपनी माताके घर रहनेवाली कुँवारी कन्यासे व्यभिचार-द्वारा जो संतान उत्पन्न होती है वह 'कानीन' कही जाती है और जो संतान ऐसी कुँवारी कन्याको गर्भ रह जानेके पश्चात् उसका विवाह हो जानेपर उत्पन्न होती है,उसको'सुहोढ'कहते है। इन चारों भेदों-मेंसे गोलक और कानीनकी परीक्षा (पहचान) तथा प्राय: सहोढकी परीक्षा भी आसानीसे हो सकती है, परन्तु कुंडसंतानकी परीक्षाका और खासकर ऐसी कुडसंतानकी परीक्षाका कोई साधन नही है, जो भर्त्तारके बारहो महीने निकट रहते हुए अर्थात् परदेशमें न होते हुए उत्पन्न हो। कुडकी माताके सिवा और किसीको यह रहस्य मालूम नही हो सकता। बल्कि कभी कभी तो उसको भी इसमें भ्रम होना संभव है—वह भी ठीक ठीक नही कह सकती कि यह संतान जारसे उत्पन्न हुई या असली भर्त्तारसे। व्यभिचारजातको पूजनाऽधि-कारसे वंचित करने पर कुंडसंतान भी पूजन नही कर सकती, और कुंड-सतानकी परीक्षा न हो सकनेसे संदिग्धावस्था उत्पन्न होती है। सदिग्धाऽवस्थामे किसीको भी पूजन करनेका अधिकार नही होसकता; इससे पूजन करनेका ही अभाव सिद्ध हो जायगा, यह बड़ी भारी हानि होगी। अत. कोई व्यभिचारजात पूजनाऽधिकारसे वंचित नही होसकता। दूसरे, जब पापीसे पापी मनुष्य भी नित्यपूजन कर सकते है तो फिर कोरे व्यभिचारजातकी तो बात ही क्या हो सकती है ? वे अवश्य पूजन कर सकते है।

वास्तवमें, यदि विचार किया जाय तो, जैनमतके पूजनसिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपाऽनुसार, कोई भी मनुष्य नित्यपूजनके अधि-कारसे वंचित नही रह सकता। जिन लोगोने परमात्माको रागी, द्वेषी माना है—पूजन और भजनसे परमात्मा प्रसन्न होता है, ऐसा जिन-

का सिद्धान्त है– और जो आत्मासे परमात्मा बनना नही मानते, यदि वे लोग शूद्रोको या अन्य नीच मनुष्योको पूजनके अधिकारसे वंचित रक्खे तो कुछ आश्चर्य नही, क्योकि उनको यह भय हो सकता है कि, कही नीचे दर्जेके मनुष्योके पूजन कर लेनेसे या उनको पूजन करने देनेसे परमात्मा कुपित न हो जावे और उन सभीको फिर उसके कोपका प्रसाद न चखना पड़े। परन्तु जैनियोका ऐसा सिद्धान्त नही है। जैनी लोग परमात्माको परम वीतरागी शान्तस्वरूप और कर्ममलसे रहित मानते है। उनके इष्ट परमात्मामें राग, द्वेष, मोह और काम-क्रोधादिक दोषोका सर्वथा अभाव है। किसीकी निन्दा-स्तुतिसे उस परमात्मामें कोई विकार उत्पन्न नही होता और न उसकी वीतरागता या शान्ततामे किसी भी कारणसे कोई बाधा उपस्थित हो सकती है। इसलिये किसी क्षुद्र या नीचे दर्जेके मनुष्यके पूजन कर लेनेसे परमात्माकी आत्मामे कुछ मलिनता आ जायगी, उसकी प्रतिमा अपूज्य हो जायगी अथवा पूजन करनेवालेको कुछ पाप-बन्ध हो जायगा, इस प्रकारका कोई भय ज्ञानवान् जैनियोंके हृदयमे उत्पन्न नही हो सकता। जैनियोके यहां इस समय भी चांदनपुर (महावीरजी)आदि अनेक स्थानोपर ऐसी प्रतिमाओंके प्रत्यक्ष दृष्टान्त मौजूद है, जो शूद्र या बहुत नीचे दर्जेके मनुष्योंद्वारा भूगर्भसे निकाली गई, स्पर्शी गई, पूजी गई और पूजी जाती है, परन्तु इससे उनके स्वरूपमें कोई परिवर्त्तन नही हुआ, न उनकी पूज्यतामे कोई फर्क (भेद) पड़ा और न जैनसमाजको ही उसके कारण किसी अनिष्टका सामना करना पडा, प्रत्युत वे बराबर जैनियोसेही नही किन्तु अजैनियोंसे भी पूजी जाती हैं और उनके द्वारा सभी पूजकोका हितसाधन होनेके साथ साथ धर्मकी भी अच्छी प्रभावना होती है। अत जैनसिद्धान्तके अनुसार किसी भी मनुष्यके लिये नित्यपूजनका निषेध नही हो सकता। दस्सा, अपध्यसज्ज या व्यभिचारजात सबको इस पूजनका पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यह दूसरी बात है कि—अपने आन्तरिक

द्वेष, आपसी वैमनस्य, धार्मिक भावोंके अभाव और हृदयकी संकीर्णता आदि कारणोंसे—एक जैनी किसी दूसरे जैनीको अपने घरू या अपने अधिकृत मंदिरमें ही न आने दे अथवा आने तो दे किन्तु उसके पूजन कार्यमें किसी न किसी प्रकारसे वाधक हो जावे। ऐसी बातोंसे किसी व्यक्तिके पूजनाऽधिकार पर कोई असर नहीं पड सकता। वह व्यक्ति खुशीसे उस मंदिरमें नही, तो अन्यत्र पूजन कर सकता है। अथवा स्वयं समर्थ और इस योग्य होने पर अपना दूसरा नवीन मंदिर भी बनवा सकता है। अनेक स्थानोंपर ऐसे भी नवीन मंदिरोंकी सृष्टिका होना पाया जाता है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि आगम और सिद्धान्तसे तो दस्सोंको पूजनका अधिकार सिद्ध है और अधिकतर स्थानों पर वे बराबर पूजन करते भी है, परन्तु कही कही दस्सोंको जो पूजनका निषेध किया जाता है वह किसी जातीय अपराधके कारण एक प्रकारका तत्रस्थ जातीय दंड है, तो कहना होगा कि शास्त्रोंकी आज्ञाको उल्लघन करके धर्मगुरुओंके उद्देश्य-विरुद्ध ऐसा दंडविधान करना कदापि न्यायसगत और माननीय नही हो सकता और न किसी सभ्य जातिकी ओरसे ऐसी आज्ञाका प्रचारित किया जाना समुचित प्रतीत होता है कि 'अमुक मनुष्य धर्मसेवनसे वंचित किया गया और उसकी संतानपरम्परा भी धर्मसेवनसे वंचित रहेगी।'

सासारिक विषयवासनाओंमें फँसे हुए मनुष्य वैसे ही धर्मकार्योमे शिथिल रहते है, उलटा उनको दड भी ऐसा ही दिया जावे कि वे धर्मके कार्य न करने पावे, यह कहांकी बुद्धिमानी, वत्सलता और जातिहितैषिता होसकती है? सुदूरदर्शी विद्वानोकी दृष्टिमे ऐसा दड कदापि आदरणीय नही हो सकता। ऐसे मनुष्योंके किसी अपराधके उपलक्षमे तो वही दंड प्रशसनीय हो सकता है जिससे धर्मसाधन तथा अपने आत्म-सुधारका और अधिक अवसर मिले और उसके द्वारा वे अपने पापोका शमन या सशोधन कर सके—न यह कि डूबतेको

और धक्का दिया जावे। बिरादरी या जातिका यह कर्तव्य नहीं है कि वह किसीसे धर्मके कार्य छुड़ाकर उसको पाप-कार्योंके करनेका अवसर देवे।

इसके सिवा जो धर्माऽधिकार किसीको स्वाभाविक रीतिसे प्राप्त है उसके छीन लेनेका किसी बिरादरी या पंचायतको अधिकार ही क्या है ? बिरादरीके किसी भाईसे यदि बिरादरीके किसी नियमका उल्लघन हो जावे या कोई अपराध बन जावे तो उसके लिये बिरादरीका केवल इतना ही कर्त्तव्य हो सकता है कि वह उस भाई पर कुछ आर्थिक दड कर देवे या उसको अपने अपराधका प्रायश्चित्त लेनेके लिये वाधित करे और जब तक वह अपने अपराधका योग्य प्रायश्चित्त न ले ले तब तक बिरादरी उसको बिरादरीके कामोमे अर्थात् विवाह-शादी आदिक लौकिक कार्योंमें शामिल न करे और न बिरादरी उसके यहाँ ऐसे कार्योंमे सम्मिलित हो। इसी प्रकार वह उससे खाने पीने लेने देने और रिश्तेनातेका सम्बन्ध भी छोड़ सकती है। परन्तु, इससे अधिक, धर्ममे हस्तक्षेप करना बिरादरीके अधिकारसे वाह्य है और किसी बिरादरीके द्वारा ऐसा किये जानेका फलितार्थ यही हो सकता है कि वह बिरादरी, एक प्रकारसे, अपने पूज्य धर्मगुरुओकी अवज्ञा–अवहेलना करती है।

जिन लोगो (जैनियो) के हृदयमे ऐसे दडविधानका विकल्प उत्पन्न हो उनको यह भी समझना चाहिये कि किसीके धर्मसाधनमे विघ्न करना बडा भारी पाप है। अजनासुन्दरीने अपने पूर्वजन्ममे थोड़ेही कालके लिये, जिनप्रतिमाको छिपाकर, अपनी सौतनके दर्शन-पूजनमे अंतराय डाला था। उसका परिणाम यहाँ तक कटुक हुआ कि उसको अपने इस जन्ममे २२ वर्षतक पतिका दुःसह वियोग सहना पड़ा और अनेक सकट तथा आपदाओका सामना करना पड़ा, जिनका पूर्ण विवरण श्रीपद्मपुराणके देखनेसे मालूम हो सकता है।

रयणसार ग्रन्थमे श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजने लिखा है कि—दूसरों-

के पूजन और दानमें अन्तराय (विघ्न)करनेसे जन्मजन्मान्तरमें क्षय, कुष्ट, शूल, रक्तविकार, भगदर, जलोदर, नेत्रपीड़ा, शिरोवेदना आदिक रोग तथा शीत-उष्णके आताप और (कुयोनियोंमें) परिभ्रमण आदि अनेक दुःखोंकी प्राप्ति होती है.—

> खयकुट्टसूलमूलो लोयभगदरजलोदरक्खिसिरो।
> सीदुण्हबह्मराइ पूजादाणंतरायकम्मफलं ॥ ३३ ॥

इसलिये पापोंसे डरना चाहिये और किसीको दंडादिक देकर पूजनसे वंचित करना तो दूर रहा, भूल कर भी ऐसा कार्य नही करना चाहिये जिससे दूसरोंके पूजनादिक धर्मकार्योमे किसी प्रकारसे कोई बाधा उपस्थित हो। बल्कि—

उपसंहार

उचित तो यह है कि, दूसरोंको हरतरहसे धर्मसाधनका अवसर दिया जाय और दूसरोंकी हितकामनासे ऐसे अनेक साधन तैयार किये जाँय जिनसे सभी मनुष्य जिनेन्द्रदेवके शरणागत हो सकें और जैन-धर्ममें श्रद्धा तथा भक्ति रखते हुए खुशीसे जिनेन्द्रदेवका नित्यपूजनादि करके अपनी आत्माका कल्याण कर सकें।

इसके लिये जैनियोंको अपने हृदयकी संकीर्णता दूरकर उसको बहुत कुछ उदार बनानेकी जरूरत है। अपने पूर्वजोके उदार-चरितों-को पढ़कर, जैनियोको उनसे तद्विषयक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और उनके अनुकरणद्वारा अपना और जगतके अन्य जीवोका हित-साधन करना चाहिए।

भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत आदिपुराणको देखनेसे मालूम होता है कि आदीश्वर भगवानके सुपुत्र भरत महाराज प्रथम चक्रवर्तीने अपनी राजधानी अयोध्यामें रत्नखचित जिनबिम्बोंसे अलंकृत चौबीस चौबीस घंटे तय्यार कराकर उनको, नगरके बाहरी दरवाजों और राजमहलोंके तोरणद्वारो तथा अन्य महाद्वारो पर, सोनेकी

जजीरोंमें बाँधकर, प्रलम्बित किया था। जिस समय भरतजी इन द्वारों-मेंसे होकर बाहर निकलते थे या इनमें प्रवेश करते थे उस समय वे तुरन्त अर्हन्तोका स्मरण करके, इन घटोमे स्थित अर्हत्प्रतिमाओंकी वन्दना और उनका पूजन करते थे। नगरके लोगों तथा अन्य प्रजा-जनोने भरतजीके इस कृत्यको बहुत पसंद किया, वे सब उन घंटोका आदर-सत्कार करने लगे और उसके पश्चात् पुरजनोने भी अपनी अपनी शक्ति और विभवके अनुसार उसी प्रकारके घटे अपने अपने घरोंके तोरणद्वारोपर लटकाये *। भरतजीका यह उदारचरित वड़ा ही चित्तको आकर्षित करनेवाला है और इस (प्रकृत) विषयकी बहुत कुछ शिक्षा प्रदान करनेवाला है। उनके अन्य उदार और चरितोका बहुत कुछ परिचय आदिपुराणके देखनेसे मिल सकता है। इसीप्रकार और भी सैकड़ों और हजारों महात्माओका नामोल्लेख

---

* उपर्युक्त आशयको प्रगट करने वाले आदिपुराण (प० ४१) के वे आर्षवाक्य इस प्रकार हैं —

निर्मापितास्ततो घंटा जिनबिम्बैरलंकृता. ।
परार्घ्यरत्ननिर्माणाः सम्बद्धा हेमरज्जुभि' ॥ ८७ ॥
लम्बितास्च वहिर्द्वारि ताश्चतुर्विंशतिप्रमाः ।
राजवेश्म-महाद्वार-गोपुरेष्वप्यनुक्रमात् ॥ ८८ ॥
यदा किल विनिर्याति प्रविशत्यप्ययं प्रभु' ।
तदा मौलाग्रलग्नाभिरस्य स्यादर्हतां स्मृतिः ॥ ८९ ॥
स्मृत्वा ततोऽर्हदर्चानां भक्त्या कृत्वाऽभिवन्दनाम् ।
पूजयत्यभिनिष्क्रामन् प्रविशंश्च स पुण्यधीः ॥ ९० ॥
रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिना ।
दृष्ट्वाऽर्हद्वन्दनाहेतोर्लोकोऽप्यासीत्कृतादरः ॥ ९३ ॥
पौरैर्जनैरतः स्वेषु वेश्म-तोरण-दामसु ।
यथाविभवमाबद्धा घंटास्ताः सपरिच्छदाः ॥ ९४ ॥

किया जा सकता है। जैनसाहित्यमें उदारचरित-महात्माओंकी कमी नहीं है। आज कल भी जो अनेक पर्वतोंपर खुले मैदानमें तथा गुफाओंमें जिनप्रतिमाएँ विराजमान है और दक्षिणादिदेशोंमें कहीं कहींपर जिनप्रतिमाओंसहित मानस्तंभादिक पाये जाते है, वे सब जैनपूर्वजोंकी उदार-चित्तवृत्तिके ज्वलन्त दृष्टान्त है। उदारचरित-महात्माओंके आश्रित रहनेसे ही यह जैनधर्म अनेकवार विश्वव्यापी हो चुका है। अब भी यदि राष्ट्रधर्मका सेहरा किसी धर्मके सिर बँध सकता है तो वह यही धर्म है जो प्राणीमात्रका शुभचिन्तक है। ऐसे धर्मको पाकर भी हृदयमें इतनी संकीर्णता और स्वार्थपरताका होना, कि एक भाई तो पूजन कर सके और दूसरा भाई पूजन न करने पावे, जैनियोंके लिये बड़ी भारी लज्जाकी बात है। जिन जैनियोंका 'वसुधैव कुटुम्बकम्'× यह खास सिद्धान्त था; क्या वे उसको यहाँ तक भुला बैठे कि अपने सहधर्मियोंमें भी उसका पालन और वर्त्ताव न करें! जातिभेद या वर्णभेदके कारण आपसमें ईर्षा-द्वेष रखना, एक दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करना और अपने लौकिक कार्यों-संबधी कषायको धार्मिक कार्यमें निकालना, ये सब जैनियोंके आत्म-गौरवको नष्ट करनेवाले कार्य हैं। जैनियोंको इनसे बचना चाहिये और समझना चाहिये कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारो वर्ण अपनी अपनी क्रियाओं (वृत्ति)के भेदकी अपेक्षा वर्णन किये गये है। वास्तवमे चारों ही वर्ण जैनधर्मको धारण करने एवं जिनेद्रदेवकी पूजा-उपासना करनेके योग्यहै और इस सम्बन्धसे जैनधर्मको पालन करते हुए सब आपसमें भाई भाईके समान है❀। इसलिये, हृदयकी संकीर्णता-

---

× समस्त भूमंडल अपना कुटुम्ब है।

❀ विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।
जैनधर्मे परा शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः॥

—सोमसेनाचार्य

को त्यागकर धार्मिक कार्योंके अनुष्ठानमें सब जैनियोंको परस्पर बन्धुताका बर्त्ताव करना चाहिये और आपसमें प्रेम रखते हुए एक दूसरेके धर्मकार्योंमें सहायक होना चाहिये। इसी प्रकार जो लोग जैनधर्मकी शरणमें आवे या आना चाहें, उनको सब प्रकारसे धर्म-साधनमे सहायता देनी चाहिये।

आशा है हमारे विचारशील निष्पक्ष विद्वान् और परोपकारी भाई इस मीमासाको पढकर सत्यासत्यके निर्णयमे दृढता धारण करेगे और अपने कर्त्तव्यको समझकर जहाँ कही, सुशिक्षाके अभाव और ससर्गदोषके कारण, आगम और धर्मगुरुओके उद्देश्य-विरुद्ध प्रवृत्ति पाई जावे उसके उठाने और उसके स्थानमें शास्त्रसम्मत समीचीनरीतिका प्रचार करनेमे दत्तचित्त और यत्नशील होगे।

६

जैनियोंका अत्याचार

जो जैनी वनस्पतिकायके जीवोंकी भी रक्षा करते है, उनके ऊपर अत्याचारके दोषका आरोपण होते देख बहुतसे पाठक चौकेंगे—परन्तु नही, चौकनेकी जरूरत नही है। वास्तवमें जैनियोंने घोर अत्याचार किया है और वे अब भी कर रहे है। हमारे भाइयोने अभी तक इस ओर लक्ष्य ही नहीं दिया और न कभी एकान्तमें बैठकर इस पर विचारही किया है। यदि जैनियोके अत्याचारकी मात्रा बढी हुई न होती तो आज जैनियोका इतना पतन कदापि न होता—जैनियोंकी यह दुर्दशा कभी न होती। जैनियोका समस्त अभ्युदय नष्ट होजाना, इनके ज्ञान-विज्ञानका नामशेष रह जाना, अपने बल-पराक्रमसे जैनियोंका हाथ धो बैठना, अपना राज्य गँवा देना, धर्मसे च्युत और आचारभ्रष्ट हो जाना तथा जैनियोंकी सख्याका दिनपरदिन कम होते जाना और जैनियोंका सर्वप्रकारसे नगण्य और निस्तेज हो रहना, यह सब अवश्य ही कुछ अर्थ रखता है—इन सबका कोई प्रधान कारण जरूर है, और वह है 'जैनियोंका अत्याचार'।

जिस समय हम जैनसिद्धान्तको देखते है, जैनियोकी कर्म-फिलासोफीका अध्ययन करते है और साथ ही जैनियोंकी यह पतितावस्था क्यों? लौकिक और परमार्थिक दोनों प्रकारकी उन्नतिसे जैनी इतने पीछे क्यों? इस विषयपर अनुसधानपूर्वक गंभीर भावसे गहरा

विचार करते है तो उस समय हमको मालूम होता है और कहना पडता है कि यह सब जैनियोके अपने ही कर्मोका फल है। जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। अवश्य ही जैनियोंने कुछ ऐसे काम किये है जिनका कटुक फल वे अब तक भुगत रहे है। यह कभी हो नही सकता कि अत्याचार तो करें दूसरे लोग और फल उसका भोगना पड़े जैनियोंको। जैन फिलासोफी इसको माननेके लिए तैयार नही। यदि थोड़ी देरके लिए उस मनुष्यको भी जिसपर अत्याचार किया गया हो, कोई बुरा फल सहन करना हो अथवा किसी आपत्तिका निशाना बनना पड़े, तो कहना होगा कि उसने भी जरूर अपनी चेष्टा या अपने मन-वचनादिकके द्वारा दूसरोके प्रति कोई अत्याचारविशेष किया है और वह बुरा फल उसके ही किसी कर्मविशेषका नतीजा है। यही हालत जैनसमाजकी है। यद्यपि इसमे कोई सदेह नही कि पिछले समयमे जैनियो पर थोड़े बहुत अत्याचार जरूर हुए है, परन्तु वे अत्याचार जैनियोकी वर्तमान दशाके कारण नही हो सकते। जैनियोकी वर्तमान अवस्था कदापि उनका फल नही है। यदि जैनियोने उन अत्याचारोंको मनुष्य बनकर सह लिया होता और स्वय उनसे अधिक अत्याचार न किया होता तो जरूर था कि यह जैनबाग (जैनसमाज दूसरोके अत्याचाररूपी खाद (Manure) से और भी हराभरा और सरसब्ज होता—खूब फलता और फूलता, परन्तु जैनियोंको ऐसी सद्बुद्धि ही उत्पन्न नही हुई। उनके विचार प्राय. इतने सकीर्ण और स्वार्थमय रहे हैं कि सदसद्विवेकवती बुद्धिको उनके पास फटकनेमे भी लज्जा आती थी। अत्याचार और भी अनेक धर्मानुयायिओको सहन करने पड़े है, परन्तु उनमेसे जिन्होंने अपने कर्त्तव्यपथको नही छोड़ा, अपने सामाजिक सुधारको समझा, उन्नतिके मार्गको पहचाना, अपनी त्रुटियोंको दूर किया, सबको प्रेमकी दृष्टिसे देखा और अपने स्वार्थको गौणकर दूसरोका हितसाधन किया, वे दु.खके दिन व्यतीत करके आज अपने सत्कर्मोका सुमधुर

फल भोग रहे है। इससे साफ प्रगट है कि जैनियोकी वर्तमान दशा उन अत्याचारोंका फल नही है जो जैनियों पर हुए, बल्कि उन अत्याचारोंका फल है जो जेनियोंने दूसरो पर किये और जो परस्पर जैनियोंने एक दूसरे पर किये। सच है, मष्नुर्योका अपने ही कर्मोंसे पतन और अपने ही कर्मोंसे उत्थान होता है। जिन जैनियोके ज्ञान और आचरणकी किसो समय चारो ओर धाक थी, जिनके सर्व-प्राणिप्रेमने अनेकवार जगतको हिला दिया, और जिनका राज्य समुद्र पर्यन्त फैला हुआ था; आज वे ही जैनी बिल्कुल ही रक बने हुए है। यह सब जैनियोंके अपने ही कर्मोंका फल है। इसके लिए किसीको दोष देना—किसी पर इलजाम लगाना—भूल है। जैनियोंकी वर्तमान स्थिति इस बातको बतला रही है कि, उन्होने जरूर कोई भारी अत्याचार किये है; तभी उनकी ऐसी शोचनीय दशा हुई है।

जैनियोंने एक बड़ा भारी अपराध तो यह किया है कि इन्होने दूसरे लोगोको धर्मसे वंचित रक्खा है। ये खुद ही धर्मरत्नके भडारी और खुद ही उसके सोल प्रोप्राईटर (अकेले ही मालिक) बन बैठे! दूसरे लोगोंको—दूसरे समाज-वालो तथा दूसरे देशनिवासियोंको—धर्म बतलाना, धर्मके मार्ग पर लगाना तो दूर रहा, इन्होंने उलटा उन लोगोसे धर्मको छिपाया है। इनकी अनुदार-दृष्टिमें दूसरे लोग प्रायः बड़ी ही घृणाके पात्र रहे है, वे मनुष्य होते हुए भी मनुष्यधर्मके अधिकारी नही समझे गये। यद्यपि जैनी अपने मंदिरोमें यह तो बराबर घोषणा करते रहे कि 'मिथ्यात्वके समान इस जीवका कोई शत्रु नही है, मिथ्यात्व ही संसारमें परिभ्रमण करानेवाला और समस्त दुःखोंका मूल कारण है। परन्तु मिथ्यात्वमे फँसे हुए प्राणियोंपर इन्हें जरा भी दया नहीं आई, उनकी हालत पर इन्होने जरा भी तरस नही खाया और न मिथ्यात्व छुड़ानेका कोई यत्न ही किया। इनका चित्त इतना कठोर हो गया कि दूसरोंके दुख सुखसे इन्होंने कुछ सम्बन्ध ही नहीं रक्खा।

जिस प्रकार कोई दुरात्मा पुत्र अपने स्वार्थमें अंधा होकर यह चाहता है कि मै अकेला ही पैतृक-सम्पत्तिका मालिक बन बैठूँ और अपनी इस कामनाको पूरा करनेके लिए वह अपने पिताके समस्त धन पर अधिकार कर लेता है—यदि पिताने कोई वसीयत भी की हो तो उसको छिपानेकी चेष्टा करता है– और अपने उन भाइयोंको जो दूरदेशान्तरमें रहनेवाले है, जो नाबालिग़ (अव्युत्पन्न) है, जो भोले या मूर्ख है, जिनको अन्य प्रकारसे पिताके धनकी कुछ खबर नही है अथवा जो निर्बल है उन सबको अनेक उपायो-द्वारा पैतृक-सम्पत्तिसे वचित कर देता है। उसे इस बातका जरा भी दुख-दर्द नही होता कि मेरे भाइयोकी क्या हालत होगी ? उनके दिन कैसे कटेंगे ? और न कभी इस बातका खयाल ही आता है कि मैं अपने भाइयों पर कितना अन्याय और अत्याचार कर रहा हूँ, मेरा व्यवहार कितना अनुचित है, मै अपने पिताकी आत्माके सन्मुख क्या मुँह दिखाऊँगा। उसके विवेकनेत्र बिल्कुल स्वार्थसे बन्द हो जाते है और उसका हृदययत्र संकुचित होकर अपना कार्य करना छोड़ देता है। ठीक उसी प्रकारकी घटना जैनियोकी हुई है। ये अकेले ही परमपिता श्री महावीरजिनेन्द्रकी सम्पत्तिके अधिकारी बन बैठे ! "समस्त जीव परस्पर समान हैं, जैनधर्म आत्माका निजधर्म है; प्राणीमात्र इस धर्मका अधिकारी है; सबको जैनधर्म बतलाना चाहिये और सबको प्रेमकी दृष्टिसे देखते हुए उनके उत्थानका यत्न करना चाहिए।" वीरजिनेन्द्रकी इस वसीयतको—उनके इस पवित्र आदेशको– इन स्वार्थी पुत्रोने छिपानेकी पूर्णरूपसे चेष्टा की है। इन्होंने अनेक उपाय करके अपने दूसरे भाइयोको धर्मसे कोरा रक्खा, उनकी हालत पर जरा भी रहम नही खाया और न कभी अपने इस अन्याय, अत्याचार और अनुचित व्यवहार पर विचार या पश्चात्ताप ही किया है। बल्कि जैनियोका यह अत्याचार बहुत कुछ अंशोमे उस स्वार्थान्ध-पुत्रके अत्याचारसे भी बढ़ा रहा। क्योकि

किसी अधिकारीको धनादिकसे वंचित रखना, यद्यपि, अत्याचार जरूर है; परन्तु जान-बूझकर किसीको आत्मलाभसे वंचित रखना, यह उससे कही बढ़कर अत्याचार है। मेरा तो, इस विषयमें,यहाँ तक खयाल है कि यह अत्याचार किसीको जानसे मार डालनेकी अपेक्षा भी अधिक है। धनादिक पर-पदार्थोका वियोग इतना दुःखजनक नहीं हो सकता जितना कि आत्मलाभसे वंचित रहना। जो लोग अपनी आत्माको जानते है,अपने स्वरूपको पहचानतेहैं, धर्म क्या और अधर्म क्या इसका जिन्हें बोध है, उनको धनादिकका वियोग भी इतना कष्टकर नहीं होता जितना कि न जानने और न पहचाननेवालों को होता है। इसलिये दूसरोंको धर्मसे वंचित रखना उनके लिये घोर दु खोंकी सामग्री तैयार करना है। क्या इस अत्याचारका भी कही ठिकाना है? शोक! ऐसा महान् अत्याचार करनेवाले जैनियोंका पाषाणहृदय, दूसरोंके दुःखोंका स्मरण ही नही किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी जरा नही पसीजा—आत्मलाभसे वंचित पापी और मिथ्यादृष्टि मनुष्य जैनियोके सन्मुख ही अनेक प्रकारके अनर्थ और पापाचरण करके अपनी आत्माओंका पतन करते रहे, परन्तु जैनियोंको उन पर कुछ भी दया नहीं आई और न दूसरे जीवोंकी रक्षाका ही कुछ खयाल उत्पन्न हुआ।

संसारमें ऐसा व्यवहार है कि यदि कोई अधा मनुष्य कही चला जा रहा हो और उसके आगे कुआँ आजाय तो देखनेवाले उस अंधेको तुरन्त ही सावधान कर देंगे और अपनी समस्त शक्तिको, उसे कुएँमें गिरनेसे बचाने अथवा गिर जाने पर उसके शीघ्र निकालनेमें, लगा देंगे। यदि कोई मनुष्य अंधेके आगे कुआँ देखकर भी चुपचाप बैठा रहे और उसकी रक्षाका कुछ भी उपाय न करे तो वह वहुत पापी और निन्द्य समझा जाता है। किसी कविने कहा भी है—

> जब तू देखै आँखसे, अंधे आगे कूप।
> तव तेरा चुप वैठना, है निश्चय अघरूप॥

इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य किसीको दिनदहाड़े लूटता हो और दूसरा आदमी उसके इस कृत्यको देखता हुआ भी आनन्दसे हुक्का गुड़गुड़ाता रहे और उसके बचानेकी कुछ भी कोशिश न करे, तो कहना होगा कि वह महा अपराधी है। जैनी लोग इस बातको बराबर स्वीकार करते आए है कि मिथ्यादृष्टि लोग अधे होते है—उन्हे हित-अहित कुछ भी सूझ नही पडता, परन्तु जैनियोके सन्मुख ही लाखो और करोड़ो मिथ्यादृष्टि अतत्त्वश्रद्धारूपी कुएँमें बराबर गिरते रहे तोभी इन सुदृष्टियोंको उनपर जराभी दया न आई। इन्होंने अपने मौनव्रतको भगकर उनके बचाने या निकालनेकी कुछ भी चेष्टा नही की। और तो क्या, इनके सामनेही बहुतसे इनके भाइयो (जैनियो)-का धर्म-धन लूट लिया गया और वे मिथ्यादृष्टि बना दिये गये;परन्तु फिर भी इनके कठोर चित्तपर कुछ आघात नही पहुँचा। ये बराबर अपने आनन्दमे मस्त रहे। कोई जीयो या मरो, इन्होने उसकी कुछ पर्वाह नही की। बल्कि ये लोग उलटा खुश हुए और इन्होने जान-बूझकर अपने बहुतसे भाइयोको लुटेरोके सुपुर्द किया। यदि किसी भाईसे कोई अपराध या खोटा आचरण बन गया तो इन्होने उसको अपनेमेसे ऐसे निकालकर फैक दिया जैसा कि दूधमेसे मक्खीको निकाल कर फेक देते है। इन्होने उसको कुछ भी धीर-दिलासा नही दिया, न इन्होने उसके खोटे आचरणको छुडाकर धर्ममें स्थिर करने की कोशिश की और न प्रायश्चित्त आदिसे शुद्ध करनेका कोई यत्न ही किया। बल्कि उसके साथ बिल्कुल शत्रुओ-सरीखा व्यवहार करना प्रारभ कर दिया। नतीजा इसका यह हुआ कि उसको अपनी ससार-यात्राका निर्वाह करनेके लिए दूसरोका शरण लेना पड़ा और वह हमेशाके लिए जैनियोंसे बिछुड गया। इससे समझ लीजिए कि जैनियोने कितना बड़ा अपराध और अत्याचार किया है—कहाँ तक इन्होने अपने धर्मका उल्लघन और कहा तक उसके विरुद्ध आचरण किया है।

मनुष्यका यह धर्म नहीं है कि यदि कोई मनुष्य किसी नदी आदिमें गिरता हो या बहता जाता हो तो उसको उलटा धक्का दे दिया जावे और यदि वह किनारेके पास भी हो और निकलना भी चाहता हो तो उसको ठोकर मारकर और दूर फेंक दिया जावे, जिससे वह निकलनेके क़ाबिल भी न रहे। बल्कि इसके विपरीत उसको न गिरने देना या हस्तावलम्बन देकर निकालना ही मनुष्य-धर्म कहलाता है। इसीलिए जैनियोंके यहाँ 'स्थितिकरण' धर्मका अंग रक्खा गया है। स्वामी समन्तभद्राचार्यने 'रत्नकरंड श्रावकाचार'में इसका स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है:—

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ॥

अर्थात्—जो लोग किसी कारणवश अपने यथार्थ श्रद्धान तथा चारित्रसे डिगते हो, तो धर्मसे प्रेम रखनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि उनको फिरसे अपने श्रद्धान और आचरणमे दृढ कर दे। यही 'स्थितिकरण' अंग कहलाता है।

परन्तु शोक! जैनियोंने यह सब कुछ भुला दिया। गिरतेको सहारा या हस्तावलम्बन देना तो दूर रहा इन्होंने उलटा उसको और जोरका धक्का दिया। श्रद्धान और आचरणसे डिगना तो दूसरी बात, यदि किसीने रूढियों (आधुनिक जैनियोंके सम्यक्चारित्र?) के विरुद्ध जरा भी आचरण किया अथवा उनके विरुद्ध अपना ख़याल भी जाहिर किया तो बस उस बेचारे की शामत आ-गई, और वह झट जैनसमाजसे अपना अलग जीवन व्यतीत करनेके लिए मजबूर किया गया! जैनियोंके इस अत्याचारसे हजारों जैनी गाटे दस्से या विनैकया बन गये, लाखों अन्यमती हो गये, जैनियोंके देखते देखते मुसलमानी जमानेमे लाखो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जबरन् मुसलमान बना लिये गये, और इस जमानेमें तो कितने ही ईसाई बना लिये गये, परन्तु जैनियोंके संगदिल (पाषाणहृदय)

पर इससे कुछ भी चोट नही लगी। इन्होने आजतक भी उन सबों-के शुद्ध करनेका—अपने बिछुड़े हुए भाइयोंको फिरसे गले लगाने-का—कोई उपाय नही किया। ऐसा कोई अपराध नही जिसका प्रायश्चित्त न हो सके। भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्नलिखित वाक्य-से भी प्रगट है कि—'यदि किसी मनुष्यके कुलमें किसी भी कारणसे कभी कोई दूषण लग गया हो तो वह राजा या पंच आदिकी सम्मतिसे अपनी कुलशुद्धि कर सकता है। और यदि उसके पूर्वज—जिन्होने दोष लगाया हो—दीक्षायोग्य कुलमें उत्पन्न हुए हों तो उस कुलशुद्धि करनेवालेका और उसके पुत्र-पौत्रादिक सतानका यज्ञो-पवीत-संस्कार भी हो सकता है।' वह वाक्य इस प्रकार है :—

कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणम्।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्व यदा कुलम्॥
तदास्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसततौ।
न निषिद्ध हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजा॥

—आदिपुराण, पर्व ४०

इससे दस्सो और हिन्दूसे मुसलमान या ईसाई बने हुए मनुष्यो-की शुद्धिका खासा अधिकार पाया जाता है। बल्कि शास्त्रोमे उन म्लेच्छोकी भी शुद्धिका विधान देखा जाता है जो मूलसे ही अशुद्ध है। आदिपुराणमे यह उपदेश स्पष्ट शब्दोमे दिया गया है कि, 'प्रजाको बाधा पहुँचानेवाले अनक्षर (अनपढ) म्लेच्छोको कुलशुद्धि आदिके द्वारा अपने बना लेने चाहिएँ। यथा:—

स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान्प्रजाबाधाविधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः॥

—आदिपुराण, पर्व ४२

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी जैनियोंके सकीर्ण हृदयने महा-त्माओके इन उदार और दयामय उपदेशोको ग्रहण नही किया। सच भी है, सेरभरके पात्रमे मनभर कैसे समा सकता है? अपात्र

जैनियोंके हाथमें जैनधर्म पड़ जानेसे ही उन्होंने जैनधर्मका गौरव नहीं समझा और इसलिए दूसरोंपर मनमाना अत्याचार किया है।

मै कहता हूँ कि दूसरोंको धर्म बतलाने या सिखलानेमें धार्मिक-भाव औरपरोपकार बुद्धिको जाने दीजिए,जैनियोने यह भी नही समझा कि परिस्थिति कितने महत्वकी चीज है। क्या परिस्थिति कभी उपेक्षणीय हो सकती है? कदापि नही। जहाँ चारों ओरका जलवायु दूषित हो वहाँ कदापि आरोग्यता नही रह सकती। जहाँ चारों ओर मिथ्या-दृष्टियों और पापाचारियोंका प्राबल्य हो वहाँ जैनी भी अपना सम्य-क्त्व और धर्म कायम नहीं रख सकते। यदि जैनियोंने इस परिस्थितिके महत्वको ही समझ लिया होता तब भी वे आत्मरक्षाके लिए ही दूसरोंकी स्थितिका सुधार करना अपना कर्तव्य समझते, अवश्य ही दूसरोको धर्मकी शिक्षा देनेका प्रयत्न करते और कदापि धर्मप्रचारके कार्यसे उपेक्षित न होते, परन्तु महर्षियों-द्वारा संरक्षित वीरजिनेन्द्रकी सम्पत्तिको,पाकर जैनी ऐसे कृपण बने—इनमें चित्तको कठोर करने-वाली ऐसी धार्मिक-कृपणता आई कि दूसरोंको उस सम्पत्तिसे लाभ पहुँचाना तो दूर रहा ये खुद भी उससे कुछ लाभ न उठा सके। यदि इस परमोत्कृष्ट जैनधर्मको पाकर जैनी अपना ही कुछ भला करते तो भी एक बात थी; परन्तु कृपणका धन जिस प्रकार दान और भोगमें न लगकर तृतीया गति (नाश) को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार जेनियोंने जैनधर्म भी तृतीया गतिको पहुँचा दिया--न आप इससे कुछ लाभ उठाया और न दूसरोको उठाने दिया—और जिस प्रकार बादल सूर्यके प्रकाशको रोक लेते है उसी प्रकार इन धार्मिक-कृपणोने जैनधर्मके प्रकाशको आच्छादित कर दिया!

जैनियोने जिनवाणी माताके साथ जैसा सलूक किया है उसको याद करके तो हृदय कापता है और शरीरके रोंगटे खड़े हो जाते है। इन्होने माताको उन अंधेरी कोठरियोमे बद करके रक्खा,जहाँ रोशनी और हवाका गुजर नही, उसका अंग चूहोसे कुतरवाया और दीमको-

को खिलाया; माता गलती है या सड़ती, जीती है या मरती, इसकी इन्होने कुछ भी पर्वाह नहीं की ! हजारों जैनग्रन्थोंकी मिट्टी हो गई, हजारों शास्त्र चूहों और दीमकोंके पेटमे चले गये, लाखो और करोड़ो मनुष्य मातृवियोग दु:खसे पीडित रहे, परन्तु इन समस्त दृश्योंसे जैनियोके वज्रहृदय पर कुछ भी चोट नही लगी ! माता पर इस प्रकारके अत्याचार करते हुए जैनियोंका हृदय जरा भी कम्पायमान नही हुआ और इन्हे कुछ भी लज्जा या शर्म नही आई !! इन्होने उलटी यहाँ तक निर्लज्जता धारण की कि अपने इन अत्याचारोंका नाम 'विनय' रख छोड़ा ! वास्तवमें इनका नाम विनय नही है,-ये घोर अत्याचार है—और न ढाई हाथ दूरसे हाथ जोडने या चावलके दाने चढा देनेका नाम ही विनय है। जिनवाणीका विनय है—जैनशास्त्रोंका पढ़ना-पढ़ाना, उनके मुताबिक—उनकी शिक्षाओंके अनुसार—चलना और उनका सर्वत्र प्रचार करना। इस वास्तविक विनयसे जैनी प्राय कोसो दूर रहे और इसलिए इन्होने माताका घोर अविनय ही नही किया, बल्कि कितने ही जैनशास्त्रोका लोप भी किया है। उसीका फल है जो आज बहुतसे शास्त्र नही मिलते। इनकी इस विलक्षण विनयवृत्तिको देखकर ही एक दु:खित हृदय कविने कहा है:—

बस्ते बँधे पड़े हैं अलूमोफनूनके× ।
चावल चढ़ावे उनको बस इतने हैं कामके !!

इसीप्रकार जैनियोने स्त्रीसमाज पर जो अत्याचार किया है वह भी कुछ कम नही है। इन्होने लडकियोको वेचा, धनके लालचसे अपनी सुकुमार बालिकाओको यमके यजमानोके गले बाँध उन्हे हमेशाके लिये पापमय जीवन व्यतीत करनेको मजबूर किया, अनमेल सम्बन्ध करके स्त्रियोका जीवन दु:खमय बनाया और उन्हे अनेक प्रकारका दु:ख और कष्ट पहुँचाया, पर इन सब अत्याचारोको रहने दीजिए।

जैनियोंने इन सब अत्याचारोंसे बढ़कर स्त्रीसमाज पर जो भारी अत्याचार किया है उसका नाम है स्त्रीसमाजको अशिक्षित रखना। स्त्रियों और बालिकाओंको विद्या न पढाकर जैनियोंने उनके साथ बड़ी ही शत्रुताका व्यवहार किया है। जिस विद्या और ज्ञानके बिना मनुष्य निद्रित, अचेत, पशु और मृतकके तुल्य वर्णन किये गये हैं और जिसके विना सुख-शांतिकी प्राप्ति नही हो सकती, उसी विद्या और ज्ञानसे जैनियोंने स्त्रियोंको वंचित रक्खा, यह इनका कितना बड़ा अन्याय है! जैनियोंने स्त्रियोंकी योग्यता और उनकी विद्या-सम्पादन-शक्तिको न समझा हो, ऐसा नहीं; किन्तु 'लड़कियाँ पराए घरका धन और पराए घरकी चाँदनी हैं, वे हमारे कुछ काम नहीं आ सकतीं।' इस स्वार्थमय वासनासे जैनियोने उन्हें विद्यासे विमुख रक्खा है। इस नीच विचारने ही जैनियोंको अपनी संतानके प्रति ऐसा निर्दय बनाया और इतना विवेकहीन बनाया कि उन्होंने स्त्री-समाजके साथ पशुओं-सदृश व्यवहार किया, उन्हें जड़वत् रक्खा, काष्ठपाषाणकी मूर्तियाँ समझा और उन्हें अपनी आत्मोन्नति करने देना तो दूर रहा, यह भी खबर न होने दी कि संसारमे क्या हो रहा है। क्या यह थोड़ा अत्याचार है? नही, इस अत्याचारके करनेमें जैनी मनुष्यताका भी उल्लंघन कर गये। इनसे पशुपक्षी ही अच्छे रहे, जो अपनी नर और मादा दोनों प्रकारकी संतानको समान-दृष्टिसे अवलोकन करते है और उससे किसी भी प्रकारके प्रत्युप-कारकी वाञ्छा न रखते हुए अपना कर्त्तव्य समझकर सहर्ष उसका पालन-पोषण करते है।

यहाँ पर मुझे यह लिखते हुए दुःख होता है कि जैनियोंका यह अत्याचार केवल स्त्रीसमाजको ही नही भोगना पड़ा, बल्कि पुरुषोंको भी इसका हिस्सेदार बनना पड़ा है—बालकों पर भी इसका नजला टपका है। माताओंके अशिक्षित रहनेसे—परिस्थितिके विगड़ जाने से—वे भी शिक्षासे प्रायः विहीन ही रहे है। हजारमें दस-पाँचने

यदि मामूली विद्या पढी भी—कुछ अक्षरोका अभ्यास किया भी--तो इसका नाम शिक्षा नही है। जैन बालकोको जैसी चाहिएँ वैसी विद्याएँ नही पढ़ाई गईं। यदि उन्हे बराबर विद्याएँ पढाई जाती तो आज उन हज़ारों विद्याओका लोप न होता, जिनका उल्लेख जैन-शास्त्रोमे मिलता है। दिव्य विमानोकी रचनाको जाने दीजिये, आज कोई जैनी उस मयूरयत्रके बनानेकी विधि भी नही जानता, जिसको जीवधरके पिता सत्यधरने बनाया था और उसमें अपनी गर्भवती स्त्रीको बिठलाकर, गर्भस्थ पुत्रकी रक्षाके लिए, उसे दूर देशान्तरमे पहुँचाया था। इसी प्रकार सैकड़ो विद्याओका नामोल्लेख किया जा सकता है। जैनियोने शिक्षा और खासकर स्त्री-शिक्षासे द्वेष रखकर इन समस्त विद्याओके लोप करनेका पाप अपने सिर लिया है और इसलिए जैनी समस्त जगतके अपराधी हैं।

जैनियोका एक भारी अत्याचार और भी है और वह अपनी सतानकी छोटी उम्रमे शादी करना है। इसके विषयमे मुझे कुछ विशेष लिखनेकी जरूरत नहीं है। हाँ, इतना जरूर कहूँगा कि इस राक्षसी कृत्यके द्वारा आजतक लाखो ही नही किन्तु करोडो दुधमुँही बालिकाएँ विधवा हो चुकी हैं—वैधव्यकी भयंकर आँचमें भुन चुकी है—, हजारोने अपने शीलशृंगारको उतार दिया, व्यभिचारका आश्रय लिया, दोनों कुलोको कलकित किया और भ्रूणहत्याये तक कर डाली। इसके सिवाय, बाल्यावस्थामे स्त्री-पुरुषका संसर्ग हो जानेसे जो शारीरिक और मानसिक निर्बलताएँ इनकी संतानको उत्तरोत्तर प्राप्त हुईं उनका कुछ भी पारावार और हिसाब नही है। निर्बल मनुष्यका जीवन बडा ही बवाले-जान और संकटमय होता है। रोगोंका उसपर आक्रमण हो जाना तो एक मामूलीसी बात है। जैनियोके इस अत्याचारसे उनकी सतान बड़ी ही पीड़ित रही। उससे हिम्मत, साहस, धैर्य, पुरुषार्थ और वीरता आदि सद्गुणोंकी सृष्टि ही एकदम उठ खड़ी हुई। जैनी निर्बल होकर तन्दुल मच्छकी तरह

घोर मानसिक पापोंका संचय करते रहे और इन पापोंने उदयमें आकर जन्म-जन्मान्तरोंमें इन्हें खूब ही नीचा दिखाया। जैनियोका यह गुड्डा गुड्डीका खेल (बाल्यविवाह) बड़ा ही हृदयद्रावक है। इसने जैनसमाजकी जड़में बड़ाही कुठाराघात किया है।

इस प्रकार जैनियोंने बहुत बड़े बड़े अत्याचार किये है। इनके सिवा और जो छोटे-मोटे अत्याचार किये है उनकी कुछ गिनती ही नही है। जैनियोंके इन अत्याचारोंसे जैनधर्म कितना कलंकित हुआ और जगतमें कैसे कैसे अनर्थ फैले इसका कुछ ठिकाना नही है। जैनियोके इन सब अत्याचारों ही का फल उनकी वर्त्तमान दशा है। बल्कि नही, जैनियोमें इस समय जो कुछ थोड़ी बहुत अच्छी बाते बची-खुची है उनका श्रेय स्वामी कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्द और सिद्धसेन आदि परोपकारी आचार्यो तथा अन्य परोपकारी महानुभावोंको प्राप्त है। ऐसे जगद्बन्धुओके आश्रित रहनेसे ही जैनधर्मके अभी तक कुछ चिन्ह अवशेष पाये जाते है; अन्यथा, आम तौर पर जैनियोंके अत्याचार उनकी सत्ताको बिल्कुल लोप करनेके लिए काफ़ी थे। जब तक जैनियोंने अत्याचार करना प्रारभ नही किया था तब तक इनका बराबर डका बजता रहा, ये खूब फलते और फूलते रहे। परन्तु जबसे ये लोग अत्याचारों पर उतर आए तभीसे इनका पतन शुरू हो गया। और आज वह दिन आ गया कि ये लोग पूरी अधोदशाको पहुँच गये है। जैनियोके अत्याचार जैनियोको खूब ही फले—इन्होने अपने कियेकी खूब सजा पाई। ये लोग दूसरोंको धर्म बतलाना नही चाहते थे, अब खुद ही उस धर्मसे वंचित हो गये; दूसरोंको घृणाकी दृष्टिसे देखते थे, अब खुद ही घृणाके पात्र बन गये; जिस बल, विद्या और ऐश्वर्य पर इन्हें घमंड था वह सब नष्ट हो गया; ये लोग अपने आपको भले हो जीवित समझते हों परन्तु जीवित समाजोंमें अब इनकी गणना नही है, इनकी गणना है मरणोन्मुख समाजोमें। जैनी लोग अन्धकारमें पड़े हुए

सिसक रहे हैं—वास्तवमें इनकी हालत बड़ी ही करुणाजनक है। जब तक जैनी लोग इन अत्याचारोंको बंद करके अपने पूर्व पापोंका प्रायश्चित्त नही करेंगे तब तक वे कदापि इस दैवकोपसे विमुक्त नहीं हो सकते, उनका अभ्युत्थान नहीं हो सकता और न उनमें जीवनीशक्तिका फिरसे संचार ही हो सकता है।

आशा है हमारे जैनीभाई इस लेखको पढ़कर अपने अत्याचारोंकी परिभाषा समझेंगे और उनके भयंकर परिणामको विचार कर शीघ्र ही उनका प्रायश्चित्त करनेमें दत्तचित्त होंगे।

१०

विवाह-समुद्देश्य

विवाहकी समस्या

बड़े बड़े विद्वानों और आचार्योंका कथन है कि 'स्त्री बिना जंजीरका—जंजीर न होते हुए भी—दृढ बन्धन है, स्त्रीसे बढ़कर पुरुषोंके लिए दूसरा कोई बड़ा बन्धन नही। यथा :—

कलत्रं नाम नराणामनिगडमपि दृढं बंधनमाहुः।—सोमदेवः।

न कलत्रात्परं किञ्चिद्बन्धनं विद्यते नृणाम्।—शुक्रः।

वस्तुतः विचार करनेपर भी ऐसा ही प्रतीत होता है। स्त्रीका परिग्रह करने पर स्वभावसे ही मनुष्य वहुतसे अंशोमें अपना स्वातंत्र्य-अपनी आजादी-खो बैठता है, तरह तरहकी चिन्ताओं, आपदाओं तथा जिम्मेदारियोंकी दलदलमें फँस जाता है और इस तरह पर बन्धनमें पड़कर एक अच्छा खासा बन्दी बन जाता है। वास्तविक दृष्टिसे बन्धनमें पड़ना कभी इष्ट नही हो सकता। बन्धनसे परतंत्रता आती है और परतंत्रता या पराधीनतामें कही भी असली सुख नही है—पैरोमें जंजीर डालकर खंभेसे बाँधा हुआ एक हाथी कभी अपनी इच्छानुसार सुखपूर्वक विहार नही कर सकता। इसलिए शास्त्रकारोंने बन्धनको दुःख वर्णन किया है। बन्धनसे छूटने-पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त करने—पूरी आजादी हासिल करने—ही का

नाम मुक्ति है। उसीमें वास्तविक सुख है और वही सब जीवोंका अन्तिम ध्येय बतलाया जाता है। साथ ही, महान्से महान् आचार्यों-का—धर्मगुरुओंका—यह भी कथन है कि 'मैथुन करना पाप है'—पंच पापोंमें उसकी गणना है। अमृतचन्द्रसूरिने, तिलोंसे पूर्ण नलीमे तप्त-लोह-शलाकाके प्रवेशका उदाहरण देकर, मैथुनमें पापकी—द्रव्यहिंसाकी—मात्राको और भी अधिकताके साथ प्रदर्शित किया है। यथा :—

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवायोनौ[1] हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय:

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, आज एक, कल दूसरा और परसों तीसरा नवयुवक खुशीसे इस स्त्री-बन्धनको स्वीकार करता है, एक अपरिचित व्यक्तिको—एक अजनबी शख्शको—अपना हृदय देता है, कुटुम्बके भरण-पोषणादिकी समस्त जिम्मेदारियोंको अपने ऊपर लेता है और धनके उपार्जन करने-बढ़ाने-रक्षा करनेके द्वारा तथा रोग-शोकादिकके कारण नित्य नई आनेवाली गृहस्थकी चिन्ताओं और विपत्तियोंमें पड़नेके लिए तैयार होता है। साथही, पंचों द्वारा, बिना किसी संकोचके, उसके इस स्त्री-सम्बन्धकी रजिस्ट्री की जाती है और इस प्रकार विवाह[2]-द्वारा दम्पतिको निष्क-

---

१ वात्स्यायन ऋषिने भी योनिमें जीवोंको स्वीकार किया है; जैसा कि सागारधर्मामृतमें उद्धृत उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

रक्तजा: कृमय: सूक्ष्मा मृदुमध्याधिशक्तय: ।
जन्मवर्त्मसु कण्डूति जनयन्ति तथाविधम् ॥

२ विवाह उस सम्बन्ध-विशेषका ही नाम है जिसके द्वारा, मानव-समाजमें, स्त्री-पुरुषोंको परस्पर काम-क्रीडाका द्रव्यादिकी अपेक्षा रहित स्वतंत्र और खुला अधिकार प्राप्त होता है।

टक (बे-रोक-टोक) काम-सेवनकी परवानगी दी जाती है—उसे उनके लिये जायज और विधेय ठहराया जाता है। इसी खुशीमें अनेक प्रकारके बाजे बजते हैं, मागलिक गीत गाये जाते है, तरह तरहके उपहार और इनाम बाँटे जाते है, बराती-गण नये नये वस्त्र और रंगविरंगी पोशाके पहनते है और वरके माता-पिता तथा अन्य कुटुम्बी जनोंके आनन्दका कुछ पार नही रहता। युवती तथा कन्या-पक्षके बन्ध-प्रबन्ध और आमोद-प्रमोदकी भी प्रायः यही सब हालत होती है। नगर भरमें जिधर देखो उधर मूर्तिमान आनन्द ही आनन्द दिखाई देने लगता है। कहा जाता है कि यह सब मागलिक कार्य है, इसे 'विवाहमंगल' कहते है और इस प्रकारके मगल प्रायः हुआ करते है और हमेशासे होते आए है।

इन सब बातों पर गहरी दृष्टि डालते हुए एकाग्रताके साथ विचार करनेपर मालूम होता है और कहना पड़ता है कि, विवाहकी समस्या भी बड़ी ही विचित्र है। जो लोग इस समस्याको हल किये विना, विवाहका ठीक रहस्य समझे विना और विना यह मालूम किये कि विवाहका उद्देश्य—शादीकी असली गरज—क्या है, विवाह-बन्धनमें पड़ते हैं—शादी कराते है—वे निःसन्देह बहुत बडी ग़लती करते है और विवाहके वास्तविक लाभोसे वचित ही रहते है। इसीलिए आज इस समस्याको हल करने, विवाहका रहस्य बतलाने और विवाहके समीचीन उद्देश्यको समझानेका प्रयत्न किया जाता है।

विवाह-कर्मकी सृष्टि

जरूरत और उपयोगिता

संसारमें अनादिकालसे यह जीवात्मा नाना प्रकारके अच्छेसे अच्छे और रमणीय विषयभोगोंको भोगता हुआ चला आया है। मैथुनकी सृष्टि इस जगतमे अनादिसे ही चली आती है। परन्तु

आज तक कभी इन विषय-भोगोंसे किसीको भी तृप्तिकी प्राप्ति नही हुई और न हो सकती है। ईन्धन और घृताहुतिसे जिस प्रकार अग्नि तृप्त नही होती और घड़ो पानी पी लेनेसे जिस प्रकार तृषा-रोगके रोगीकी प्यास नही बुझती, उसी प्रकार संसारी जीवकी हालत है। उसे भी इन विषय-भोगोंसे कोई तृप्ति नही मिलती। विषयोकी ऐसी हालत होते हुए, आत्मकल्याणार्थी कुछ महात्माओंके हृदयमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि, जब विषय-भोगोंसे कुछ तृप्ति नही होती और न इनके सेवनसे आत्माका कुछ लाभ होता है, वल्कि उल्टा पापवध जरूर होता है और नाना प्रकारके दु.ख तथा कष्ट उठाने पड़ते है, तव ऐसे व्यर्थके कामोमें फँसकर अपने आत्मा-का अनिष्ट करना कौन बुद्धिमानीकी वात है ? इसलिए उन्होने विषयोंके सर्वथा त्यागका उपदेश दिया और इस तरह विषयोंके विरोधकी सृष्टि हुई। इस विरोधसे जैन-अजैन सभी ग्रन्थ भरे हुए हैं, जिनमे विषयोंका वास्तविक स्वरूप, उनकी अनुपयोगिता (निरर्थ-कता) और उनसे होनेवाली हानि आदिका हृदय-हारी वर्णन करते हुए उनके त्यागकी प्रेरणा की गई है। साथ ही, ब्रह्मचर्यकी महिमा, उसकी उपयोगिता और उसके द्वारा सपूर्ण सुखोंकी प्राप्ति आदिका वर्णन भी वडे कौशलके साथ किया गया है। और अन्तमें पूर्ण ब्रह्म-चर्यके धारण करने और पालनेकी जोरके साथ प्रेरणा की गई है।

इसमें कोई सन्देह नही कि पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करना बहुत ही उत्तम, श्रेष्ठ और कल्याणकारी धर्म है। इसके द्वारा आत्मा उत्तरोत्तर अपनी शक्तियोको बढ़ाकर कर्मशत्रुओको निर्मूल करनेके लिये समर्थ हो सकता है। परन्तु कामदेवकी प्रवल शक्तिका मुकावला करके पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करना खेल नही और न हरएक व्यक्ति-का काम है, विरले ही मनुष्य इसको धारण कर सकते हैं। इसके लिये वड़े बलवान आत्माकी जरूरत होती है। निर्वलोका इसमें अधिकार नही हो सकता। जैसा कि श्रीशुभचन्द्राचार्यने 'ज्ञानार्णव'में

कहा है:—

नाल्पसत्त्वैर्न निःशीलैर्न दीनैर्नाऽक्षनिर्जितैः ।
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ॥ ११-५ ॥

अर्थात्—ब्रह्मचर्य उन लोगोंसे स्वप्नमें भी आचरण किये जाने-के योग्य नहीं है जो अल्पशक्तिके धारक हैं, शील-रहित है, दीन है और जिनकी इन्द्रियाँ उनके वशमे नहीं है।

ऐसी हालतमें शरीर और विचार-बल-रहित निर्बल व्यक्तियों-को पूर्ण ब्रह्मचर्यके लिए मजबूर करना कभी न्यायसंगत नही हो सकता और न उससे कुछ लाभ ही उठाया जा सकता है। इसलिए उनके लिए भी कोई विधान बतलानेकी जरूरत पैदा हुई।

तृषा-रोगके निर्बल रोगीको, इच्छानुसार घड़ों पानी पिला देनेके समान, पानीका बिल्कुल न देना भी जिस प्रकार हानिकर (नुकसान-देनेवाला) होता है और इसलिए उसके वास्ते कोई हलका पेय (अर्क-शर्बतादि) पदार्थ तजवीज किया जाता है, जिससे उसका रोग शनैः शनैः दूर होजाय, उसी प्रकार कामतृष्णातुर निर्बल आत्माओंको, उनकी इच्छानुसार विषय-सेवन करानेकी तरह, सर्वथा विषयोंसे वंचित रखना भी—उनसे पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन कराना भी—अनिष्टकर होता है। और इसलिए उनके लिए 'गृहस्थाश्रम' या 'गृहस्थधर्म' नामका 'लघु पेय' तजवीज किया गया है, जिससे उनकी कामतृष्णा धीरे-धीरे शान्त होजाय।

इस पेयमे तीन चीजे मिली हुई है—धर्म, अर्थ और काम—जिनको 'त्रिवर्ग' भी कहते है। काम-सेवन पानीके समान है, धर्म काम-तृष्णाको दूर करनेवाली औषधि है और अर्थ (धन) दोनोंका साधन है—उन्हे यथास्थान (ठीक ठिकाने पर) पहुँचानेवाला है। इन तीनोकी मात्रा आदिक भी निर्दिष्ट (तजवीज) की गई है, जिससे परस्पर विरोध होकर किसी प्रकारका अनिष्ट न हो सके। अविरोध-रूपसे सेवन किया हुआ ही 'त्रिवर्ग' अभीष्ट फलको देनेवाला हो

सकता है। इसीलिये श्रीवादीभसिंहसूरि-जैसे विद्वानोंने कहा है—

परस्पराऽविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते।
अनर्गलमदः सौख्यमपवर्गो ह्यनुक्रमात्॥

—क्षत्रचूडामणिः

अर्थात्—धर्म, अर्थ और कामका यदि एक दूसरेके साथ विरोध न करके सेवन किया जाय तो उससे सासारिक सुखोकी प्राप्ति अनिवार्य होती है, और क्रमसे मोक्ष मिलता है।

काम-सेवनके लिये पुरुषको एक स्त्रीकी और स्त्रीको एक पुरुषकी आवश्यकता होती है। विना किसी विघ्न-वाधाके निर्दिष्ट रूपसे कामसेवन[1] होता रहे और उसके द्वारा धर्मौषधिकी उपयुक्त (यथोचित) मात्रा रोगीके शरीरमें पहुँचती रहे, इसी अभिप्रायसे विवाह कर्मकी सृष्टि की गई है।

विवाहकर्मको 'दारपरिग्रह' या 'दारकर्म' भी कहते हैं, जो गृहस्थ-धर्मका एक खास अङ्ग है। स्त्री-सहित रहनेका नाम ही 'गृहस्थ' है—जलभागकी जिसमे प्रधानता हो उसीको 'पेय' कहते हैं—वह गृहस्थ ही नही जिसके पास स्त्री नही[2]। 'गृह' शब्द भी स्त्रीका वाचक है। इसीलिए सोमदेवसूरि आदि विद्वानोने लिखा है—

गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः कुड्य-कट-संघातः।—सोमदेवः।
गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्य-कट-सहतिम्।—आशाधरः।
कृतदारपरिग्रहः गृहस्थः गृहशब्दस्य दार-वचनत्वात्।

—विज्ञानेश्वर.।

---

१. इस प्रकारके वाधा-रहित काम-सेवनको सोमदेवने 'अनुपहता रति' और आशाधरने 'अक्लिष्टा रति' लिखा है।

२ स कि गृहस्थो यस्य नास्ति सत्कलत्रसम्पत्तिः।

—नीतिवाक्यामृते, सोमदेव.

अर्थात्—वास्तवमें 'गृहिणी' (घरवाली) हीका नाम घर है। ईंट, पत्थर, लकड़ी आदिके समुदायका नाम घर नहीं है। साधारण बोल-चालमें भी 'घर' शब्द स्त्रीके अर्थमें व्यवहृत होता है—इस्तैमाल किया जाता है। जैसे एक शख्स कहता है कि मै घर-सहित आया हूँ, जिसका साफ अभिप्राय यह होता है कि 'मै अपनी स्त्रीको साथ लाया हूँ'। इन सब बातोंसे गृहस्थके लिये 'गृहिणी' का होना और भी ज़रूरी पाया जाता है। वह धर्म-संग्रहमें बहुत बड़ी सहायक होती है[1]। और इसीलिये संसारमें विवाहकी प्रथा प्रचलित हुई है।

किसी खास पेयके निर्दिष्ट हो जाने पर जिस प्रकार रोगीको, उसकी हितकामनासे, दूसरे इच्छानुसार पेयोंके सेवनका निषेध किया जाता है उसी प्रकार विवाह-द्वारा गृहस्थधर्मके, स्वीकार करने पर, पुरुषसे पर-स्त्रीका और स्त्रीसे पर-पुरुषका त्याग कराया जाता है। विवाहके समय दोनोंको प्रतिज्ञाएँ करनी होती है। इस तरह दोनों शीलव्रतको धारण करते है, जिसको परदारनिवृत्ति, स्वदारसंतोष, स्वभर्तृसंतुष्टि और लघुब्रह्मचर्यादि नामोंसे पुकारा जाता है। इससे बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि संसारमें शान्ति स्थापित होती है, छीना-झपटीकी प्रथा उठ जाती है, वैर-विरोध बढ़ने नही पाते और हर शख्स बिना किसी रोक-टोकके अपने विषयोंको भोग सकता है तथा आनन्दके साथ अपने धर्मादिक कार्योंका सम्पादन कर सकता है। विपरीत इसके, व्यभिचारका प्रचार होनेसे जगतमें अशान्ति फैल जाती, छीनाझपटीकी प्रथा बढ़ जाती, मनुष्योका जीवन दुःख और आकुलतामय बन जाता और उनका भविष्य बिगड़ जाता। इससे कहना पड़ता है कि विवाहकी यह रीति बहुत ही सोच-विचार कर जारी की गई है। स्त्री हो या पुरुष, जो कोई भी विवाहके इस नियम-का उल्लंघन करता है - अपने व्रतको तोड़ता है—वह राजासे दंड-

---

१ नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे। —महाभारतः

-नीय और प्रजासे धिक्कारका पात्र होता है, चोर-जार-पापी कहलाता है, अपने उद्देश्यसे गिर जाता है और उसे 'जगतका शांति-भंग-कर्ता' समझना चाहिए। इस विषयमे सोमप्रभाचार्यने 'सूक्ति-मुक्तावली' में बहुत ही अच्छा लिखा है :—

दत्तस्तेन जगत्यकीर्ति-पटहो गोत्रे मषी-कूर्चक-
श्चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुण-गणारामस्य दावानलः।
सकेतः सकलापदां शिवपुर-द्वारे कपाटो दृढः
शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्य-चिन्तामणि ॥

अर्थात्—जिस मनुष्यने अपने 'शीलव्रत' को जो तीन लोकका चिन्तामणि रत्न है, भग कर दिया है उसने जगतमे अपकीर्त्तिका ढोल वजा दिया है अपने कुलमे स्याहीका पोता फेर दिया है, निर्मल चारित्रको जलाञ्जलि दे दी है, गुणसमूहरूपी वागीचेमे आग लगा दी है, वहुतसी आपदाओको बुलानेके लिए इशारा कर दिया है और मजवूत किवाड़ लगाकर अपने मोक्षके दरवाजेको वन्द कर दिया है।

इससे भले प्रकार समझमे आ सकता है कि 'शीलव्रत' को भंग करना कितना वड़ा अपराध है।

उद्देश्य-विनिर्देश

अव यहाँ पर यह वतला देना जरूरी है कि, प्यासके रोगीका उद्देश्य 'पानी पीना' नही होता। उससे प्यासकी वेदना सही नही जाती, इससे मजवूरन (लाचारीसे) उसकी अल्पकालिक शान्तिके लिए जल ग्रहण करता है। उसका उद्देश्य होता है "प्यासका न उत्पन्न होना—तृषारोगका समूल नाश हो जाना"। साथ ही, वह यह भी चाहता है कि 'मुझमे प्यासको सहन करनेकी शक्ति उत्पन्न हो और उस शक्तिके अनुसार प्यासको सहन करनेकी चेष्टा भी करता है। उसका यह कर्तव्य नही होता कि प्यासको शान्तावस्थामें भी—जिस वक्त प्यास दवी हुई है उस वक्त भी— ख्वाहमख्वाह

बिना प्रयोजन भी—पानी पीता रहे या तृषा-वर्धक पदार्थोंको खाकर अपनी प्यास बढ़ा लेवे। इसी तरह गृहस्थका विवाह-द्वारा काम-सेवन करना उद्देश्य न होना चाहिए। काम-तृष्णाकी असह्य वेदना उत्पन्न होने पर—प्राकृतिकरूपसे कामका वेग बढ़ने पर—उसकी अल्पकालिक शांतिके लिए अथवा प्रकृतिकी तात्कालिक पुकारको पूरा करनेके लिये ही उसे संभोग करना चाहिए। "कामकी वेदनाका उत्पन्न न होना, कामतृष्णाका समूल नाश होजाना और कामको जीतने की अपनेमें शक्ति पैदा करना ही" उसका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। साथ ही, उसे अपनी शक्तिके अनुसार प्रति-पक्ष-भावनाओंसे—विषयोंसे ग्लानि और ब्रह्मचर्यसे अनुराग उत्पन्न करानेवाली विचारधाराओंसे—काम पीड़ाको जीतनेका अभ्यास करना चाहिए। उसका यह कर्त्तव्य कभी न होना चाहिए कि, कामकी शान्तावस्थामें भी, विनोद आदिके तौरपर, कामक्रीड़ा करता फिरे या कामोद्दीपक पदार्थोंका—सोते हुए कामदेवको जगानेवाले लड्डुओं आदिका—सेवन करके अपनी कामतृष्णाको उत्पन्न करे। जो गृहस्थ ऐसा करता है वह विवाहके उद्देश्यसे गिर जाता है और उसे तरह तरहकी यातनाएँ भोगनी पड़ती है। जरूरत बिना जरूरत अधिक मैथुन करनेसे—वीर्यका दुरुपयोग करनेसे—उसकी शक्ति क्षीण होजाती है। वह अपने बलको यहाँतक खो बैठता है कि बादको (पीछेसे) फिर बहुत कुछ पौष्टिक पदार्थोंका सेवन करने पर भी—अनेकों वैद्यों, हकीमों और डाक्टरोंकी शरणमें जाने-पर भी—उसकी वह शक्ति वापिस नही आती और वह नपुंसक बन जाता है; जैसा कि श्रीसोमदेवसूरिके इन वाक्योंसे प्रकट हैं:—

निकामं-कामकामात्मा तृतीया प्रकृतिर्भवेत्। (यशस्तिलक)

स्त्रियमतिभजमानो भवत्यवश्यं तृतीया प्रकृतिः। (नीतिवा०)

इसलिए विवाहके उद्देश्यको खूब ध्यानमें रखते हुए, गृहस्थोंको चाहिए कि वे अपनी कामवासनाको परिमित रक्खें, इन्द्रियोंका

विजय[1] करना सीखें और 'विरुद्धकामप्रवृत्ति' (बे-कायदे काम-सेवन करनेवाले) न बने। साथ ही, उन्हें 'धर्म' और 'अर्थ' पुरुषार्थों-का योग्य-रीतिसे सम्पादन करते हुए, स्त्रीका सेवन इस तरह पर करना चाहिए जिस तरह पर शरीर और मनका आताप मेटनेके लिए भोजनका सेवन किया जाता है। अन्यथा, अधिक स्त्रीसेवनसे उन्हें अपने धन, धर्म और शरीर तीनोंकी हानि उठानी पड़ेगी। इसी अभिप्रायको लेकर विद्वद्वर पंडित आशाधरजी ने लिखा है:—

भजेद्देहमनस्तापशमान्तं स्त्रियमन्नवत्।
क्षीयन्ते खलु धर्मार्थकायास्तदतिसेवया ॥ (सागारधर्मामृत)

सोमदेवसूरिने भी 'यशस्तिलक' और 'नीतिवाक्यामृत' में ऐसा ही प्रतिपादन किया है :—

ऐदंपर्यमतो मुक्त्वा भोगानाऽऽहारवद्भजेत्।
देह-दाहोपशान्त्यर्थमभिध्यान-विहानये ॥ (यशस्तिलक)

न तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्य स्त्रीष्वत्यासक्तिः (नीतिवा०)

वास्तवमे गृहस्थाश्रम एक 'रसायन' है। रसायनके तैयार करने-मे किसी औषधिके छूट जानेसे, औषधियोका वजन कमती बढ़ती हो जानेसे या उनकी प्रक्रिया ठीक न बैठनेसे जिस प्रकार इष्टफल घटित नही होता, उसी प्रकार गृहस्थाश्रममे धर्म, अर्थ और काम इन तीनो पुरुपार्थोमिसे किसीके छूट जाने या जानबूझ कर छोड़ दिये जाने पर पुरुपार्थोकी मात्रामें कमी-बेशी हो जाने पर या और प्रकारसे उनकी प्रक्रिया और सेवन-विधि ठीक न बैठने पर इष्ट-फलकी प्राप्ति नहीं

---

१ इष्ट-पदार्थमे आसक्तिका और विरुद्धमे प्रवृत्तिका न होना 'इद्रिय-जय' कहलाता है, जैसा कि श्रीसोमदेवसूरिके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

इष्टेऽर्थेऽनासक्तिर्विरुद्धे चाऽप्रवत्तिरिन्द्रियजयः।

हो सकती। इसलिये विवाह करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेवाले पुरुष और स्त्री दोनोंको धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थोंका 'अविरोधरूपसे' या 'समानरूपसे'[1] सेवन करना चाहिए। 'धर्म' को घात करके दूसरे पुरुषार्थोंका सेवन करनेवाला मनुष्य उस किसान (कृषक) के समान है जो बीज न रखकर अपने खेतकी सब पैदावार (उपज) खा जाता है और अन्तमें दुखी होता है। असलमें सुखी वही कहलाता है जो आगामी सुखका विरोध न करके वर्त्तमान सुखको भोगता है। 'अर्थ' पुरुषार्थको घात करनेवाला गृहस्थ विपत्तिमें पड़ता है; क्योंकि उसके धर्म और कामका साधन अर्थ ही है ('धर्म-काम-योरर्थमूलत्वात्')। और 'काम' पुरुषार्थको घात करनेवाला गृहस्थ ही नहीं कहला सकता—गृहस्थीमें रहते इन्द्रियविषयोंका सेवन जरूरी है। इसी तरह पर जो गृहस्थ 'केवल काम' पुरुषार्थका ही सेवन करता है उसके धन, धर्म और शरीर तीनों नष्ट हो जाते हैं। उसे इस लोक और परलोकमें सभी जगह कष्ट उठाना पड़ता है। जो 'केवल धन' ही कमाता है, न उसे परोपकारादि धर्मकार्योंमे लगाता है और न अपने विषयभोगोंमें, उसके बराबर कोई मूर्ख नहीं हो सकता, वह केवल बोझा ढोनेवाला है—वह अपने दोनों लोक बिगाड़ता है। और जो 'केवल धर्म ही धर्म' का सेवन करता है वह गृहस्थ नहीं हो सकता, उसे मुनि या साधु कहना चाहिए। इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर और इनके पालनके लिए तैयार होकर ही मनुष्योंको 'गृहस्थाश्रम' में प्रवेश करना चाहिए, अर्थात् विवाह कराना चाहिये। तब ही विवाहसे यथेष्ट लाभ—जैसा चाहिए वैसा फायदा—हो सकता है और तब ही उनका गृहस्थाश्रम सुखाश्रम बन सकता है।

ग्राह्य-स्त्री

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि, विवाहके इस उद्देश्यको पूरा करनेके लिए किस वर्ण या जातिकी स्त्रीसे पाणि-ग्रहण (विवाह) किया जाय ? यह प्रश्न उसी प्रकारका होगा जिस प्रकार 'पेय' के सम्बन्धमें यह पूछा जाय कि उसमें कौनसे कुएँ या नदी आदिका पानी डाला जाय ? और जिस प्रकार उसका उत्तर अधिकसे अधिक इतना ही हो सकता है कि, जिस कुएँ या नदीका पानी पीनेके लिये मिल सकता हो और जिसके पीनेमें किसी प्रकार-की घृणा या संकोच न हो और जो साथ ही शुद्ध-साफ़ तथा निर्दोष हो, पेयके उद्देश्यमें बाधक न हो, वह सब पानी पीनेके लिए ग्रहण किया जा सकता है। उसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिए। "जिस वर्ण या जातिसे, परस्पर व्यवहारके कारण, स्त्री मिल सकती हो और जिसके सेवनमें किसी प्रकारकी घृणा या सकोच न हो और जो साथ ही शुद्ध-साफ तथा निर्दोष हो, शीलादि गुणोंसे युक्त हो, अंगोपांगसे दुरुस्त हो, रोग-रहित हो, पढ़ी लिखी-गुणवती हो और विवाहके उद्देश्यमे किसी प्रकारसे बाधक न होसके वह स्त्री विवाहके लिए ग्राह्य है—ग्रहण किये जाने योग्य है"। इससे अधिक इस विषयमें, सर्वसाधारणकी दृष्टिसे, कोई खास नियम निर्धारित नही किया जा सकता। जैन शास्त्रोंमें भी इस विषयका कोई सार्वकालिक और सार्वदेशिक एक नियम नही पाया जाता ❀। अस्तु।

❀ 'एक नियम नही पाया जाता' इसका कुछ अनुभव पाठकोंको नीचेके अवतरणों तथा प्रमाणोंसे हो जायगा, जो केवल इसे ही अनुभव करानेके एक मात्र उद्देश्यसे दिये जाते है। उनसे किसी खास रीति-रिवाजको पुष्ट करना या उसपर चलनेकी प्रेरणा करना यहा इष्ट

सबसे प्रधान उद्देश्य

समाज-संगठन

अब विवाहका सबसे प्रधान उद्देश्य बतलाया जाता है, जिसका नाम है 'समाज-संगठन'—अर्थात्, समाजका सुव्यवस्थित, बलाढ्य

नही है :-

(१) भगवज्जिनसेनाचार्य और श्रीसोमदेवसूरिने आनुलोम्यरूपसे ब्राह्मणोके लिए चारो, क्षत्रियोके लिए तीन, और वैश्योके लिये सिर्फ दो वर्णोकी स्त्रियोसे विवाह करनेका विधान किया है—अर्थात् तीनो वर्णोके लिए शूद्रा स्त्रीसे विवाह करना भी उचित ठहराया है। परन्तु प्रतिलोम-विवाहकी—अपनेसे ऊपरके वर्णकी स्त्रीसे विवाह करनेकी—आज्ञा नही दी। जैसा कि उनके निम्न वाक्योसे प्रकट है—

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां ता च नैगमः।
वहेत्स्वा ते च राजन्यः स्वा द्विजन्मा क्वचिच्च ताः॥—आदिपुराण
आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णकन्याभाजना ब्राह्मणक्षत्रियविशः।
—नीतिवाक्यामृत

(२) 'धर्मसग्रहश्रावकाचार' मे प्रथम तीन वर्णोके लिये परस्पर विवाह करनेका विधान किया गया है और शूद्रोके साथ विवाह-सम्बंधका सर्वथा निषेध किया है। यथा—

परस्परं त्रिवर्णाना विवाहः पंक्तिभोजनं।
कर्त्तव्यं न च शूद्रैस्तु शूद्राणां शूद्रकैः सह ॥

इससे असवर्ण विवाहके साथ साथ प्रतिलोम विवाहकी भी साफ तौरसे ध्वनि निकलती है। और प्रथमानुयोगके ग्रन्थोमे तो प्रतिलोम विवाहके कितने ही उदाहरण पाये जाते है। स्वय राजा श्रेणिकने, जो क्षत्रिय था, अपने पुरोहित सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्रीसे विवाह किया था।

और वृद्धिगत होना। समाज व्यक्तियोंसे बनता है—व्यक्तियोके समुदायका नाम ही समाज है—और व्यक्तियोका समुदाय तभी बढ़ता है जब कि विवाहसे संतान उत्पन्न हो। इसलिए संतानोत्पा-

---

(३) दाय-भागके ग्रन्थो अथवा प्रकरणोमे भी असवर्ण विवाहके विधानोका उल्लेख पाया जाता है—उनमे ऐसे विवाहोसे उत्पन्न हुई सततिके लिये विरासतके नियम दिये हैं—और उनके लिये 'अर्हन्नीति' आदि ग्रन्थोको देखना चाहिये, जिनके प्रमाणोको विस्तार-भयसे छोडा जाता है। अथवा जैन-ला-कमेटी देहली द्वारा प्रकाशित 'जैन-नीति-सग्रह' को देखना चाहिये जिसमे ऐसे कितने ही प्रकरणोका सग्रह किया गया है।

जब असवर्ण विवाहो तकका विधान है तब जातियो उपजातियोकी तो कोई गिनती ही नही हो सकती—उनकी कल्पना तो बहुत पीछे हुई है।

(४) म्लेच्छो और भीलोकी कन्याओके साथ विवाह होनेके भी बहुतसे उदाहरण शास्त्रोमे मिलते हैं और उनके करनेवाले अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित पुरुष हुए है; जैसे तीर्थंकर, चक्रवर्ति, वसुदेव आदि। परतु आज ऐसे सम्बन्ध गर्हित समझे जाते है।

(५) श्रीनेमिनाथके चचा वसुदेवजीने अपने चचाजाद भाई देवसेन-की लडकी 'देवकी' से भी विवाह किया था। और इससे यह प्रकट है कि उस समय गोत्र तो गोत्र एक कुटुम्बमे भी विवाह हो जाता था, जो आजकल हेय समझा जाता है। और कुछ जातियोमे तो आठ-आठ गोत्र टालकर विवाह किया जाता है। वसुदेवजीने 'एणीपुत्र' नामकके 'व्यभिचारजात' की पुत्री 'प्रियगुसुन्दरी' से भी, जिसे आजकलकी भाषामे 'दस्से या गाटेकी लडकी' कहना चाहिये, विवाह किया था। (देखो 'हरिवंशपुराण'।)

(६) मामा फूफीकी कन्याओसे विवाहका पहले आम दस्तूर था

दन करना भी विवाहका मुख्य उद्देश्य है। जिस मैथुनसे प्रजा या संतान उत्पन्न नहीं होती उसको विद्वानोंने नामका मैथुन, निष्फल मैथुन और धिक्कारयोग्य मैथुन कहा है ('धिग्मैथुनमप्रजम्')।

और उनके उदाहरणोसे शास्त्र भरे हुए है। अब भी कितनी ही जातियोमे अथवा स्थानोपर ऐसे विवाह होते है और इसीलिये सोमदेवसूरिने लिखा है कि 'देश-कुलापेक्षो मातुल-सम्बन्धः'—अर्थात् मामाकी पुत्रीसे विवाह देश तथा कुलकी अपेक्षा रखता है। अतः वह सार्वदेशिक नही है।

(७) आदिपुराणमे, विवाह-विधानोमे स्वयंवर-विधिको सबसे श्रेष्ठ बतलाया है और उसे सनातन मार्ग लिखा है। यथा :—

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुति-स्मृतिषु भाषितः।
विवाह-विधि-भेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः॥

परन्तु स्वयंवरमे कन्या अपनी इच्छानुसार वरको वरण करती है। उसमे कुलीन या अकुलीनका कोई विचार अथवा क्रम नही होता; जैसा कि ब्रह्मजिनदासकृत हरिवंशपुराणके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगता वरं।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे॥

ऐसी हालतमे विवाहके लिए वर्ण, जाति और कुल-गोत्रका कुछ भी नियम नही रहता।

(८) सोमदेवसूरि आदि कितने ही विद्वानोने, गृहस्थोके लिये लौकिक और पारलौकिक ऐसे दो प्रकारके धर्मोका विधान करते हुए लौकिकधर्मको लोकाश्रित—अर्थात् लौकिक जनोकी देशकालानुसारिणी प्रवृत्तिके अधीन—और पारलौकिकको आगमाश्रित अथवा आप्तप्रणीत शास्त्रोके अधीन बतलाया है। सांसारिक व्यवहारोके लिये आगमका आश्रय लेना भी व्यर्थ ठहराया है। और साथ ही, यह प्रतिपादन किया है कि जैनियोंके लिये वे संपूर्ण लौकिक विधियाँ प्रमाण है—

और इसी लिए प्रायः ऋतुकालमें ही मैथुनका विधान किया गया है ('ऋतौ भार्यामुपेयात्'), जब कि स्त्रीमे गर्भाधानकी योग्यता रहती है और जो स्त्रीको मासिक धर्म हो चुकने पर प्रायः १२ दिन तक रहती है। दूसरे समयोमें मैथुन करनेसे गर्भ धारण नही हो सकता, ऐसा वैद्यकशास्त्रोंका मत है। भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें, विवाह-विधिका वर्णन करते हुए, साफ तौरसे "संतानके लिए ऋतुकालमेंही" स्त्रीपुरुषोंको, यदि वे उस समय रोगादिकके कारण

ग्राह्य हैं---जिनसे उनकी धार्मिक श्रद्धा (सम्यक्त्व) मे कोई बाधा न पडती हो और न व्रतोमे ही कोई दूषण लगता हो। यथा---

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाऽऽद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥
संसार-व्यवहारे तु स्वतः सिद्धे वृथागम.।
सर्व एव हि जैनाना प्रमाणं लौकिको विधि.
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणं॥

---यशस्तिलक

ऐसी हालतमे विवाह-विधिका,जो कि गृहस्थोका एक लौकिक धर्म है और लोकाश्रित होनेसे परिवर्तनशील है, कोई सार्वकालिक और सार्वदेशिक एक नियम हो ही नही सकता। और इसलिये जिन विवाह-विधियोके द्वारा दूसरे वर्णों या जातियो आदिके साथ सम्बंध जोडा जाता है उनसे यदि जैनियोकी धार्मिक श्रद्धामे कोई बाधा न पडती हो और न उनके व्रतोमे कोई दोप लगता हो तो वे सभी विधियाँ जैनियोके लिये एक प्रकारसे उचित और मान्य ठहरती है। और इसीलिये 'ग्राह्य-स्त्री'के सम्बन्धमे ऊपर जो कुछ उत्तर दिया गया है वह ठीक और समुचित ही प्रतीत होता है।

जैनशास्त्रोकी तरह, हिन्दू-धर्मके ग्रन्थोमे भी, सर्व देशो और सर्व समयोके लिये, ग्राह्य-स्त्री-विपयक कोई एक नियम नही पाया जाता।

या और तौरपर वैसा करनेके लिये असमर्थ न हों और वह समय भी कोई पर्वादि वर्ज्य काल न हो तो, परस्पर काम-सेवन करना लिखा है। यथाः--

संतानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत्।
शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥३८-१३५॥

इसी ग्रन्थके १५ वे पर्वमे उक्त आचार्यमहोदयने ये वाक्य भी दिये है:—

त्वामाऽऽदिपुरुषं दृष्ट्वा लोकोऽप्येवं प्रवर्त्तताम्।
महतां मार्गवर्तिन्य: प्रजा: सुप्रजसो ह्यमूः ॥६१॥
ततः कलत्रमत्रेष्टं परिणेतुं मनः कुरु।
प्रजा-संततिरेवं हि नोच्छेत्स्यति विदांवर ॥६२॥
प्रजा-संतत्यविच्छेदे तनुते धर्म-संततिः।
मनुष्व मानव धर्मं ततो देवैनमच्युत ॥६३॥
देवेमं गृहिणां धर्मं विद्धि-दारपरिग्रहम्।
संतानरक्षणे यत्नः कार्यो हि गृहमेधिनाम् ॥४६।

इन वाक्योमें विवाहकी उस प्रार्थनाका वर्णन है जो युगकी आदिमें नाभिराजाने भगवान् वृषभदेवसे की थी और जिसके अनुसार वृषभदेवने विवाह कराना स्वीकार किया था। प्रार्थनामें बतलाया गया है कि 'विवाह करना गृहस्थोंका धर्म है'[1]। गृहस्थोको संतान

---

१ जैन-विवाह-पद्धतिमे भी लिखा है कि 'अन्य-स्त्रीका त्याग और निजस्त्री-मात्रमे प्रवृत्तिरूप जो यह विवाहकर्म है वह गृहस्थोका धर्म है और संततिका योग्य रीतिसे पालन करनेके लिये अनादि-प्रवाहसे चला आता है। इस गृहस्थ-धर्मका यथेष्ट रीतिसे धारण और पालन होनेपर मुनि-धर्ममे आदर उत्पन्न होता है अथवा यो कहिये कि मुनि-धर्मकी ओर लोगोकी प्रवृत्ति होती है।' यथा.—

अन्याङ्गनापरिहृतिर्निजदारवृत्ति-

उत्पन्न करने और उसकी रक्षा करनेमे यत्न करना चाहिए। विवाह के द्वारा प्रजाका सिलसिला वद न होकर धर्मका सिलसिला बराबर जारी रहता है'। इससे विवाहका साफ उद्देश्य धार्मिक संतानका उत्पन्न करना पाया जाता है। इसी तरह श्रीसोमदेवसूरि और पं० आशाधरजी आदि दूसरे जैन विद्वानोने भी संतानोत्पादनको विवाह-का उद्देश्य बतलाया है। हिन्दू-धर्मके विद्वानोका भी इस विषयमे प्राय: ऐसा ही मत है[1]।

संगठनकी ज़रूरतका बाह्यदृष्टिसे विचार

अब देखना यह है कि विवाहद्वारा संतान उत्पन्न करके समाज-संगठनकी जरूरत क्यो पैदा होती है? ज़रूरत इसलिये होती है कि यह जीवन एक प्रकारका 'युद्ध' है—लौकिक और पारलौकिक

धर्मो गृहस्थजनता-विहितोऽयमास्ते।
नादिप्रवाह इति सन्तति-पालनार्थ—
मेवं कृतौ मुनिवृषे विहितादरः स्यात्॥

१ वे भी धार्मिक प्रजाकी अथवा धर्म और प्रजा (संतति) दोनों-की सततिको विवाहका प्रयोजन मानते हैं; जैसा कि याज्ञवल्क्य-स्मृति-के निम्न श्लोक और उसकी 'मिताक्षरा' टीकामे प्रकट है—

लोकानन्त्यं दिव-प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः।
यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः कर्त्तव्याश्च सुरक्षिता॥

टीका—लोके आनत्यं वंशस्याविच्छेदः दिव.प्राप्तिश्च दारसंग्रहस्य प्रयोजनम्। कथमित्याह्। पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रकैर्लोकानन्त्यम्,अग्निहोत्रादि-भिश्च स्वर्गप्राप्तिरित्यन्वय.। यस्मात् स्त्रीभ्य एतद्द्वय भवति तस्मात् स्त्रियः सेव्या उपभोग्याः प्रजार्थम्। रक्षितव्याश्च धर्मार्थम्। तथा चाऽऽपस्तम्बेन धर्मप्रजासंपत्ति' प्रयोजन दारसंग्रहस्योक्त 'धर्मप्रजासं-पन्नेषु दारेषु नान्या कुर्वीत' इति वदता। रति-फलं तु लौकिकमेव।

या अन्तरग और बहिरग दोनो ही दृष्टियोसे इसे युद्ध समझना चाहिए—और यह संसार 'युद्धक्षेत्र' है। युद्धमें जिस प्रकार अनेक शक्तियोंका मुकाबला करनेके लिये सैन्य-संगठनकी जरूरत होती है उसी प्रकार जीवन-युद्धमें अनेक आपदाओसे पार पानेके लिए समाज-संगठनकी आवश्यकता है।

हम चारों ओरसे इस संसारमें इतनी आपत्तियों-द्वारा घिरे हुए है कि यदि हमारे पास उनसे बचनेका कोई साधन नही है तो हम एक दिन क्या, घड़ी भर भी जीवित नही रह सकते। बाह्य जगत पर दृष्टि डालनेसे मालूम होता है कि एक शक्ति बड़ी सरगर्मी (तत्परता) के साथ दूसरी शक्ति पर अपना स्वत्व (स्वामित्व) और प्राबल्य स्थापित करना चाहती है, अपने स्वार्थके सामने दूसरी को बिलकुल तुच्छ और नाचीज समझती है, चैतन्य होते हुए भी उससे जड-जैसा व्यवहार करती है और यदि अवसर मिले तो उसे कुचल डालती है—हडप कर जाती है। रात दिन प्रायः इस प्रकार-की घटनाएँ देखनेमें आती है। निर्बलों पर खूब अत्याचार होते है। न्यायालय खुले हुए है, परन्तु वे सब उनके लिये व्यर्थ है। उनकी कोई सुनाई नही होती। इसीलिए न कि, उनका कोई रक्षक या सहायक नही है, उनमें कौटुम्बिक बल नही है, जिस समाजके वे अंग है वह सुव्यवस्थित नही है, पैसा उनके पास नही है, उन्हे कोई साक्षी उपलब्ध नही होता– कोई गवाह मयस्सर नही आता। जो लोग प्रत्यक्षमें उनपर होते हुए अत्याचारोंको देखते है वे भी अत्या-चारीके भयसे या अपने स्वार्थमें कुछ बाधा पड़नेके भयसे बेचारे गरीबोंकी कोई मदद नही करते, उन्हें 'न्याय-भिक्षा' दिलानेमें समर्थ नही होते। और इस तरह बेचारे पारिवारिक और सामाजिक शक्ति-विहीनोंको रात-दिन चुपचाप घोर संकट और दुःख सहन करने पड़ते है।

ससारमें अविवेक और स्वार्थकी मात्रा इतनी बढ़ी हुई है कि

उसके आगे पापका भय कोई चीज नही है। पापके भयसे वहुत ही
कम अपराधोकी रोक होती है। ऐसे वहुत ही कम लोग निकलेंगे
जो पापके भयसे अपराध न करते हो। जो है उन्हे सच्चे धर्मा मा
समझना चाहिए। वाकी अधिकांश लोग ऐसे ही मिलेंगे जो लोक-
भयसे, राज्य-भयसे या परशक्तिके भयसे पापाचरण करते हुए डरते
है। अन्यथा, उन्हे पापसे कोई घृणा नही है वे सव जव मौका
मिलता है तव ही उसे कर वैठते हैं।

ऐसी हालतमें समूह वनाकर रहनेकी वहुत ही जरूरत है।
समूहमे वहुत वड़ी शक्ति होती है। छोटे छोटे तिनकों और कच्चे
सूतके धागोंका कुछ भी वल नही है, उन्हे हर कोई तोड़-मरोड
सकता है। परन्तु जव वे मिलकर एक मोटे रस्सेका रूप धारण
कर लेते है तव बडे बडे मस्त हाथी भी उनसे वाधे जा सकते है।
चीटिया आकार मे कितनी छोटी छोटी होती हैं, परन्तु वे अपनी
समूहशक्तिसे एक सापको मार लेती हैं। जिनकी समूहशक्ति बढी हुई
होती है उन पर एकाएक कोई आक्रमण नही कर सकता हर एकको
उन पर अत्याचार करने या उनके स्वार्थमें वाधा डालनेका साहस
नही होता, उनके स्वत्वों और अधिकारोकी वहुत कुछ रक्षा होती
है। विपरीत इसके, जिनमे समूहशक्ति नही होती वे निर्वल कहलाते
है और निर्वलो पर प्राय राजा और प्रजा सभीके अत्याचार हुआ
करतेहै। छोटी छोटी मछलियाँ सख्यामे अधिक होने पर भी अपनेमें
समूहशक्ति नही रखती, इसलिये वड़ी वड़ी मछलियाँ या मच्छ उन्हें
खा जाते है। मधुमक्खियाँ (शहदकी मक्खियाँ) अपनेमे कुछ समूह-
शक्ति रखती हैं, इससे हर एकको उनके छत्तेके पास तक जानेका
साहस नही होता। साधारण मक्खियोमे वह शक्ति नही है, इसलिये
उन्हे हर कोई मार गिराता है। इससे केवल व्यक्तियोकी सख्याके
अधिक होनेका नाम 'समूह' या 'समूहशक्ति' नही है, वल्कि उनका
मिलकर 'एक प्राण' और 'एक उद्देश्य' हो जाना ही समूहशक्ति

कहलाता है।

एक कुटुम्बके किसी व्यक्ति पर जब कोई अत्याचार करता है तो उस कुटुम्बके सभी लोगोको एकदम जोश आजाता है और वे उस अत्याचारीको उसके अत्याचारका मजा (फल) चखानेके लिए तैयार हो जाते है, इसीको 'एक प्राण होना' कहते है। इसी तरह जब कुटुम्बका कोई मनुष्य कुटुम्बके उद्देश्यके विरुद्ध प्रवर्त्तता है--अन्यायमार्ग पर चलता है-तो उससे भी कुटुम्बके लोगोके हृदय पर चोट लगती है और वे,शरीरके किसी अंगमें उत्पन्न हुए विकार-के समान, उसका प्रतिशोध करनेके लिये तैयार हो जाते है, इसको भी 'एक प्राण होना' कहते है। साथ ही,यह सब उनके 'एक उद्देश्य' होनेको भी सूचित करता है।

इस प्रकार एक प्राण और एक उद्देश्य होकर जितनी भी अधिक व्यक्तियां मिलकर एक साथ काम करती हैं उतनी ही अधिक विघ्न-बाधाओंसे सुरक्षित रहकर वे शीघ्र सफल मनोरथ होती हैं। यही समाज-संगठनका मुख्य उद्देश्य है और इसी खास उद्देश्यको लेकर विवाहकी सृष्टि की गई है। इसमें पूरा 'रक्षा-तत्त्व' भरा हुआ है।

एक विवाह होने पर दोनों पक्षकी कितनी शक्तियाँ परस्पर मिलती है, एक दूसरेके सुख-दुखमें कितनी सहानुभूति बढती है और कितनी समवेदना प्रकट होती है, इसका अनुभव वे सब लोग भले प्रकार कर सकते है जो एक सुव्यवस्थित कुटुम्बमें रहते हो। युद्धमे दो राजशक्तियोके परस्पर मिलनेसे—एक सूत्रमे बँधनेसे—जिस प्रकार आनन्द मनाया जाता है, उसी प्रकार विवाहमें वर और वधू दोनों पक्षकी शक्तियोंके मिलापसे आनन्द का पार नही रहता। इस सम्मिलित शक्तिसे जीवन-युद्ध अनेक अंशोंमें सुगम होजाता है। विवा-हके द्वारा कुटुम्बोकी रचना होती है और कुटुम्बोसे 'समाज' बनता है। कुटुम्बोके संगठित,बलाढ्य और सुव्यवस्थित होनेपर समाज सहज-में ही संगठित, बलाढ्य और सुव्यवस्थित होजाता है। और समाजके

सगठित, वलाढ्य और सुव्यवथित होने पर उन सब लौकिक तथा धार्मिक स्वत्वोकी—अधिकारोंकी—पूर्णतया रक्षा होती है, जिनकी रक्षा प्रत्येक व्यक्ति या कुटुम्ब अलग अलग नही कर सकता।

दूसरे शब्दोमे यो कहना चाहिए कि सब कुटुम्ब समाज शरीरके अङ्ग है। एक भी अङ्गकी व्यवस्था बिगड़ जानेपर जिस प्रकार शरीर-के काममें बाधा पड जाती है, उसी प्रकार किसी भी कुटुम्बकी व्यव-स्था बिगड जाने पर समाजके काममें हानि पहुँचती है। और जिस प्रकार सब अङ्गोंके ठीक होनेपर शरीर स्वस्थ और नीरोग होकर भले प्रकार सब कार्योंका सम्पादन करनेमे समर्थ हो सकता है, उसी प्रकार समाज भी सब कुटुम्बोंकी व्यवस्था ठीक होनेपर यथेष्ट रीतिसे धर्म-कर्म आदिकी व्यवस्था कर सकता है और प्रत्येक कुटुम्ब तथा व्यक्ति-के स्वत्वोकी रक्षा और उसकी आवश्यकताओकी पूर्तिका समुचित प्रबध कर सकता है। इससे कहना होगा कि 'समाजका सगठन कुटुम्बोंके सगठनपर अवलम्बित है और कुटुम्वके संगठनका भार कुटुम्बके प्रधान व्यक्तियो पर— गृहिणी और गृहपति' पर—होता है। इसलिए वि-वाहके इस उद्देश्यको पूरा करनेके लिये विवाहित और विवाहके लिए प्रस्तुत स्त्री-पुरुषोको इस ओर खास ध्यान देनेकी जरूरत है। उन्हे अपनी जिम्मेदारियोको खूब समझ लेना चाहिये। उनके द्वारा कोई भी ऐसा काम न होना चाहिए जिससे समाजसंगठनमें बाधा पड़ती हो। साथ ही, उन्हें यह भी जान लेना चाहिए कि जबतक परिस्थिति नही सुधरेगी—वातावरण ठीक नही होगा—तब तक हम अपनी स्थितिको भी जैसा चाहिए वैसा नही सुधार सकते। इसलिये समाज-सगठनके अभिप्रायसे—वायुमंडलको सुधारनेकी दृष्टिसे—उन्हे अपने कुटुम्बको सुव्यवस्थित करनेमें कोई बात उठा न रखनी चाहिये। इस प्रकारके प्रयत्नसे सब कुटुम्बोके सुव्यवस्थित हो जाने पर जो स्वच्छ वायु-धारा बहेगी वह सभीके लिये स्वास्थ्यप्रद होगी और उसमें रह-कर सभी लोग अपना कल्याण कर सकेंगे।

प्रत्येक कुटुम्बको 'सुव्यवस्थित और बलाढ्य' बनानेके लिए उसके प्रधान पुरुषोंको इन बातोपर ध्यान रखनेकी खास जरूरत है:—

(१) स्वयं सदाचारसे रहना और अपने कुटुम्बियों तथा आश्रितो-को सदाचारके मार्ग पर लगाना। ऐसा कोई काम न करना जिसका समाजपर बुरा असर पड़े।

(२) अपने बुद्धि-बल शरीर-बल और धन-बलको बराबर बढाते रहना और सदा प्रसन्न चित्त रहनेकी चेष्टा करना।

(३) सबके दुख-सुखका पूरा खयाल रखना, सबको परस्पर प्रेम तथा विश्वास करना सिखलाना और दुःखियोके दु.ख दूर करनेका प्रयत्न करना। साथ ही, किसीपर अत्याचार न करना और दूसरोके द्वारा होते हुए अत्याचारोंको यथाशक्ति रोकना।

(४) वीर्यका दुरुपयोग न करके प्रायः सन्तानके लिए ही मैथुन करना। किसी व्यसनमें न फँसना और जितेन्द्रिय रहना।

(५) स्वयं कुसङ्गतिसे बचना और अपने परिवारके लोगोंको बचाते रहना। साथ ही, अपनी सन्ततिका कभी बाल्यावस्थामे विवाह न करना।

(६) सन्तानकी तथा अन्य कुटुम्बियोकी शिक्षाका समुचित प्रबन्ध करना, उन्हें धर्मके मार्ग पर लगाना और ऐसी शिक्षा देना जिस-से वे परावलम्बी न बनकर प्रायः स्वावलम्बी बनें और देश, धर्म तथा समाजके लिये उपयोगी सिद्ध हों।

(७) कुटुम्बभरमें एकता, सत्यता, समुदारता दयालुता, गुण-ग्राह-कता, आत्म-निर्भरता और सहनशीलता आदि गुणोंका प्रचार करना। साथ ही, ईर्षा, द्वेष और अदेखसका-भाव आदि अवगुणोको हटाना।

(८) रूढ़ियोंका दास न बनकर कुरीतियोको दूर करना और जो कुछ युक्ति तथा प्रमाणसे समुचित और हितरूप जँचे उसीके अनु-सार चलना।

(९) धर्मप्रचार और समाजके उत्थानकी बराबर चिन्ता रखना और धार्मिक कार्योंमें सदैव योग तथा सहायता देते रहना।

(१०) मितव्ययी (किफायती) बनना, परन्तु कृपण नहीं होना। साथ ही, पूज्यकी पूजाका कभी व्यतिक्रम न करते हुए, बराबर अतिथि-सत्कारमें उद्यमी रहना और उसे यथाशक्ति करना।

प्रत्येक स्त्री-पुरुषको इन दस बातोंको अपना 'कर्त्तव्य-कर्म' बना, लेना चाहिए, अपने समस्त आचार-व्यवहारका 'सूत्र'समझना चाहिये और विवाहके गठजोड़के समय इनकी भी 'गाँठ' बाँध लेनी चाहिए।

अन्तरङ्ग-दृष्टिसे विचार

यह तो हुआ बाह्य जगतकी दृष्टिसे विचार। अब अन्तरङ्ग जगत पर दृष्टि डालिये। अन्तरङ्ग जगत पर दृष्टि डालनेसे मालूम होता है कि, यह जीवात्मा अनादिकालसे मिथ्यात्व, राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान-मद, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा, अज्ञान अदर्शन, अन्तराय और वेदनीय आदि सैकडों और हजारों कर्मशत्रुओसे घिरा हुआ है,जिन सबने इसे बंधनमे डालकर पराधीन बना रक्खा है और इसकी अनन्त शक्तियोका घात कर रक्खा है। इसीलिए यह आत्मा अपने स्वभावसे च्युत होकर विभाव-परिणतिरूप परिणाम रहा है और अनेक योनियोमे परिभ्रमण करता हुआ नाना प्रकारके दुःख और कष्टोको भोग रहा है। इसका मुख्य और प्रधान उद्देश्य है 'बन्धनसे छूटकर स्वाधीनता प्राप्त करना'।

परन्तु बन्धनसे छूटना आसान काम नही है। एक राष्ट्र जब दूसरे राष्ट्रकी परतंत्रतासे अलग होना चाहता है—स्वाधीन बननेकी इच्छा रखता है—तब उसे रातदिन इसविषयमें प्रयत्नशील रहनेकी जरूरत होती है, बड़े बड़े उपायोकी योजना करनी पड़ती है, घोर संकट सहन करने होते है, बन्धनोमे पड़ना होता है, हानियाँ उठानी

पड़ती हैं, अपने स्वार्थकी बलि देनी होती है और बहुतसे ऐसे काम भी करने पड़ते है जिनका करना उसे इष्ट नहीं होता और न वे उसके उद्देश्य ही होते है; परन्तु बिना उनके किये उसे अपने उद्देश्योंमें सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, और इसलिये वह उन्हें लाचारीकी दृष्टिसे करता है। साथ ही, वह अपने लक्ष्यसे कभी भ्रष्ट नहीं होता और न दूसरे राष्ट्रकी मोह-मायामें फँसता है। तब कही वह वर्षोके बाद परतन्त्रताकी बेड़ीसे छूटकर स्वतन्त्रताकी शीतलछायामें निवास करता है। इसी तरह पर उस आत्माको भी, जो कर्मके बन्धनसे छूटना चाहता है, अपनी उद्देश्य-सिद्धिके लिये बड़े बड़े प्रयोग करने होते हैं और नाना प्रकारके कष्ट उठाने पड़ते हैं। उसे बन्ध-मुक्त होनेके लिये बन्धनमें भी पड़ना होता है; कर्मसे छूटनेके लिये कर्म भी करना पड़ता है, हानिसे बचनेके लिए हानि भी उठानी पड़ती है, पापसे सुरक्षित रहनेके लिये पाप भी करना होता है और शत्रुओंसे पिंड छुड़ानेके लिये शत्रुओंका आश्रय भी लेना पड़ता है। परन्तु इन सब अवस्थाओमें होकर जाता हुआ मुमुक्षु आत्मा अपने लक्ष्यसे कभी भ्रष्ट नही होता—पुद्गलके अथवा प्रकृतिके मोहजालमें कभी नही फँसता। वह कभी बन्धको मुक्ति, कर्मको कर्माभाव हानिको लाभ, पापको धर्म और शत्रुको मित्र स्वीकार नहीं करता। और न कभी इन बन्धादिक अवस्थाओंको इष्ट समझता हुआ उनमें तल्लीन ही होता है। बल्कि उसका प्रेम इन सब अवस्थाओंसे सिर्फ 'कार्यार्थी' होता है। कार्यार्थीका प्रेम कार्यकी हदतक रहता है। कार्यकी समाप्तिपर उसकी भी समाप्ति हो जाती है। इसलिए वह अपने किसी इष्ट प्रयोजनकी साधनाके निमित्त लाचारीसे इन बन्धादिक अवस्थाओसे क्षणिक प्रेम रखता हुआ भी बराबर निर्बन्ध, निष्कर्म, निर्हानि, निष्पाप और निःशत्रु होनेकी चेष्टा करता रहता है। इस विषयमें उसका यह सिद्धान्त होता है :—

उपकाराद्गृहीतेन शत्रुणा शत्रुमुद्धरेत्।

पादलग्नं करस्थेन कंटकेनेव कंटकम् ॥

अर्थात्—हाथमें काँटा लेकर जिस प्रकार पैरका काँटा निकाला जाता है, उसी प्रकार उपकार तथा प्रेमादिकसे एक शत्रुको अपना बनाकर उसके द्वारा दूसरे शत्रुको निर्मूल करना चाहिए। अभिप्राय यह कि, पैरमें लगे हुए काँटेको निकालनेके लिए पैरमें दूसरा काँटा चुभानेकी जरूरत होती है और उस दूसरे काँटेको आदरके साथ हाथमें ग्रहण करते है। परन्तु वह दूसरा काँटा वास्तवमें इष्ट नही होता—कालान्तरमें वह भी पैरमें चुभ सकता है—और न उसका चुभाना ही इष्ट होता है—क्योंकि उससे भी तकलीफ जरूर होती है; फिर भी उस अधिक पीड़ा पहुँचानेवाले पैरके काँटेको निकालनेके लिए यह सब कुछ किया जाता है। और कार्य हो चुकने पर वह दूसरा काँटा भी हाथसे डाल दिया जाता है। इसी सिद्धान्त पर मुमुक्षु आत्माको बराबर चलना होता है। उसका जानबूझकर किसी बधन में पड़ना, कोई पापका काम करना और किसी शत्रुकी शरणमें जाना दूसरे अधिक कठोर बन्धनसे बचने, घोर पापसे सुरक्षित रहने और प्रबल शत्रुओंसे पिंड छुड़ानेके अभिप्रायसे ही होता है। यद्यपि उसे सम्पूर्ण कर्मशत्रुओंका विजय करना इष्ट होता हैं; परन्तु साथ ही वह अपनी शक्तिको भी देखता है और इस बातको समझता है कि यदि समस्त शत्रुओको एकदम चैलेज दे दिया जाय—सबका एक साथ विरोध करके उन्हें युद्धके लिए ललकारा जाय—तो उसे कदापि सफलता प्राप्त नही हो सकती। इसलिए वह बराबर अपनी शक्तिको बढ़ानेका उद्योग करता रहता है। जब तक उसका बल नही बढ़ता तब तक वह अपनी तरफसे आक्रमण नही करता, केवल शत्रुओंके आक्रमणकी रोक करता है, कभी कभी उसे टेम्परेरी (अल्पकालिक) संधियाँ भी करनी पड़ती हैं। और जब जिस विषयमें उसका बल बढ जाता है तब उसी विषयके शत्रुसे लड़नेके लिए तैयार हो जाता है और उसे नियमसे परास्त कर देता है। इस

तरह वह सम्पूर्ण कर्मोंके बन्धनसे छूटकर मुक्त हो जाता है।

गृहस्थाश्रम भी कर्मबन्धनसे छूटनेके प्रयोगोंमेंसे एक प्रयोग है और स्त्री पुरुष दोनों मुमुक्षु है—कर्मबन्धनसे छूटनेके इच्छुक है—इसलिए उन्हें भी अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर गृहस्थाश्रमकी बन्धादिक अवस्थाओंको अपना स्वरूप न समझ लेना चाहिए, उन्हें सर्वथा इष्ट मानकर उनमें लवलीन न हो जाना चाहिए। बन्धको मुक्ति, कर्मको कर्माभाव, हानिको लाभ, पापको धर्म और शत्रुको मित्र न मान लेना चाहिए। ऐसा मान लेनेसे फिर कर्मका बन्धन न छूट सकेगा। अन्तरग दृष्टिसे उनका भी प्रेम इन सब अवस्थाओंसे 'कार्यार्थी' होना चाहिए और उन्हें बराबर निर्बन्ध, निष्कर्म, निर्हानि, निष्कषाय और नि शत्रु होनेकी चेष्टा करते रहना चाहिए। साथ ही, उनका भी वही कंटकोन्मूलन-सिद्धान्त होना चाहिए और उन्हें बड़ी सावधानीके साथ उस पर चलना चाहिए। उनका जानबूझकर गृहस्थीके बन्धनोमें पड़ना, आरभादिक पापोमें फँसना और कामादिक शत्रुओंका शरण लेना नरक-निगोद-तिर्यंचादिकके कठोर बंधनोसे बचने, संकल्प तथा अशुभ रागादि-जनित घोर पापोसे सुरक्षित रहने और अज्ञान-मिथ्यात्वादि प्रबल शत्रुओसे पिंड छुड़ानेके अभिप्रायसे ही होना चाहिए। उन्हें अपने पूर्ण ब्रह्मचर्यादि धर्मो पर लक्ष्य रखते हुए समस्त कर्म शत्रुओंको जीतनेका उद्देश्य रखना चाहिए और उसके लिए बराबर अपना आत्म-बल बढ़ाते रहना चाहिए। आत्माका बल शुभकर्मोसे बढता है, और अशुभकर्मोसे घटता है। इसलिए गृहस्थाश्रममें उन्हें अशुभकर्मोका त्याग करके बराबर शुभकर्मोका अनुष्ठान करते रहना चाहिए। गृहस्थाश्रममें गृहस्थधर्म-द्वारा आत्माका बल बहुत कुछ बढ़ाया जा सकता है। इसीलिए महर्षियोंने इस गृहस्थाश्रमकी सृष्टि की है। शुभकर्मोंके द्वारा आत्म-बल बढ जाने पर गृहस्थोंको, प्रेमपूर्वक ग्रहण किये हुए हाथके कांटेके समान, गृहस्थाश्रमका भी त्याग कर देना चाहिए और

फिर उन्हें 'वानप्रस्थ' या 'संन्यस्त' (मुनि) आश्रम धारण करना चाहिए, और इस प्रकार कर्मोंका बल घटाते हुए अन्तके आश्रम द्वारा उन्हें सर्वथा निर्मूल करके बन्धनसे छूट जाना चाहिए। यही मुक्तिकी सुसरला युक्ति है। और इसके उपर्युक्त दिग्दर्शनसे पाठक स्वयं समझ सकते है कि गृहस्थाश्रम अथवा गृहस्थधर्मका यह प्रणयन कितना अधिक युक्ति और चतुराईको लिये हुए है[1]। और उस पर पूरा पूरा अमल होनेसे मुक्ति कितनी सन्निकट हो जाती है।

परन्तु इन समस्त आश्रमोंके धर्मका पूरी तौरसे पालन तब ही हो सकता है जब 'समाजका संगठन अच्छा हो'। बिना समाज-संगठनके कोई भी काम यथेष्ट रीतिसे नही हो सकता। बाह्यसाधन न होनेसे सब विचार हृदयके हृदयमे ही विलीन हो जाते है, बन्ध-मोक्षकी सारी कथनी ग्रन्थोंमें ही रक्खी रह जाती है और अमली सूरत कुछ भी बन नही पड़ती। जैनियोंका सामाजिक सगठन बिगड़ जानेसे ही अफसोस! आज वस्तुतः मुनिधर्म उठ गया!! और इसीसे जैनियोकी प्रगति रुक गई। मुनियोंका धर्म प्राय. 'गृहस्थोंके आश्रय होता है। इसीलिए श्रीपद्मनन्दी आदि आचार्योंने "गृहस्था धर्महे-

---

१ विवाह-पद्धतिमे भी, भगवान् 'वृषभ' देवका स्तवन करते हुए, यह बतलाया गया है कि 'उन्होने युगकी आदिमे कल्याणकारी गृहस्थधर्मको प्रवर्तित करके उसके द्वारा युक्तिके साथ निर्वाण-मार्गको प्रवर्तित किया था'। यथा :—

प्रावर्तयज्जन-हितं खलु कर्मभूमौ षट्कर्मणा गृहिवृषं परिवर्त्य युक्त्या।
निर्वाण-मार्गमनवद्यमज.स्वयम्भू श्रीनाभिसूनुजिनपो जयतात्स पूज्य.॥

जो लोग विवाहको सर्वथा संसारका कारण मानकर निवृत्तिप्रधान धर्मोंके साथ उसको असम्बद्ध समझते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है। उन्होने विवाहके वास्तविक उद्देश्यको नही समझा और न धर्मका रहस्य ही मालूम किया है।

तव:" "श्रावका मूलकारणम्" इत्यादि वाक्योंके द्वारा गृहस्थोंको 'धर्मका हेतु' और 'मुनिधर्मका मूल कारण' बतलाया है[1]। परन्तु गृहस्थाश्रमकी व्यवस्था ठीक न होनेसे—समाजके अव्यवस्थित और निर्बल होनेसे—यह सब कुछ भी नहीं हो सकता। इसलिए अन्तरंग और बहिरंग दोनो दृष्टियोंसे समाज-संगठनकी बहुत बड़ी जरूरत है। इसी खास उद्देश्यको लेकर विवाह होना चाहिए और उसको पूरा करनेके लिये प्रत्येक स्त्री-पुरुषको उन दस कर्त्तव्योंका पूरी तौर-से पालन करना चाहिये जो कुटुम्बोंको सुव्यवस्थित बनानेके लिए बतलाये गये है और जिन पर समाजका सगठन अवलम्बित है। धर्मशास्त्रोंकीदृष्टिसे विवाहके ये ही सब उद्देश्य हैं। अन्य सब छोटी-मोटी बातें इन्हीमें समाजाती है[2]।

उद्देश्यसिद्धिके लिये ज़रूरत

विवाहके इन सब उद्देश्योंको पूरा करने अथवा सिद्ध करनेके

---

१ 'मनु' आदिने भी गृहस्थाश्रमको प्रधानता दी है और लिखा है कि 'शेष तीनो आश्रमोका उसीके द्वारा भरण-पोषण होता हैं और वें उसके आश्रित है'। यथा:—

सर्वेषामपि चैतेषां वेद-स्मृति-विधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्विभर्ति हि ॥
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ —मनुस्मृतिः

२ श्रीसोमदेवसूरिने, नीतिवाक्यामृतके निम्न वाक्यमे, दारकर्म (विवाह) के जो पाँच फल बतलाये है उनमेसे कोई भी फल ऐसा नही है जो इन उद्देश्योसे भिन्न हो अथवा इनके द्वारा साध्य न हो:—

धर्मसंततिरनुपहतारतिर्गृहवार्तानुविहितत्वमाभि-
जात्याचारविशुद्धिर्देव-द्विजाऽतिथि-बान्धव-सत्कारा-
नवद्यत्वं दारकर्मणः फलम्।

लिये और गृहस्थाश्रमका भार समुचित-रीतिसे उठानेके लिये इस बातकी बहुत बड़ी जरूरत है कि 'स्त्री और पुरुष दोनों योग्य हो, समर्थ हों, युवावस्थाको प्राप्त हों और विवाहके उद्देश्योको भले प्रकार समझते हों। बाल्यावस्थासे ही उनके शरीरका संगठन अच्छी रीतिसे हुआ हो, वे खोटे संस्कारोंसे दूर रक्खे गये हों और उनकी शिक्षा-दीक्षाका योग्य प्रबन्ध किया गया हो। साथ ही, विवाह-सस्कार होने तक उन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य-का पालन किया हो और लौकिक तथा पारमार्थिक ग्रन्थोंका अध्ययन करके उनमे दक्षता प्राप्त की हो—अच्छी लियाकत हासिल की हो।' बिना इन सब बातोंकी पूर्ति हुए विवाहके उद्देश्योंका पूरे तौरसे पालन नही हो सकता, न गृहस्थाश्रम-का भार समुचित-रीतिसे उठाया जा सकता है और न वह गृहस्था-श्रम सुखाश्रम ही बन सकता है[1]। इसीलिए गृहस्थाश्रमसे पहले आचार्योंने एक दूसरे आश्रमका विधान किया है, जिसका नाम है 'ब्रह्मचारी आश्रम'—अर्थात्, ब्रह्मचारी रहकर विद्याभ्यास करते हुए शारीरिक और मानसिक शक्तियोंको केन्द्रित करना। इस आश्रम

---

१ मुनि रत्नचदजीने भी 'कर्त्तव्य-कौमुदी' मे लिखा है :—

यावन्नार्जयते धनं सुविपुलं दारादिरक्षाकरं
यावन्नैव समाप्यते दृढतरा विद्या कला वाऽश्रिता।
यावन्नो वपुषो धियश्च रचना प्राप्नोति दार्ढ्यं परं
तावन्नो सुखदं वदन्ति विबुधा ग्राह्यं गृहस्थाश्रमं॥

अर्थात्-जब तक इतना प्रचुर धन पैदा न करलिया जाय अथवा पासमे न हो जिससे अपनी तथा स्त्री-पुत्रादिककी यथेष्ट रक्षा होसके—घरका खर्च चल सके, जब तक विद्या और कलाका अभ्यास अच्छी तरहसे पूरा न हो जाय और शरीरके अगोकी रचना तथा बुद्धिका विकास अच्छी तरहसे होकर उनमे पूर्ण दृढता न आ जाय तब तक गृहस्थाश्रम-का ग्रहण करना सुखदायी नही हो सकता, ऐसा बुद्धिमानोका मत है।

का खास उद्देश्य इन्ही सब बातोंकी पूर्ति करना है जो विवाहके उद्देश्योंकी पूर्ति तथा गृहस्थाश्रमके पालनके लिये जरूरी है। भगवज्जिनसेनाचार्यने, आदिपुराणमें, इन सब आश्रमोंका क्रम इस प्रकारसे वर्णन किया है—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः ॥३९-१५२॥

अर्थात्—ब्रह्मचारी, गृहस्थ वानप्रस्थ, और भिक्षुक ये जैनियों[1] के चार आश्रम उत्तरोत्तर शुद्धिको लिये हुए है।

इससे प्रकट है कि सब आश्रमोसे पहला आश्रम 'ब्रह्मचारी आश्रम' रक्खा गया है। यह आश्रम, वास्तवमें, सब आश्रमोंकी नीव जमानेवाला है। जब तक इस आश्रमके द्वारा एक खास अवस्था तक पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए किसी योग्य गुरुके पास विद्याभ्यास नही किया जाता है, तब तक किसी भी आश्रमका ठीक तौरसे पालन नहीं हो सकता। इसके बिना वे सब आश्रम बिना नीवके मकानके समान अस्थिर और हानि पहुँचानेवाले होते हैं। इसलिये सबसे पहले बालक बालिकाओंको एक योग्य अवस्था तक पूर्ण ब्रह्मचर्यके साथ रखकर उनकी शिक्षा और शरीरसंगठनका पूरा प्रबन्ध करना चाहिए, और इसके बाद कही उनके विवाहका नाम लिया जाना चाहिए। यही माता-पिताका मुख्य कर्त्तव्य है।

वह 'योग्य अवस्था' बालकोंके लिये २० वर्ष और बालिकाओंके लिये १६ वर्षसे कम न होनी चाहिए। इससे पहले न वीर्य ही परिपक्व होता है और न विद्याभ्यास ही यथेष्ट बन पाता है। सारा ढाँचा कच्चा ही रह जाता है, जिससे आगे गृहस्थाश्रम-धर्म तथा समाज-

---

१ हिन्दुओके यहाँ भी ये ही चार आश्रम इसी क्रमसे माने गये है:—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ —मनुस्मृतिः

संगठनको बहुत बड़ी हानि पहुँचती है और स्त्री-पुरुषोंका जीवन भी नीरस तथा दु.खमय बन जाता है। शरीर-शास्त्रके वेत्ता आचार्य वाग्भट्ट लिखते है कि, 'पुरुषकी अवस्था पूरे २० वर्षकी और स्त्रीकी अवस्था पूरे १६ वर्षकी हो जाने पर गर्भाशय-मार्ग, रक्त, शुक्र (वीर्य), शरीरस्थ-वायु और हृदय शुद्ध हो जाते है—अपना कार्य यथेष्ट रीतिसे करने लगते है—उस समय परस्पर जो मैथुन किया जाता है उससे वलवान् सन्तान उत्पन्न होती है; और इससे कम अवस्थाओमें जो मैथुन किया जाता है उससे रोगी, अल्पायु या दीन-दु.खित और भाग्यहीन सन्तान पैदा होती है अथवा गर्भ ही नही रहता। यथा.—

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संगता।
शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ॥
वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाऽब्दयोः पुनः।
रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥

इससे साफ जाहिर है कि 'पुरुषका २० वर्षसे और स्त्रीका १६ वर्षसे कम उम्रमें विवाह न होना चाहिए', ऐसा कम उम्रका विवाह वहुत ही हानिकारक होता है और समाजके संगठनको बिगाड़ता है। छोटी उम्रमें विवाह करके बादको जो 'गौना' या 'द्विरागमन' की प्रथा है वह बिल्कुल विवाहके उद्देश्यको घात करनेवाली प्रथा है। सोते हुए सिहको जगाकर उसे थपकी देनेके समान है। किसी भी माननीय प्राचीन जैनशास्त्रमें उसका उल्लेख या विधान नही है। उसके द्वारा व्यर्थ ही दो व्यक्तियोका जीवन खतरेमें (जोखममें) डाला जाता है। इसलिए बुद्धिमानोके द्वारा यह प्रथा कदापि आदरणीय नही हो सकती।

उपसंहार

जो लोग विवाहके इन सब उद्देश्योंको न समझकर, शरीरशास्त्रके वचनोंको न मानकर अपने वच्चोंका विवाह छोटी उम्रमे

करते है वे सिर्फ़ अपने बच्चोंका ही बुरा नही करते—उन्हीके जीवनको नहीं बिगाडते—; बल्कि समाजभरका अनिष्ट करते है, जगतमें अनेक आपत्तियोंको जन्म देते है, और इसलिये उन्हें 'जगतका शान्तिभंग-कर्ता' समझना चाहिए। और इसीलिये सच्चे माता पिताओंका यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे अपनी संतानके विवाहका नाम उस वक्त लेवे जबकि उसमें विवाहकी संपूर्ण योग्यताएँ आजायँ, जिससे वह विवाहके उद्देश्योंको पूरा करती हुई अपने जीवनको सरस और आनदमय बना सके। इससे पहले उन्हें बराबर उसकी योग्यताओंको पूरा करनेकी—उसकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियोको बढ़ानेकी—पूरी चेष्टा करते रहना चाहिए। साथ ही, यह भी समझ लेना चाहिए कि विवाह-जैसे महत्वके कार्यको एक 'खेल' या 'तमाशा' बनाना किसी प्रकार भी उचित नही है।

जो लोग विवाहकी संपूर्ण योग्यताओंको प्राप्त किये बिना ही विवाहित हो चुके है उनका, अपने लिये, इस समय यही ख़ास कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे प्रस्तुत 'विवाह-समुद्देश्य'को अच्छी तरहसे अध्ययन और मनन करके अपनी प्रवृत्तियोंको जहाँ तक बने, बिल्कुल इसके अनुकूल बना लेवें, अपना लक्ष्य ऊँचा रक्खें और उन दश कर्त्तव्योका यथाशक्ति जरूर पालन करते रहें—उसमे कोई बात उठा न रक्खे—जो कुटुम्बोंको सुव्यवस्थित और बलाढ्य बनानेके लिये बतलाये गये है।

समाजके शुभ-चिन्तकोंको चाहिये, कि वे प्रत्येक गृहस्थी और गृहस्थाश्रममें प्रवेशके इच्छुक व्यक्तियो—उसके उम्मीदवारो—तक इस विवाह-समुद्देश्यको पहुँचाएँ शिक्षा-संस्थाओमें भरती कराएँ और समाजकी प्रवृत्तिको इसके अनुकूल बनानेका जी-जानसे यत्न करे। इसीमें समाजका हित संनिहित है और इसी हितको लक्ष्यमें लेकर यह निबन्ध लिखा गया है।

११

नौकरोंसे पूजन कराना

जैनियोमें दिन पर दिन यह बात बढती जाती है कि मदिरोमें पूजाके लिए नौकर रक्खे जाते हैं—श्वेताबर मंदिरोमें तो आमतौर पर अजैन ब्राह्मण इस कामके लिए नियुक्त किये जाते है और उन्ही-से जिनेन्द्र भगवान्‌का पूजन कराया जाता है। पुजारियोंके लिए अब समाचारपत्रोमें खुले नोटिस भी आने लगे है। समझमें नही आता कि जो लोग मदिर बनवाने, प्रतिष्ठा कराने, रथयात्रा निकालने और मदिरोमें अनेक प्रकारकी सजावट आदिके सामान इकट्ठा करने में हजारों और लाखों रुपये खर्च करते है वे फिर इतने भक्तिशून्य और अनुरागरहित क्यों हो जाते हैं, जो अपने पूज्यकी उपासना अर्थात् अपने करनेका काम नौकरोसे कराते है ? क्या उनमे वस्तुतः अपने पूज्यके प्रति भक्तिका भाव ही नही होता और वे जो कुछ करते है वह सब लोकदिखावा, नुमायश, रूढिपालन और बाहरी वाहवाही लूटने तथा यशप्राप्तिके लिए ही होता है। कुछ भी हो, सच्चे जैनियोके लिए यह एक बड़े ही कलंक और लज्जाकी बात है ! लोकमें अपने अतिथियो तथा इष्टजनोकी सेवाके लिए नौकर जरूर नियुक्त किये जाते है, जिसका अभिप्राय और उद्देश्य होता है—अतिथियों तथा इष्टजनोको आराम और सुख पहुँचाना, उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना और उन्हें अप्रसन्नचित्त न होने देना।

परन्तु यहाँ मामला इससे बिल्कुल ही विलक्षण है । जिनेन्द्रदेवकी पूजासे जिनेद्र भगवान्‌को कुछ सुख या आराम पहुँचाना अभीष्ट नही होता--वे स्वतः अनंतसुखस्वरूप है- और न इससे भगवानकी प्रसन्नता या अप्रसन्नताका ही कोई सम्बन्ध है । क्योंकि जिनेंद्रदेव पूर्ण वीतरागी हैं—उनके आत्मामें राग या द्वेषका अंश भी विद्यमान नही है—वे किसीकी स्तुति, पूजा तथा भक्तिसे प्रसन्न नही होते और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कटुशब्दो पर अप्रसन्नता लाते हैं। उन्हे किसीकी पूजाकी जरूरत नही और न निन्दासे कोई प्रयोजन है । जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रगट है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताऽञ्जनैभ्यः ॥

——बृहत्स्वयभूस्तोत्र

ऐसी हालतमें कोई वजह मालूम नही होती कि जब हमारा स्वयं पूजन करनेके लिए उत्साह नही होता तब वह पूजन क्यो किरायेके आदमियों-द्वारा संपादन कराया जाता है। क्या इस विषय-में हमारे ऊपर किसीका दबाव और जब्र है ? अथवा हमें किसीके कुपित हो जानेकी कोई आशंका है ? यदि ऐसा कुछ भी नहीं है तो फिर यह व्यर्थका स्वांग क्यों रचा जाता है ? और यदि सचमुच ही पूजन न होनेसे जैनियोंको परमात्माके कुपित हो जानेका कोई भय लगा हुआ है और इसलिए जिस तिस प्रकारके पूजन-द्वारा खुशामद करके हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयोंकी तरह परमात्माको राजी और प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते है तो समझना चाहिए कि वे वास्तवमें जैनी नही है, जैनियोके वेषमें हिन्दू, मुसलमान या ईसाई हैं। उन्होंने परमात्माके स्वरूपको नही समझा और न वास्तवमें जैनधर्मके सिद्धातोंको ही पहचाना है । ऐसे लोगोंको पिछले निवन्ध 'जिनपूजाधिकारमीमांसा' में 'पूजनसिद्धान्त' को पढ़ना और उसे अच्छी तरहसे समझना चाहिए । इसके सिवाय, यदि इस प्रकारके

(किरायेके) आदमियों-द्वारा पूजनकी गरज पुण्य-संपादन करना कही जाय तो वह भी निरी भूल है और उससे भी जैनधर्मके सिद्धान्तोकी अनभिज्ञता पाई जाती है। जैन सिद्धान्तोकी दृष्टिसे प्रत्येक प्राणी अपने शुभाऽशुभ भावोके अनुसार पुण्य और पापका संचय करता है। ऐसा अधेर नही है कि शुभ भाव तो कोई करे और उसके फलस्वरूप पुण्यका सम्बन्ध किसी दूसरे ही व्यक्तिके साथ हो जाय। पूजनमे परमात्माके पुण्य-गुणोके स्मरणसे आत्मामे जो पवित्रता आती और पापोसे जो कुछ रक्षा होती है उसका लाभ उसी मनुष्यको हो सकता है जो पूजन-द्वारा परमात्माके पुण्य-गुणोंका स्मरण करता है। इसी बातको स्वामी समतभद्रने अपने उपर्युक्त पद्यके उत्तरार्धमें भले प्रकारसे सूचित किया है। इससे स्पष्ट है कि सेवक-द्वारा किये हुए पूजनका फल कभी उसके स्वामीको प्राप्त नही हो सकता; क्योकि वह उस पूजनमे परमात्माके पुण्यगुणोका स्मरणकर्त्ता नही है। ऐसी हालतमे नौकरोसे पूजन कराना बिलकुल व्यर्थ है और वह अपने पूज्यके प्रति एक प्रकारसे अनादरका भाव भी प्रगट करता है। तब क्या होना चाहिए ? जैनियोको स्वय पूजन करना और पूजनके स्वरूपको समझना चाहिए। अपने पूज्यके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्त्तनेका नाम पूजन है। उसके लिए अधिक आडम्बरकी जरूरत नही है। वह पूज्यके गुणोमे अनुरागपूर्वक बहुत सीधा सादा और प्राकृतिक होना चाहिए। पूजनमें जितना ही अधिक बनावट, दिखावट और आडम्बरसे काम लिया जायगा उतना ही अधिक वह पूजनके सिद्धान्तसे गिर जायगा। जबसे जैनियोमें बहुआडम्बरयुक्त पूजन प्रचलित हुआ है तभीसे उन्हे पूजा के लिये नौकर रखनेकी जरूरत पड़ी है। अन्यथा जिनेन्द्र भगवानकी सच्ची और प्राकृतिक पूजाके लिए किरायेके आदमियोकी कुछ भी जरूरत नही है। जैनियोके प्राचीन साहित्यकी जहाँतक खोज की जाती है, उससे भी यही मालूम होता है, कि पुराने जमानेमे जैनियोमे वर्तमान-जैसा बहुआड-

म्बरयुक्त पूजन प्रचलित नही था। उस समय अर्हंतभक्ति, सिद्धभक्ति, आचार्यभक्ति और प्रवचनभक्ति आदि अनेक प्रकारकी भक्तियों-द्वारा, जिनके संस्कृत और प्राकृतके कुछ प्राचीन पाठ अब भी पाये जाते हैं, पूज्यकी पूजा और उपासना की जाती थी। श्रावक लोग मंदिरोमे जाकर प्रायः जिनेन्द्रप्रतिमाके सम्मुख, खड़े होकर अथवा बैठकर, अनेक प्रकारके समझमे आने योग्य स्तोत्र पढ़ते तथा भक्तिपाठोका उच्चारण करते थे और परमात्माके गुणोका स्मरण करते हुए उनमें तल्लीन हो जाते थे। कभी कभी वे ध्यानमुद्रासे बैठकर परमात्माकी मूर्तिको अपने हृदयमन्दिरमें विराजमान करके निःशब्द-रूपसे गुणोका चिन्तवन करते हुए परमात्माकी उपासना किया करते थे। प्रायः यही सब उनका द्रव्य-पूजन था और यही भावपूजन। उस समयके जैनाचार्य वचन और शरीरको अन्य व्यापारोसे हटाकर उन्हें अपने पूज्यके प्रति, स्तुतिपाठ करने और अजुलि जोड़ने आदि रूपसे, एकाग्र करनेको 'द्रव्यपूजा' और उसी प्रकारसे मनके एकाग्र करनेको 'भावपूजा' मानते थे, जैसा कि श्रीअमितगति आचार्यके निम्नलिखित वाक्यसे प्रगट है :—

> वचोविग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
> तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः॥ १२-१२॥
>
> —उपासकाचार

जबसे हिन्दुओंके प्राबल्यद्वारा जैनियों पर हिन्दूधर्मका प्रभाव पड़ा है और उन्होने हिन्दुओंकी देखादेखी उनकी बहुतसी ऐसी बातोंको अपनेमें स्थान दिया है, जिनका जैनसिद्धान्तोसे प्रायः कुछ भी सम्बन्ध नही है, तभीसे जैनसमाजमें बहुआडम्बरयुक्त पूजनका प्रवेश प्रारम्भ हुआ है और उसने बढते बढ़ते वर्तमानका रूप धारण किया है, जिसमें बिना पुजारियोंके नौकर रखखे नही बीतती। आजकल इस पूजनमें मुक्तिको प्राप्त हुए जिनेन्द्र भगवानका आवाहन और विसर्जन भी किया जाता है। उन्हें कुछ मंत्र पढकर बुलाया, बिठलाया,

ठहराया और फिर नैवेद्यादिक अर्पण करनेके बाद रुखसत किया जाता है—कहा जाता है कि महाराज! अब आप अपने स्थान पर तशरीफ ले जाइए और हमारा अपराध क्षमा कीजिए, क्योंकि हम लोग ठीक तौरसे आवाहन, पूजन और विसर्जन करना नही जानते। ज़रा सोचनेकी बात है कि, जैनधर्मसे इन सब क्रियाओंका क्या सम्बन्ध है? जिनसिद्धान्तके अनुसार मुक्त तीर्थंकर अथवा जिनेन्द्र भगवान किसीके बुलानेसे नही आते, न किसीके कहनेसे कही बैठते, ठहरते या नैवेद्यादिक ग्रहण करते हैं, और न किसीके रुखसती (विसर्जनात्मक) शब्द उच्चारण करने पर वापिस ही चले जाते है। ऐसी हालतमें जैन-धर्मसे इन आवाहन और विसर्जनसम्बन्धी क्रियाओंका कोई मेल नही है। वास्तवमें ये सब क्रियाये हिन्दूधर्मकी क्रियाये हैं। हिन्दुओंके यहाँ वेदोतकमें देवताओका आवाहन और विसर्जन पाया जाता है। वे लोग ऐसा मानते है कि देवता लोग बुलानेसे आते, बैठते, ठहरते और अपना यज्ञभाग ग्रहण करके, रुखसत करने पर, वापिस चले जाते है। इससे हिन्दुओके यहाँ आवाहन और विसर्जनका यह सब कथन ठीक बन जाता है। परन्तु जैनियोंकी ऐसी मान्यता नही है। इसी-लिए जैनधर्मसे इनका मेल नही मिलता और ये सब क्रियाये बिल्कुल बेजोड मालूम होती है, इसी प्रकारकी, पूजन सम्बधमे और भी बहुतसी क्रियाये है जो हिन्दुओंसे उधार लेकर रक्खी गई अथवा उनके सं-स्कारोसे सस्कारित होकर पीछेसे बना ली गई हैं और जिन सबका जैनसिद्धान्तोंसे प्रायः कुछ भी मेल नहीं है। यहाँ इस छोटेसे लेख मे उन सव पर विचार नही किया जा सकता और न इस समय उनके विचारका अवसर ही प्राप्त है। अवसर मिलने पर उन पर फिर कभी प्रकाश डाला जायगा। परन्तु इतना जरूर कहना होगा कि वर्तमान-का पूजन इन्ही सब क्रियाओके कारण बिल्कुल अप्राकृतिक तथा आडम्बरयुक्त बन गया है और उससे जैनियोकी आत्मीय प्रगति, एक प्रकारसे, रुक गई है। यदि सचमुच ही हमारे जैनी भाई अपने परमा-

त्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना चाहते है तो उन्हें सब आड-म्बरोंको छोड़कर पूजनकी अपनी वही पुरानी, प्राकृतिक और सीधी-सादी पद्धति जारी करनी चाहिए; जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। ऐसा करनेपर पुजारियोंको नौकर रखनेकी भी फिर कुछ जरूरत नही रहेगी और आत्मोन्नति-सम्बन्धी वह सब लाभ अपनेको प्राप्त होने लगेगा, जिसको लक्ष्य करके ही मूर्तिपूजाका विधान किया गया है और जिसका परिचय पाठकोको, 'जिनपूजाधिकारमीमांसा'के 'पूजन-सिद्धान्त' प्रकरणको पढ़नेसे भले प्रकार मिल सकता है। विपरीत इसके यदि जैनी लोग अपनी वर्तमान पूजनपद्धतिको न बदलनेके कारण नौकरोसे पूजन कराना जारी रक्खेगे तो इसमें संदेह नही कि वह समय भी शीघ्र निकट आ जायगा जब उन्हे दर्शन, सामायिक, स्वाध्याय, तप, जप, शील, संयम, व्रत, नियम और उपवासादिक सभी धार्मिक कामोंके लिये नौकर रखने या उन्हें सर्वथा छोड़ देनेकी जरूरत पड़ने लगेगी। और तब उनका धर्मसे बिल्कुल ही पतन हो जायगा। इसलिए जैनियोंको शीघ्र ही सावधान होकर अपनी वर्त्त-मान पूजनपद्धतिमें आवश्यक सुधार करके उसे सिद्धान्तसम्मत बना लेना चाहिए। और नौकरोके-द्वारा पूजनकी प्रथाको एकदम उठा देना चाहिए। आशा है कि, समाजके नेता और विद्वान् लोग इस विषय-की ओर खास तौरसे ध्यान देगे।

१२

चारुदत्त सेठ का शिक्षाप्रद उदाहरण

हरिवंशपुराणादि जैनकथा-ग्रन्थोमें चारुदत्त सेठकी एक प्रसिद्ध कथा है। यह सेठ जिस वेश्यापर आसक्त होकर वर्षों तक उसके घर पर, विना किसी भोजनपानादि सबधी भेदके, एकत्र रहा था और जिसके कारण वह एक बार अपनी संपूर्ण धन संपत्तिको भी गँवा बैठा था उसका नाम 'वसंतसेना था। इस वेश्याकी माताने, जिससमय धनाभावके कारण चारुदत्त सेठको अपने घरसे निकाल दिया और वह धनोपार्जन के लिये विदेश चला गया उस समय वसंतसेनाने, अपनी माताके वहुत कुछ कहने पर भी, दूसरे किसी धनिक पुरुषसे अपना सबंध जोड़ना उचित नही समझा और तब वह अपनी माताके घरका ही परित्याग कर चारुदत्तके पीछे उसके घर पर चली गई। चारुदत्तके कुटुम्बियोने भी वसंतसेनाको आश्रय देनेमे कोई आनाकानी नही की । वसंतसेनाने उनके समुदार आश्रयमें रहकर एक आर्यिकाके पाससे श्रावकके १२ व्रत ग्रहण किये, जिससे उसकी पूर्व परिणति पलटकर उच्च तथा धार्मिक बन गई; और वह बराबर चारुदत्तकी माता तथा स्त्रीकी सेवा करती हुई निःसंकोच-भावसे उनके घर पर रहने लगी। जब चारुदत्त विपुल धनसम्पत्तिका स्वामी वनकर विदेशसे अपने घर पर वापिस आया और उसे वसंतसेनाके स्वगृह पर रहने आदिका हाल मालूम हुआ तव उसने बड़े हर्षके साथ वसंतसेना को अपनाया अर्थात्, उसे अपनी स्त्री रूपसे स्वीकृत किया। चारुदत्तके इस कृत्यपर-अर्थात्, एक वेश्या जैसी नीच स्त्रीको

खुल्लम खुल्ला घरमें डाल लेनेके अपराध पर उस समयकी जाति बिरादरीने चारुदत्तको जातिसे च्युत अथवा बिरादरीसे खारिज नहीं किया और न दूसरा ही उसके साथ कोई घृणाका व्यवहार किया गया। वह श्रीनेमिनाथ भगवानके चचा वसुदेवजी जैसे प्रतिष्ठित पुरुषोंसे भी प्रशसित और सम्मानित रहा। और उसकी शुद्धता यहाँ तक बनी रही कि वह अन्तको उसके दिगम्बर मुनितक होनेमें भी कुछ बाधक न हो सकी। इस तरह पर एक कुटुम्ब तथा जाति-बिरादरीके सद्व्यवहारके कारण दो व्यसनासक्त व्यक्तियोंको अपने उद्धारका अवसर मिला।

इस पुराने शास्त्रीय उदाहरणसे वे लोग कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जो अपने अनुदार विचारोंके कारण ज़रा जरासी बात पर अपने जाति-भाइयोंको जातिसे च्युत करके–उनके धार्मिक अधिकारोंमें भी हस्तक्षेप करके–उन्हें सन्मार्गसे पीछे हटा रहे है और इस तरह अपनी जातीय तथा संघशक्तिको निर्बल एव नि:सत्व बनाकर अपने ऊपर अनेक प्रकारकी विपत्तियोंको बुलानेके लिये कमर कसे हुए हैं। ऐसे लोगोंको संघशक्तिका रहस्य जानना चाहिए और यह मालूम करना चाहिये कि धार्मिक और लौकिक प्रगति किस प्रकारसे हो सकती है। यदि उस सभयकी जाति-विरादरी उक्त दोनों व्यसनासक्त व्यक्तियोंको अपनेमें आश्रय न देकर उन्हें अपनेसे पृथक् कर देती, घृणाकी दृष्टिसे देखती और इस प्रकार उन्हें सुधरने का कोई अवसर न देती तो अन्तमें उक्त दोनों व्यक्तियोका जो धार्मिक जीवन बना है वह कभी न बन सकता। अत. ऐसे अवसरोपर जाति-बिरादरीके लोगोंको बहुत सोच समझकर, बड़ी दूरदृष्टिताके साथ काम करना चाहिए। यदि वे पतितोंका स्वयं उद्धार नहीं कर सकते तो उन्हें कमसे कम पतितोके उद्धारमें बाधक न बनना चाहिये और न ऐसा अवसर ही देना चाहिये जिससे पतित जन और भी अधिकताके साथ पतित हो जायँ।

१३

वसुदेवका शिक्षाप्रद उदाहरण

श्रीनेमिनाथ तीर्थंकरके चचा और श्रीकृष्ण महाराजके पिता वसुदेवजी जैनसमाजमें एक सुप्रसिद्ध व्यक्ति हो गये हैं। हरिवंश-पुराणादि जैनकथाग्रन्थोमें आपका विस्तारके साथ वर्णन दिया है। यहाँपर मै आपके जीवनकी सिर्फ चार घटनाओंका उल्लेख करता हूँ, एक 'देवकीसे विवाह', दूसरी 'जरा नामकी म्लेच्छ कन्यासे विवाह', तीसरी 'प्रियगुसुन्दरीसे विवाह, और चौथी घटना है 'रोहिणी का स्वयवर'।

देवकीसे विवाह

देवकी राजा उग्रसेनके भाई देवसेन (देवक) की पुत्री, नृप भोज-कवृष्टिकी पौत्री और महाराजा सुवीरकी प्रपौत्री थी। वसुदेव राजा अन्धकवृष्टिके पुत्र और नृप-शूरके पौत्र थे। ये नृप 'शूर' और देवकी-के प्रपितामह 'सुवीर' दोनों सगे भाई थे। दोनोंके पिताका नाम 'नर-पति' और पितामह (बाबा) का नाम 'यदु' था। ऐसा श्रीजिनसेना-चार्यने अपने हरिवंशपुराणमें सूचित किया है और इससे यह प्रगट है कि राजा उग्रसेन, देवसेन और वसुदेवजी तीनो आपसमे चचा-ताऊ-जाद भाई लगते थे और इसलिये देवसेनकी लड़की 'देवकी' रिश्तेमें उग्रसेन तथा वसुदेवकी भतीजी (भ्रातृजा) हुई। इस देवकीसे वसुदेवका

विवाह हुआ, जिससे स्पष्ट है कि इस विवाहमें गोत्र तथा गोत्रकी शाखाओंका टालना तो दूर रहा, एक वंश और एक कुटुम्बका भी कुछ खयाल नहीं रक्खा गया। वसुदेवजीने गोत्रादि-सम्बन्धी इन सब बातोंको कुछ भी महत्व न देकर, बिना किसी संकोचके अपनी भतीजीके साथ विवाह कर लिया और उनका यह विवाह उस समय कुछ भी अनुचित नही समझा गया। इस विवाहसे अनेक सुप्रतिष्ठित और बहुमान्य पुत्ररत्नोंका उद्‌भव हुआ—देवकीने श्रीकृष्णके अतिरिक्त छह तद्‌भवमोक्षगामी पुत्रोंको भी जन्म दिया। यह तो हुई देवकीसे विवाहकी बात, अब जराकी विवाह-वार्ताको लीजिये।

जरासे विवाह

जरा किसी म्लेच्छ राजाकी कन्या थी, जिसने गङ्गा तट पर वसुदेवजीको परिभ्रमण करते हुए देखकर उनके साथ अपनी इस कन्याका पाणिग्रहण कर दिया था। प० दौलतरामजीने, अपने हरिवंशपुराणमें, इस राजाको 'म्लेच्छखण्डका राजा' बतलाया है और पं०गजाधरलालजी उसे 'भीलोंका राजा' सूचित करते है। वह राजा म्लेच्छखण्डका राजा हो या आर्य्यखण्डोद्‌भव म्लेच्छ राजा, और चाहे उसे भीलोंका राजा कहिये, परन्तु इसमें सन्देह नही कि वह आर्य्य तथा उच्चजातिका मनुष्य नही था। और इसलिये उसे अनार्य्य या म्लेच्छ कहना भी अनुचित नही होगा। म्लेच्छोंका आचार आमतौरपर 'हिंसामें रति, मांसभक्षणमें प्रीति और जबरदस्ती दूसरोंकी धन-सम्पत्तिका हरना इत्यादिक' होता है, जैसा कि श्रीजिनसेनाचार्य-प्रणीत आदिपुराणके निम्नलिखित वाक्यसे प्रगट है:—

> म्लेच्छाचारो हि हिंसायां रतिर्मांसाशनेऽपि च।
> बलात्परस्वहरणं निर्द्धूतत्वमिति स्मृतम्॥ ४२-१८४॥

वसुदेवजीने, यह सब कुछ जानते हुए भी, विना किसी झिझक और रुकावटके बड़ी खुशीके साथ इस म्लेच्छ-राजाकी उक्त कन्यासे

विवाह किया और उनका यह विवाह भी उस समय कुछ अनुचित नही समझा गया। बल्कि उस समय और उससे पहले भी इस प्रकार-के विवाहोका आम दस्तूर था। अच्छे अच्छे प्रतिष्ठित, उच्चकुलीन और उत्तमोत्तम पुरुषोंने म्लेच्छराजाओंकी कन्याओंसे विवाह किया, जिनके उदाहरणोसे जैनसाहित्य परिपूर्ण है। अस्तु, इस विवाहसे वसुदेवजीके 'जरतकुमार' नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो बड़ा ही प्रतापी,नीतिवान और प्रजाप्रिय राजा हो गया है और जिसने अन्त-को, राज-पाट छोडकर, जैनमुनिदीक्षा तक धारण की थी। इसी राजाके वंशमें 'जितशत्रु'नामका राजा हुआ,जिससे भगवान महावीर-के पिताकी छोटी बहिन व्याही गई। अब प्रियंगुसुन्दरीके विवाहको लीजिये।

प्रियंगुसुन्दरीसे विवाह

प्रियंगुसुन्दरीके पिताका नाम 'एणीपुत्र'था। यह एणीपुत्र ऋषि-दत्ता नामकी एक अविवाहिता तापसकन्यासे व्यभिचार-द्वारा उत्पन्न हुआ था। प्रसवसमय उक्त ऋषिदत्ताका देहान्त हो गया और वह मरकर देवी हुई, जिसने एणी अर्थात् हरिणीका रूप धारण करके जङ्गलमे अपने इस नवजात शिशुको स्तन्यपानादिसे पाला और पालपोषकर अन्तको शीलायुध राजाके सुपुर्द कर दिया। इस प्रियंगु-सुन्दरीका पिता एणीपुत्र 'व्यभिचारजात' था, जिसको आजकलकी भाषामे 'दस्सा' या 'गाटा' भी कहना चाहिए। वसुदेवजीने विवाहके समय यह सब हाल जानकर भी इस विवाहको किसी प्रकारसे दूषित, अनुचित अथवा अशास्त्र-सम्मत[1] नही समझा और इसलिये उन्होने बड़ी खुशीके साथ प्रियगुसुन्दरीको भी पाणिग्रहण किया।

---

१. शास्त्रोमे तो ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्यके लिये 'शूद्र' तककी कन्यासे विवाह करना भी उचित ठहराया है, यथा:—

यद्यपि ये तीनों विवाह आजकलकी हवाके बहुत कुछ प्रतिकूल पाये जाते है तो भी, उस समय इन विवाहोंको करके वसुदेवजी जरा भी पतित नही हुए।

पतित होना अथवा जातिसे च्युत किया जाना तो दूर रहा, तत्कालीन समाजने उन्हें घृणाकी दृष्टिसे भी नही देखा। इनकी कीर्त्ति और प्रतिष्ठामे इन विवाहोंसे जरा भी बट्टा या कलङ्क नहीं लगा, बल्कि वह उल्टी वृद्धिगत हुई और यहाँ तक बनी रही कि उसके कारण आज तक भी अनेक ऋषि-मुनियो तथा विद्वानोंके द्वारा वसुदेवजीके पुण्य-चरित्रका चित्रण और यशोगान होता रहा। श्रीजिनसेनाचार्य्यने हरिवंशपुराणमें, वसुदेवजीकी कीर्तिका अनेक प्रकारसे कीर्तन कर उन्हें यदुवशमें श्रेष्ठ, उदारचरित्र, शुद्धात्मा, स्वभावसे ही निर्मल-चित्तके धारक, अनन्य साधारण (जो औरोमें न पाया जाय) विवेकसे युक्त और ऐसे महान धर्मज्ञ तथा तत्त्ववेत्ता प्रकट किया है कि जिनके मुनि और श्रावकधर्मसम्बन्धी उपदेशको सुनकर बहुतसे मिथ्यामती तापसियोने भी तत्काल ही अपना वह मिथ्यामत छोड़ दिया था और जैनधर्मका शरण लेकर उसके व्रतोंको ग्रहण किया था। श्रीजिनदास ब्रह्मचारी भी, अपने हरिवंशपुराणमें, वसुदेवजीका ऐसा ही यशोगान करते है और उन्हें 'महामति' आदिक लिखते है। साथ ही, उन्होंने बलभद्रके मुखसे श्रीकृष्णके प्रति जो वाक्य कहलाया है उससे मालूम होता है कि वसुदेवजीका सौभाग्य जगतमे विख्यात था और उनकी सत्कीर्तिका खेचर और भूचर

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वा ता च नैगम.।
वहेत्स्वा ते च राजन्यः स्वा द्विजन्मा क्वचिच्च ताः॥ १६-४७
—आदिपुराणे, जिनसेनः

'आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णकन्याभाजना ब्राह्मण-क्षत्रियविशः।'
—नीतिवाक्यामृते, सोमदेवः

सभी जन गान किया करते थे। वह वाक्य इस प्रकार है —

जगद्विख्यातसौभाग्यो वसुदेवः पिता तव।
गायते यस्य सत्कीर्त्ति खेचरीभूचरीजनैः॥
— १४-१४३

इन दोनो ग्रन्थोके अवतरणोसे ही इस बातका भले प्रकार पता चल जाता है कि वसुदेवजी कितने यशस्वी, विवेकी, प्रखर विद्वान् और धार्मिक पुरुष थे। ऐसी हालतमे उनके ये तीनों विवाह उस समयकी दृष्टिसे जरा भी हीन अथवा जघन्य नही समझे जा सकते। उन्हे अनुचित समझना ही अनुचित होगा। अस्तु, अब रोहिणीके स्वयवरकी ओर चलिये।

रोहिणीका स्वयंवर

रोहिणी अरिष्टपुरके राजाकी लड़की और एक सुप्रतिष्ठित घरानेकी कन्या थी। इसके विवाहका स्वयवर रचाया गया था, जिसमे जरासन्धादिक बड़े बड़े प्रतापी राजा दूर देशांतरोसे एकत्र हुए थे। स्वयवरमडपमे वसुदेवजी, किसी कारण-विशेषसे अपना वेष बदल कर, पणव' नामका वादित्र हाथमें लिए हुए एक ऐसे रङ्क तथा अकुलीन बाजन्त्री (बाजा बजानेवाला) के रूपमे उपस्थित थे कि जिससे किसीको उस वक्त वहाँ उनके वास्तविक कुल जाति आदिका कुछ भी पता मालूम नही था। रोहिणीने सम्पूर्ण उपस्थित राजाओ तथा राजकुमारोको प्रत्यक्ष देखकर और उनके वंश तथा गुणादिका परिचय पाकर भी जब उनमेसे किसीको भी अपने योग्य वर पसद नही किया तब उसने, सब लोगोको आश्चर्य्यमें डालते हुए, बड़े ही निःसंकोच भावसे उक्त बाजन्त्री रूपके धारक एक अपरिचित और अज्ञातकुल-जाति-नामा व्यक्ति (वसुदेव)के गलेमे ही अपनी वरमाला डाल दी। रोहिणीके इस कृत्य पर कुछ ईर्षालु, मानी और मदान्ध राजा, अपना अपमान समझकर, कुपित हुए और रोहिणीके

पिता तथा वसुदेवसे लड़नेके लिये तैयार हो गये । उस समय विवाहनीतिका उल्लघन करनेके लिये उद्यमी हुए उन कुपितानन राजाओंको सम्बोधन करके, वसुदेवजीने बड़ी तेजस्विताके साथ जो वाक्य कहे थे उनमेंसे स्वयंवर-विवाहके नियमसूचक कुछ वाक्य इस प्रकार है: —

कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगता वरं ।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे ॥
—हरिवंश० ११–७१

अर्थात् स्वयंवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण (स्वीकार) करती है जो उसे पसंद होता है, चाहे वर कुलीन हो या अकुलीन । क्योंकि स्वयंवरमें इस प्रकारका—वरके कुलीन या अकुलीन होने-का—कोई नियम नही होता। ये वाक्य सकलकीर्ति आचार्य्यके शिष्य श्रीजिनदास ब्रह्मचारीने अपने हरिवंशपुराणमें उद्धृत किये है और श्रीजिनसेनाचार्य्यकृत हरिवंशपुराणमें भी प्राय: इसी आशयके वाक्य पाये जाते है। वसुदेवजीके इन वचनोंसे उनकी उदार परिणति और नीतिज्ञताका अच्छा परिचय मिलता है, और साथ ही स्वयंवर-विवाहकी नीतिका भी बहुत कुछ अनुभव हो जाता है। वह स्वय-वर-विवाह, जिसमें वरके कुलीन या अकुलीन होनेका कोई नियम नही होता, वह विवाह है जिसे आदिपुराणमें श्रीजिनसेनाचार्य्यने 'सनातनमार्ग' लिखा है और सम्पूर्ण विवाह-विधानोंमें सबसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है[1]। युगकी आदिमें सबसे पहले जब राजा अकम्पनके द्वारा इस (स्वयंवर) विवाहका अनुष्ठान हुआ था तब भरत चक्रवर्तीने भी इसका बहुत कुछ अभिनदन किया था। साथ ही, उन्होंने ऐसे सनातन मार्गोंके पुनरुद्धारकर्त्ताओंको

---

१. सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः ।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः ॥ ४४-३२ ॥

सत्पुरुषों द्वारा पूज्य भी ठहराया था[1]। अस्तु; विवाहकी यह सनातन विधि भी आजकलकी हवाके प्रतिकूल पाई जाती है। आजकल इस प्रकारके विवाहोंका प्रायः अभाव ही देखनेमें आता है; परतु आजकल कुछ ही होता रहे, उस समय वसुदेवजीका रोहिणी-के साथ इस स्वयवर-विधि से बड़े आनंदपूर्वक विवाह होगया और रोहिणीका एक बाजत्रीके गलेमे वरमाला डालना भी कुछ अनुचित नही समझा गया। इस विवाहसे वसुदेवजीको बलभद्र जैसे पुत्ररत्न-की प्राप्ति हुई।

इन चारो घटनाओको लिये हुए वसुदेवजीके इस एक पुराने बहुमान्य शास्त्रीय उदाहरणसे, और साथ ही वसुदेवजीके उक्त वचनोको आदिपुराणके उपर्युक्त लिखित वाक्योंके साथ मिलाकर पढनेसे विवाह-विषय पर बहुत कुछ प्रकाश पडता है और उसकी अनेक समस्याएँ खुद बखुद (स्वयमेव) हल हो जाती हैं। इस उदा-हरणसे वे सब लोग बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जो प्रच-लित रीति-रिवाजोको ब्रह्म-वाक्य तथा आप्त-वचन समझे हुए हैं, अथवा जो रूढियोंके इतने भक्त है कि उन्हे गणितशास्त्रके नियमोकी तरह अटल सिद्धान्त समझते है और इसलिए उनमें जरा भी फेर-फार करना जिन्हें रुचिकर नही होता, जो ऐसा करनेको धर्मके विरुद्ध चलना और जिनेद्र भगवानकी आज्ञाका उल्लंघन करना मान बैठे है, जिन्हें विवाहमे कुछ सख्याप्रमाण गोत्रोके न बचाने तथा अपने वर्णसे भिन्न वर्णके साथ शादी करनेसे धर्मके डूब जाने-

---

१. तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन्यद्यकम्पनाः।
क. प्रवर्त्तयितान्योऽस्य मार्गस्यैष सनातन.॥ ५४॥
मार्गाश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान्।
कुर्वन्ति नूतनान्सन्तः सद्भिः पूज्यास्त एव हि॥ ५५॥
—आदिपु० पर्व ४५

का भय लगा हुआ है; इससे भी अधिक, जो एक ही धर्म और एक ही आचारके मानने तथा पालनेवाली अग्रवाल, खंडेलवाल आदि समान जातियोंमें भी परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार एक करनेको अनुचित समझते है; पातक अथवा पतनकी शंकासे जिनका हृदय संतप्त है और जो अपनी एक जातिमें भी आठ-आठ गोत्रों तकको टालनेके चक्करमें पड़े हुए है। ऐसे लोगोको वसुदेवजीका उक्त उदाहरण और उसके साथ विवाहसम्बधी वर्तमान रीति-रिवाजोका मिलान बतलायगा कि रीति-रिवाज कभी एक हालतमें नही रहा करते, वे सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाएँ और अटल सिद्धान्त नही होते. उनमें समयानुसार बराबर फेरफार और परिवर्तनकी ज़रूरत हुआ करती है । इसी जरूरतने वसुदेवजीके समय और वर्तमान समयमें जमीन-आसमानकासा अंतर डाल दिया है । यदि ऐसा न होता तो वसुदेवजीके समयके विवाहसम्बंधी नियम-उपनियम इस समय भी स्थिर रहते और उसी उत्तम तथा पूज्य-दृष्टिसे देखे जाते जैसे कि वे उस समय देखे जाते थे। परन्तु ऐसा नही है और इसलिये कहना होगा कि वे सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाएँ अथवा अटल सिद्धान्त नही थे और न हो सकते है। दूसरे शब्दोमें यो कहना चाहिये कि यदि वर्तमान वैवाहिक रीतिरिवाजोंको सर्वज्ञ-प्रणीत-सार्वदेशिक और सार्वकालिक अटल सिद्धान्त माना जाय तो यह कहना पड़ेगा कि वसुदेवजीने प्रतिकूल-आचरणद्वारा बहुत स्पष्टरूपसे सर्वज्ञकी आज्ञाका उल्लंघन किया। ऐसी हालतमें आचार्यो-द्वारा उनका यशोगान नही होना चाहिये था, वे पातकी समझे जाकर कलंकित किये जानेके योग्य थे। परन्तु ऐसा नही हुआ और न होना चाहिये था, क्योंकि शास्त्रोंद्वारा उस समयके मनुष्योंकी प्रायः ऐसी ही प्रवृत्ति पाई जाती है, जिससे वसुदेवजी पर कोई कलंक नही आसकता। तब क्या यह कहना होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज सर्वज्ञप्रणीत थे और आजकलके सर्वज्ञप्रणीत अथवा जिनभाषित नहीं हैं? ऐसा कहने पर आजकल-

के रीति-रिवाजोको एकदम उठाकर उनके स्थानमें वही वसुदेवजीके समयके रीति-रिवाज कायम कर देना ही समुचित न होगा बल्कि साथ ही अपने उन सभी पूर्वजोको कलकित और दोषी भी ठहराना होगा जिनके कारण वे पुराने (सर्वज्ञभाषित) रीति-रिवाज उठकर उनके स्थानमे वर्तमान रीति-रिवाज कायम हुए और फिर हम तक पहुँचे। परन्तु ऐसा कहना और ठहराना दुःसाहस-मात्र होगा। वह कभी इष्ट नहीं हो सकता और न युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। इसलिये यही कहना समुचित होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज भी सर्वज्ञ-भाषित नही थे।

वास्तवमे गृहस्थोका धर्म दो प्रकारका वर्णन किया गया है, एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकाश्रय और पारलौकिक आगमाश्रय होता है[1]। 'विवाहकर्म गृहस्थोंके लिये एक लौकिक धर्म है और इसलिये वह लोकाश्रित है'—लौकिक जनोकी देशकालानुसार जो प्रवृत्ति होती है उसके आधीन है—लौकिक जनोंकी प्रवृत्ति हमेशा एक रूपमे नही रहा करती। वह देशकालकी आवश्यकताओके अनुसार, कभी पंचायतियोके निर्णय द्वारा और कभी प्रगतिशील व्यक्तियोके उदाहरणोको लेकर, बराबर बदला करती है और इसलिये वह पूर्णरूपमे प्राय कुछ समयके लिये ही स्थिर रहा करती है। यही वजह है कि भिन्न भिन्न देशो, समयो और जातियोंके विवाहविधानोमे बहुत बड़ा अंतर पाया जाता है। एक समय था जब इसी भारतभूमि पर सगे भाई-बहन भी परस्पर स्त्री-पुरुष होकर रहा करते थे और इतने पुण्याधिकारी समझे जाते थे कि मरने पर उनके लिये नियमसे देवगतिका विधान किया गया है[2]। 'फिर वह

---

१. द्वौ हि धर्मौ गृहस्थाना लौकिक पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाऽऽद्य. परः स्यादागमाश्रयः॥ —सोमदेवः।

२. यह कथन उस समयका है जब कि यहाँ भोगभूमि प्रचलित थी।

समय भी आया जब उक्त प्रवृत्तिका निषेध किया गया और उसे अनुचित ठहराया गया। परन्तु उस समय गोत्र तो गोत्र एक कुटुम्ब-में विवाह होना, अपनेसे भिन्न वर्णके साथ शादीका किया जाना और शूद्र ही नही किन्तु म्लेच्छो तककी कन्याओसे विवाह करना भी अनुचित नही माना गया। साथ ही मामा-फूफीकी कन्याओसे विवाह करनेका तो आम दस्तूर रहा और वह एक प्रशस्त विधान समझा गया। इसके बाद समयके हेरफेरसे उक्त प्रवृत्तियोका भी निषेध प्रारंभ हुआ, उनमे भी दोष निकलने लगे-पापोकी कल्पनाये होने लगी—और वे सब बदलते बदलते वर्तमानके ढाँचेमे ढल गई। इस अर्सेमें सैकड़ों नवीन जातियों,उपजातियों और गोत्रोंकी कल्पना होकर विवाहक्षेत्र इतना संकीर्ण बन गया कि उसके कारण आजकलकी जनता बहुत कुछ हानि तथा कष्ट उठा रही है और क्षतिका अनुभव कर रही है—उसे यह मालूम होने लगा है कि कैसी कैसी समृद्धिशालिनी जातियाँ इन वर्तमान रीति-रिवाजोंके चगुलमें फँसकर संसारसे अपना अस्तित्व उठा चुकी है और कितनी मृत्युशय्यापर पड़ी हुई है—इसीसे अब वर्तमान रीति-रिवाजोके विरुद्ध भी आवाज उठनी शुरू हो गई है, समय उनका भी परिवर्तन चाहता है।

सक्षेपमें, यदि सम्पूर्ण जगतके भिन्न भिन्न देशों, समयों और जातियोके कुछ थोड़े थोडेसे ही उदाहरण एकत्र किये जायँ तो विवाहविधानोंमें हजारों प्रकारके भेद उपभेद और परिवर्तन दृष्टि-गोचर होंगे और इस लिये कहना होगा कि यह सब समय-समयकी जरूरतों, देश-देशकी आवश्यकताओ और जातिके पारस्परिक व्यवहारोंका नतीजा है, अथवा इसे कालचक्रका प्रभाव कहना चाहिए। जो लोग कालचक्रकी गतिको न समझकर एक ही स्थान पर खड़े रहते है और अपनी पोजीशन (Position)को नही बदलते, स्थितिको नही सुधारते, वे निःसन्देह कालचक्रके आघातसे पीड़ित होते और कुचले जाते है। अथवा संसारसे उनकी सत्ता उठ जाती है। इस सब

कथनसे अथवा इतने ही संकेतसे लोकाश्रित (लौकिक) धर्मोंका बहुत कुछ रहस्य समझमें आ जाता है। साथ ही यह मालूम हो जाता है कि वे कितने परिवर्तनशील हुआ करते है। ऐसी हालतमें विवाह-जैसे लौकिक धर्मों और सासारिक व्यवहारोंके लिये किसी आगमका आश्रय लेना, अर्थात् यह ढूँढ-खोज लगाना कि आगममें किस प्रकारसे विवाह करना लिखा है, बिल्कुल व्यर्थ है। कहा भी है- "संसारव्यवहारे तु स्वतःसिद्धे वृथागमः[1]।" अर्थात्, संसार-व्यवहारके स्वतः सिद्ध होनेसे उसके लिये आगमकी जरूरत नही। वस्तुतः आगम ग्रन्थोमे इस प्रकारके लौकिक धर्मों और लोकाश्रित विधानोंका कोई क्रम निर्धारित नही होता। वे सब लोकप्रवृत्ति पर अवलम्बित रहते है। हाँ, कुछ त्रिवर्णाचार-जैसे अनार्ष ग्रन्थोमे विवाह-विधानोका वर्णन जरूर पाया जाता है। परन्तु वे आगमग्रन्थ नहीं है। उन्हे आप्त भगवानके वचन नही कह सकते और न वे आप्त-वचनानुसार लिखे गये है, इतने पर भी कुछ ग्रन्थ तो उनमेसे बिल्कुल ही जाली और बनावटी है, जैसा कि 'जिनसेनत्रिवर्णाचार' और 'भद्रबाहुसहिता' के परीक्षालेखोसे प्रगट है[2]। वास्तवमें ये सब ग्रन्थ एक प्रकारके लौकिक ग्रन्थ है। इनमे प्रकृत विषयके वर्णनको तात्कालिक और तद्देशीय रीति रिवाजोका उल्लेखमात्र समझना चाहिये अथवा यो कहना चाहिये कि ग्रन्थकर्ताओको समाजमे उस प्रकारके रीतिरिवाजोको प्रचलित करना इष्ट था। इससे अधिक उन्हें और कुछ भी महत्त्व नही दिया जा सकता। वे आजकल प्रायः इतने ही कामके है। एकदेशीय, लौकिक और सामयिक ग्रन्थ होने-

---

१. यह श्रीसोमदेव आचार्य्यका वचन है।

२ ये सब लेख 'ग्रन्थपरीक्षा' नामसे पहले 'जैनहितैपी' पत्रमें प्रकाशित हुए थे और अब कुछ समयसे अलग पुस्तकाकारमे भी छप गये है।

से उनका शासन सार्वदेशिक और सार्वकालिक नहीं हो सकता। अर्थात्—सर्व-देशो और सर्व-समयोंके मनुष्योके लिये वे समान रूपसे उपयोगी नहीं हो सकते । और इसलिए केवल उनके आधार पर चलना कभी युक्ति-सङ्गत नही कहला सकता। विवाह-विषयमें आगम-का मूलबिधान सिर्फ इतना ही पाया जाता है कि वह गृहस्थधर्मका वर्णन करते हुए गृहस्थके लिये आमतौर पर गृहिणीकी अर्थात् एक स्त्रीकी जरूरत प्रकट करता है। वह स्त्री कैसी, किस वर्णकी, किस जातिकी, किन किन सम्बन्धोसे युक्त तथा रहित और किस गोत्रकी होनी चाहिए अथवा किस तरह पर और किस प्रकारके विधानोंके साथ विवाह कर लानी चाहिये इन सब बातोमें आगम प्रायः कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करता। ये सब विधान लोकाश्रित है आगमसे इनका प्रायः कोई सम्बन्ध-विशेष नहीं है । यह दूसरी बात है कि आगममें किसी घटना-विशेषका उल्लेख करते हुए उनका उल्लेख आ जाय और तात्कालिक दृष्टिसे उन्हें अच्छा या बुरा भी बतला दिया जाय; परन्तु इससे वे कोई सार्वदेशिक और सार्वकालिक अटल सिद्धान्त नही बन जाते—अर्थात् ऐसे कोई नियम नहीं हो जाते कि जिनके अनुसार चलना सर्व देशों और सर्व-समयोके मनुष्योंके लिये बराबर जरूरी और हितकारी हो। हाँ, इतना जरूर है कि आगम-की दृष्टिमें सिर्फ वे ही लौकिक विधियाँ अच्छी और प्रामाणिक समझी जा सकती है जो जैन सिद्धान्तोंके विरुद्ध न हों, अथवा जिनके कारण जैनियोंकी श्रद्धा (सम्यक्त्व) में बाधा न पड़ती हो और न उनके व्रतोंमें ही कोई दूषण लगता हो । इस दृष्टिको सुर-क्षित रखते हुए जैनी लोग प्रायः सभी लौकिक विधियोंको खुशीसे स्वीकार कर सकते है और अपने वर्त्तमान रीति-रिवाजोमें देशकाला-नुसार यथेष्ट परिवर्तन कर सकते है[1]। उनके लिये इसमें कोई

---

१. सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥ —सोमदेवः

बाधक नही है। अस्तु, इस सम्पूर्ण विवेचनसे प्राचीन और अर्वाचीन-कालके विवाह-विधानोंकी विभिन्नता, उनका देश-कालानुसार परिवर्त्तन और लौकिक धर्मोका रहस्य इन सब बातोंका बहुत कुछ अनुभव प्राप्त हो सकता है, और साथ ही यह भले प्रकार समझमें आ सकता है कि वर्त्तमान रीति-रिवाज कोई सर्वज्ञभाषित ऐसे अटल सिद्धान्त नही है कि जिनका परिवर्त्तन न हो सके अथवा जिनमें कुछ फेरफार करनेसे धर्मके डूब जानेका कोई भय हो। हम अपने सिद्धान्तोका विरोध न करते हुए, देश-काल और जातिकी आवश्यकताओके अनुसार उन्हे हर वक्त बदल सकते हैं। वे सब हमारे ही कायम किये हुये नियम है और इसलिए हमें उनके बदलनेका स्वतः अधिकार प्राप्त है। इन्ही सब बातोको लेकर एक शास्त्रीय उदाहरणके रूपमे यह निबन्ध लिखा गया है। आशा है कि हमारे जैनी भाई इससे जरूर कुछ शिक्षा ग्रहण करेगे और विवाहतत्त्वको समझ कर, जिसके समझनेके लिये 'विवाह-समुद्देश्य' नामक निबन्ध भी साथमें पढ़ना विशेष उपयोगी होगा, अपने वर्तमान रीति-रिवाजोमें यथोचित फेरफार करनेके लिये समर्थ होगे। और इस तरह कालचक्रके आघातसे बचकर अपनी सत्ताको चिरकाल तक यथेष्ट रीतिसे बनाये रक्खेगे।

१४

उपासना-तत्त्व

स्थिति और जरूरत

हमारी धार्मिक शिक्षा 'उपासना' से प्रारम्भ होती है। पूजा, भक्ति और आराधना ये सब उपासनाके ही नामान्तर है। यही धर्म-की पहली सीढ़ी है जिसका हमें बचपनसे ही अभ्यास कराया जाता है। बच्चा बोलना भी प्रारम्भ नही करता कि उसे जिनमदिर आदिमें ले जाकर, मूर्ति आदिके सामने उसके हाथ जुड़वा कर तथा मस्तक नमवाकर उसे उपासनाका एक पाठ पढ़ाया जाता है; और ज्यो ही वह कुछ बोलने लगता है त्यों ही उससे इष्ट देवताओके नामोका उच्चारण—'ॐ' 'जय' आदि शब्दोंका उच्चारण– कराया जाता है, 'णमो अरहंताणं,' 'णमोत्थुणं' आदिके पाठ सिखलाए जाते है और, जितना शीघ्र बन सके उतना ही शीघ्र परमात्माकी कुछ स्तुतियाँ भी उसे याद कराई जाती है। बच्चा, अपनी अज्ञान दशामें, यदि मूर्तिको एक खिलौना समझकर उसके लेनेके लिये हाथ पसा-रता है, जिद्द करता है, उसे 'भाई' कहकर पुकारता है, उसको चढ़ा हुआ नैवेद्य उठाकर खाने लगता है अथवा उसके सामने पीठ देकर खड़ा हो जाता या बैठ जाता है तो उसकी इस प्रकारकी बातोंका निषेध किया जाता है और कुछ गम्भीर स्वरके साथ कहा जाता है

कि "नहीं, खबरदार ! ऐसा नही किया करते, ये भगवान है, इनके आगे हाथ जोड़ो ।" साथ ही, उसे प्रतिदिन भगवानके दर्शनादिकके लिये मंदिरमें जाने और किसी स्तुति-पाठादिकका उच्चारण करनेकी प्रेरणा भी की जाती है। इस तरह शुरूसे ही परमात्माकी पूजा, भक्ति, उपासना और आराधनाके संस्कार हमारे अन्दर डाले जाते है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, समाजमें, ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति निकलेंगे जो उपासनाके तत्त्वको अच्छी तरहसे जानते और समझते हो। उन्हे यह बात प्राय. सिखलाई ही नही जाती। अधिकाश माता-पिता स्वय इस तत्त्वसे अनभिज्ञ है—वे खुद ही अपनी क्रियाओंका रहस्य नही जानते अथवा कुछका कुछ जानते है—और इसलिये उनकी समझमें जो बात जिस तरह पर कुलपरम्परासे चली आई होती है उसे वे अपने बच्चोंके गले उतार देते है—उन्हे रटा देते अथवा सिखला देते है। इससे अधिक शायद वे अपना और कुछ कर्तव्य नही समझते। नतीजा इसका यह होता है कि हमारे अधिकांश भाई नित्य मंदिरमें जरूर जाते हैं, भगवानका दर्शन और पूजन करते है, स्तुतियाँ पढते है, सस्कृत-प्राकृतके भी अनेक स्तोत्रोका पाठ किया करते हैं, तीर्थयात्राको निकलते है, और भक्ति तथा उपासनाके नामपर और भी बहुतसे काम तथा विधि-विधान करते हुए देखे जाते है; परन्तु उन्हें प्राय: यह खबर नही होती कि यह सब कुछ क्यों किया जाता है, किसके लिये किया जाता है, क्या जरूरत है, इसका मूल उद्देश्य क्या है, हमारी इन क्रियाओंसे वह उद्देश्य पूरा होता है या नही और यदि नही होता तो हमें फिर किस प्रकारसे वर्तना चाहिये, इत्यादि। हाँ, वे इतना ज़रूर जानते है कि ये सब धर्मके काम हैं, पहलेसे होते आए है और इनके द्वारा पुण्योपार्जन किया जाता है। परन्तु धर्मके काम क्योकर हैं, किस तरह होते आए हैं और इनके द्वारा कैसे पुण्यका उपार्जन किया जाता है, इन सब बातोंकी उन्हें जाँच नहीं होती और न वे इस जाँचकी कुछ जरूरत ही

समझते हैं। उनका सम्पूर्ण आचरण, इस विषयमें, प्रायः लोक-रीति-का (रूढियोंका) अनुसरण करनेवाला, एक दूसरेकी देखादेखी और ज्यादातर लौकिक प्रयोजनोंको लिये हुए होता है। उपास्य और उपासनाके स्वरूपपर उनकी दृष्टि ही नहीं होती और न वे उपासना-के विधि-विधानोंमें कभी कोई भेद उपस्थित होने पर सहजमें उसका आपसी (पारस्परिक) समझौता कर सकते है। उन्हें अपनी चिरप्र-वृत्तिके विरुद्ध जरासा भी भेद असह्य हो उठता है और उसके कारण वे अपने भाइयोंसे ही लड़ने-मरने तकको तैयार हो जाते है। ऐसे स्त्री-पुरुषोंके द्वारा समाजमें सूखा क्रियाकांड बढ़ जाता है, यान्त्रिक चारित्रकी—जड़ मशीनों जैसे आचरणकी—वृद्धि हो जाती है और भावशून्य क्रियाएँ फैल जाती है। ऐसी हालतमें उपासना उपासना नही रहती और न भक्तिको भक्ति ही कह सकते है। ऐसी प्राणरहित उपासनासे यथेष्ट फलकी कुछ भी प्राप्ति नही हो सकती। श्रीकुमु-दचन्द्राचार्यने अपने 'कल्याणमन्दिर' स्तोत्रमें ठीक लिखा है:—

> आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
> नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
> जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःखपात्रं,
> यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥

अर्थात्—हे लोकबन्धु जिनेन्द्रदेव! जन्मजन्मान्तरोमे मैने आपका चरित्र सुना है, पूजन किया है और दर्शन भी किया है, यह सब कुछ किया परन्तु भक्तिपूर्वक कभी आपको अपने हृदयमे धारण नही किया[1]। नतीजा जिसका यह हुआ कि मै अब तक इस ससारमे

---

१ जिनेन्द्र भगवान्को भक्तिपूर्वक हृदयमे धारण करनेसे जीवोके दृढ कर्मबधन इस प्रकार ढीले पड जाते है जिस प्रकार कि चन्दनके वृक्ष पर मोरके आनेसे उस वृक्षको लिपटे हुए साँप। अर्थात् मोरके सामीप्यसे जैसे सर्प घबराते है वैसे ही जिनेन्द्रके हृदयस्थ होने पर कर्म काँपते हैं;

दुःखोंका ही पात्र रहा—मुझे दुःखोंसे छुटकारा ही न मिला—क्योकि भावशून्य क्रियाएँ फलदायक नही होती।

एक दूसरे आचार्य लिखते है कि, बिना भावके पूजा आदिका करना, तप तपना, दान देना, जाप्य जपना,—माला फेरना—और यहाँ तक कि दीक्षादिक धारण करना भी ऐसा निरर्थक होता है जैसा कि बकरीके गलेका स्तन। अर्थात् जिस प्रकार बकरीके गलेमे लटकते हुए स्तन देखनेमे स्तनाकार होते हैं परन्तु वे स्तनोका कुछ भी काम नही देते—उनसे दूध नही निकलता—उसी प्रकार बिना भावकी पूजनादि क्रियाएँ भी देखने-ही-की क्रियाएँ होती है, पूजादिका वास्तविक फल उनसे कुछ भी प्राप्त नही हो सकता। यथा :—

> भावहीनस्य पूजादितपोदानजपादिकम्।
> व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकंठे स्तनाविव॥

इससे स्पष्ट है कि हमारी उपासनासम्बधी क्रियाओंमें भावकी बड़ी जरूरत है—भाव ही उनका जीवन और भाव ही उनका प्राण है बिना भावके उन्हे निरर्थक और निष्फल समझना चाहिये। परतु यह भाव उपासना-तत्त्वको समझे बिना कैसे पैदा हो सकता है? अत. अपनेमे इस भावको उत्पन्न करके अपनी क्रियाओंको सार्थक बनानेके लिये जैनियोको, आमतौर पर, अपना उपासना-तत्त्व समझने और समझकर तदनुकूल वर्तनेकी बहुत बड़ी ज़रूरत है। इसी

क्योकि जिनेन्द्र कर्मोका नाश करनेवाले है। उन्होने अपने आत्मासे कर्मोको निर्मूल कर दिया है। इसी आशयको आचार्य कुमुदचन्द्रने निम्नलिखित पद्यमे प्रगट किया है:—

> हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवन्ति,
> जन्तो. क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः।
> सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-
> मभ्यागते वनशिखंडिनि चंदनस्य॥ —कल्याणमदिर

जरूरतको ध्यानमें रखकर आज इस निबंध द्वारा, संक्षेपमें, उपासना-तत्त्वको समझानेका यत्न किया जाता है। इससे हमारे वे अजैन बन्धु भी जरूर कुछ लाभ उठा सकेंगे जिन्हें जैनियोंके उपासना-तत्त्वको जाननेकी आकांक्षा रहती है, अथवा जैनसिद्धान्तोंकी अनभिज्ञताके कारण जिनके हृदयमें कभी कभी यह प्रश्न उपस्थित हुआ करता है कि, जब जैन लोग किसी ईश्वर या परमात्माको जगत्का कर्ता-हर्ता नहीं मानते और न उसकी प्रसन्नता या अप्रसन्नतासे किसी लाभ तथा हानिका होना स्वीकार करते है तो फिर वे परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना क्यों करते है और उन्होंने उससे क्या लाभ समझ रक्खा है ? इस प्रश्नका समाधान भी स्वतः नीचेकी पंक्तियों-से हो जायगा:—

सिद्धान्त और उद्देश्य

जैनधर्मका यह सिद्धान्त है कि यह आत्मा जो अनादि कर्ममलसे मलिन हो रहा है—अपने स्वरूपको भुलाकर विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है—वही उन्नति करते करते कर्ममलको दूर करके परमात्मा बन जाता है। आत्मासे भिन्न कोई एक ईश्वर या परमात्मा नही है— आत्माकी परमविशुद्ध अवस्थाका नाम ही परमात्मा है। अर्हंत, जिनेन्द्र, जिनदेव, तीर्थंकर, सिद्ध, सार्व, सर्वज्ञ, वीतराग, परमेष्ठी, परंज्योति, शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार, आप्त, ईश्वर, परब्रह्म इत्यादि सब उसी परमात्मा या परमात्मपदके नामान्तर है अथवा दूसरे शब्दोमें यों कहिये कि, परमात्मा आत्मीय अनंत गुणों-का समुदाय है, अनंत गुणोंकी अपेक्षा उसके अनंत नाम हैं; वह परमात्मा परम वीतरागी और शान्तस्वरूप है, उसका किसीसे राग या द्वेष नही है, किसीकी स्तुति, भक्ति और पूजासे वह प्रसन्न नही होता और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कटु शब्दोपर अप्रसन्नता लाता है, धनिक श्रीमानों, विद्वानों और उच्च श्रेणी या वर्णके मनु-

ष्योंको वह प्रेमकी दृष्टिसे नही देखता और न निर्धन-कंगालो, मूर्खों तथा निम्नश्रेणीके मनुष्योको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करता है, न सम्यग्दृष्टि उसके कृपापात्र है और न मिथ्यादृष्टि उसके कोपभाजन; वह परमानंदमय और कृतकृत्य है, सासारिक झगड़ोंसे उसका कोई प्रयोजन नहीं। इसलिये जैनियोकी उपासना, भक्ति और पूजा, हिन्दुओं, मुसलमानो तथा ईसाइयोंकी तरह, परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये नही होती। उसका कुछ दूसरा ही उद्देश्य है जिसके कारण वे (समझदार जैनी) ऐसा करना अपना कर्तव्य समझते है और वह संक्षिप्तरूपसे यो है कि:—

यह जीवात्मा स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनंतसुख, और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियोका आधार है। परन्तु अनादि कर्ममलसे मलिन होनेके कारण इसकी वे समस्त शक्तियाँ आच्छादित है—कर्मोंके पटलसे वेष्टित है—और यह आत्मा संसारमें इतना लिप्त और मोहजालमें इतना फँसा हुआ है कि उन शक्तियोका विकास होना तो दूर रहा, उनका स्मरण तक भी इसको नही होता। कर्मके किंचित् क्षयोपशमसे जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञानादि-लाभ होता है, यह जीव उतनेहीमें संतुष्ट होकर उसीको अपना स्वरूप मानने लगता है। इन्ही ससारी जीवोमेसे जो जीव, अपनी आत्मनिधिकी सुधि पाकर धातुभेदीके सदृश प्रशस्त ध्यानाग्निके बलसे समस्त कर्ममलको दूर कर देता है उससे आत्माकी वे सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतोभावसे विकसित हो जाती हैं और तब वह आत्मा स्वच्छ तथा निर्मल होकर परमात्मदशाको प्राप्त हो जाता है और परमात्मा कहलाता है[1]। केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की प्राप्ति होनेके पश्चात् जब तक देहका

---

१. ध्यानाज्जिनेश भवतो भविन. क्षणेन,
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके,

सम्बन्ध बाकी रहता है तब तक परमात्माको सकलपरमात्मा, जीवन्मुक्त तथा अर्हंत कहते हैं और जब देहका सम्बंध भी छूट जाता है और मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तब वही सकलपरमात्मा निष्कल-परमात्मा, विदेहमुक्त और सिद्ध नामोसे विभूषित होता है। इस प्रकार अवस्थाभेदसे परमात्माके दो भेद कहे जाते हैं। यह परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्थामें अपनी दिव्य-वाणीके द्वारा, संसारी जीवोंको उनके आत्माका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाता है—अर्थात्, उनकी आत्मनिधि क्या है, कहाँ है, किस किस प्रकारके कर्मपटलोसे आच्छादित है, कैसे कैसे उपायोसे वे कर्मपटल इस आत्मासे जुदे हो सकते है, संसारके अन्य समस्त पदार्थोंसे इस आत्माका क्या संबंध है, दुःखका, सुखका और संसारका स्वरूप क्या है, कैसे दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है, इत्यादि समस्त बातोका विस्तारके साथ सम्यक् प्रकार निरूपण करता है—जिससे अनादि अविद्याग्रसित संसारी जीवोंको अपने कल्याणका मार्ग सूझता है और अपना हित-साधन करनेमें उनकी प्रवृत्ति होती है[1]। इस प्रकार परमात्माके द्वारा जगत्का निःसीम (बेहद) उपकार होता है। इसी कारण परमात्माके सार्व, परमहितोपदेशक, परमहितैषी और निर्निमित्तबन्धु इत्यादि भी नाम कहे जाते है। इस महोपकारके बदलेमें हम (संसारी जीव) परमात्माके प्रति जितना आदर-सत्कार प्रदर्शित करें और जो कुछ भी कृतज्ञता बतलाएँ वह सब तुच्छ है। जो सज्जन अथवा साधुजन होते है वे अपने उपकारीके उपकारको कभी नही भूलते, बराबर उसका स्मरण रखते है और इस उपकार-

---

चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदा. ।—कल्याणमंदिर।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृश. ।

वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ।।—समाधितंत्र।

१ श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः ।—आप्तपरीक्षा।

स्मृतिके चिन्हस्वरूप अनेक प्रकारसे अपने उपकारीके प्रति अपना आदर सत्कार व्यक्त किया करते हैं; जैसा कि श्लोकवार्तिकमे, श्रीमद्विद्यानंदस्वामी द्वारा, परमात्माकी उपासनाके समर्थनमें, उद्धृत किये हुए निम्नलिखित एक प्राचीन पद्यसे प्रकट है:—

> अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः
> प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।
> इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धै-
> र्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥

इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि,'मनोवाछित फलकी सिद्धिका उपाय सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञानकी उपलब्धि शास्त्रके द्वारा होती है और शास्त्रकी उत्पत्ति आप्त भगवान्से है, इसलिये वे आप्तभगवान् (परमात्मा) जिनके प्रसादसे प्रबुद्धताकी प्राप्ति होकर अभिमत फलकी सिद्धि होती है, संतजनोके द्वारा पूज्य ठहरते है। सच है, साधुजन किसीके किये हुए उपकारको कभी भूलते नही हैं।'

इससे जो लोग दूसरोके किये हुए उपकारको भुला देते हैं उन्हे असाधु तथा असज्जन समझना चाहिये। लोकमें भी उन्हे कृतघ्नी, अहसानफरामोश और गुणमेट आदि बुरे नामोंसे पुकारा जाता है। ऐसे लोग, जबतक उनकी यह दशा कायम रहती है, कभी उन्नति नही कर सकते और न आत्मलाभके सम्मुख हो सकते हैं। इसलिये अपने महोपकारी परमात्माके प्रति आदर-सत्कार रूपसे प्रवर्तित होना हमारा खास कर्तव्य है।

दूसरे. जब आत्माकी परम स्वच्छ और निर्मल अवस्थाका नाम ही परमात्मा है और उस अवस्थाको प्राप्त करना—अर्थात्, परमात्मा बनना—सब आत्माओका अभीष्ट है, तब आत्मस्वरूपकी या दूसरे शब्दोमें परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना हमारा परम कर्तव्य है। परमात्माका ध्यान, परमात्माके अलौकिक चरित्रका विचार और परमात्माकी ध्यानावस्थाका

चिन्तवन ही हमको अपनी आत्माकी याद दिलाता है—अपनी भूली हुई निधिकी स्मृति कराता है-उसीसे आत्माको यह मालूम पड़ता है कि मै कौन हूँ (को वाऽहं) और मेरी आत्मशक्ति क्या है (का च मे शक्ति.)। परमात्मस्वरूपकी भावना ही आत्मस्वरूपकी उपलब्धि तथा स्थितिका कारण है[१]। परमात्माका भजन और स्तवन ही हमारे लिये अपने आत्माका अनुभवन है। आत्मोन्नतिमे अग्रसर होनेके लिये परमात्मा ही हमारा आदर्श है। आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिके लिये हम उसी आदर्शको अपने सन्मुख रखकर अपने चरित्रका गठन करते है। अपने आदर्श पुरुषके गुणोमें भक्ति तथा अनुरागका होना स्वाभाविक और जरूरी है। बिना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नही हो सकती। उदाहरणके लिये, यदि कोई मनुष्य संस्कृत भाषाका विद्वान् होना चाहे तो उसके लिये यह जरूरी है कि वह संस्कृत भाषाके विद्वानोका संसर्ग करे, उनसे प्रेम रक्खे और उनकी सेवामें रहकर कुछ सीखे, संस्कृतकी पुस्तकोंका प्रेमपूर्वक संग्रह करे और उनके अध्ययनमें चित्त लगाए। यह नहीं हो सकता कि, संस्कृतके विद्वानोंसे तो घृणा करे, उनकी शकल तक भी देखना न चाहे, उनसे कोसों दूर भागे, संस्कृतकी पुस्तकोंको छुए अथवा देखे तक नही, न संस्कृतका कोई शब्द अपने कानोमे पड़ने दे, और फिर संस्कृतका विद्वान बन जाय। इसलिये प्रत्येक गुणकी प्राप्तिके लिये उसमे सब ओरसे अनुरागकी बड़ी जरूरत है। जो मनुष्य जिस गुणका आदर सत्कार करता है अथवा जिस गुणसे प्रेम रखता है वह उस गुणके गुणीका भी अवश्य आदर-सत्कार करता है। क्योंकि गुणीके आश्रय बिना कही भी गुण नही होता। आदर-सत्काररूप इस प्रवृत्तिका नाम ही

---

१ सोऽहमित्यात्तसस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसस्काराल्लभते ह्यात्मनः स्थितिम्।
—समाधितन्त्र

पूजा और उपासना है। इसलिये परमात्मा[1] इन्ही समस्त कारणो-से हमारा परम पूज्य और उपास्य देव है। उसकी इस उपासनाका मुख्य उद्देश्य, वास्तवमें, परमात्म गुणोंकी प्राप्ति अथवा अपने आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिकी भावना है। यह भावना जितनी अधिक दृढ और विशुद्ध होगी सिद्धि भी उतनी ही अधिक निकट होती जायगी। इसीसे अच्छे अच्छे योगीजन भी निरतर परमात्माके गुणोका चितन किया करते हैं। कभी कभी वे परमात्माका स्तवन करते हुए उसमें उन खास खास गुणोंका उल्लेख करते हुए देखे जाते हैं जिनको प्राप्त करनेकी उनकी उत्कट इच्छा होती है और उनके सम्बन्धमे यह साफ तौरसे लिख भी दिया करते हैं कि हम ऐसे परमात्मगुणो-की प्राप्तिके लिये परमात्माकी वन्दना करते है, जैसा कि सर्वार्थ-सिद्धिमे श्रीपूज्यपादाचार्यके दिये हुए निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥

इससे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि परमात्माकी उपासना मुख्यतया उनके गुणोकी प्राप्तिके उद्देश्यसे की जाती है, उसमे पर-मात्माकी कोई गरज नही होती बल्कि वह अपनी ही ग़रज़को लिये हुए होती है और वह गरज़ 'आत्मलाभ' है जिसे परमात्माका आदर्श सामने रखकर प्राप्त किया जाता है। और इसलिये, जो लोग उपासनाके इस मुख्योद्देश्यको अपने लक्ष्यमें नही रखते और न उप-कारके स्मरण पर ही जिनकी दृष्टि रहती है उनकी उपासना वास्तवमे उपासना कहलाए जानेके योग्य नही हो सकती। ऐसी

---

१ इन्ही कारणोसे अन्य वीतरागी साधु और महात्मा भी, जिनमे आत्माकी कुछ शक्तियाँ विकसित हुई हैं और जिन्होने अपने उपदेश, आचरण तथा शास्त्रनिर्माणसे हमारा उपकार किया है वे सब, हमारे पूज्य हैं।

उपासनाको बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनोसे अधिक महत्व नही दिया जा सकता। उसके द्वारा वर्षो क्या कोटि जन्ममें भी उपासनाके मूल उद्देश्यकी सिद्धि नही हो सकती। और इसलिये, यह जीव ससारमें दुःखोंका ही पात्र बना रहता है। दुःखोसे समुचित छुटकारा तभी हो सकता है जब कि परमात्माके गुणोमे अनुराग वढाया जाय। परमात्माके गुणोमें अनुराग बढ़नेसे पापपरिणति सहजमे छूट जाती है और पुण्यपरिणति उसका स्थान ले लेती है। इसी आशयको स्वामी समन्तभद्राचार्यने, निम्न वाक्य द्वारा, बडे ही अच्छे ढंगसे प्रतिपादित किया है:—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताऽञ्जनेभ्य॥

—स्वयभूस्तोत्र

इसमें स्वामी समन्तभद्र, परमात्माको लक्ष्य करके उनके प्रति, अपना यह आशय व्यक्त करते है कि 'हे भगवान्, पूजा-भक्तिसे आपका कोई प्रयोजन नही है, क्योंकि आप वीतरागी है-रागका अश भी आपके आत्मामें विद्यमान नही है जिसके कारण किसी पूजा-भक्तिसे आप प्रसन्न होते। इसी तरह निन्दासे भी आपका कोइ प्रयोजन नही है कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उस पर आपको जरा भी क्षोभ नही आ सकता, क्योंकि आपके आत्मासे वैरभाव, द्वेषाश, बिल्कुल निकल गया है—वह उसमे विद्यमान ही नही है—जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्योका उद्भव हो सकता। ऐसी हालतमे निन्दा और स्तुति दोनो ही आपके लिये समान है—उनसे आपका कुछ बनता या बिगड़ता नही है—तो भी आपके पुण्य गुणोंके स्मरणसे हमारा चित्त पापोसे पवित्र होता है—हमारी पापपरिणति छूटती है—इसलिये हम भक्तिके साथ आपका गुणानुवाद गाते है—आपकी उपासना करते है।'

जब परमात्माके गुणोमें अनुराग बढाने, उनके गुणोका प्रेमपूर्वक

स्मरण और चिन्तन करनेसे शुभ भावोकी उत्पत्ति-द्वारा पापपरिणति छूटती और पुण्यपरिणति उसका स्थान लेती है तो नतीजा इसका यही होता है कि हमारी पापप्रकृतियोका रस सूखता और पुण्यप्रकृतियोका रस बढता है। पाप-प्रकृतियोका रस (अनुभाग) सूखने और पुण्य-प्रकृतियोमें रस बढ़नेसे अन्तराय कर्म नामकी प्रकृति, जो कि एक मूल पाप-प्रकृति है और हमारे दान, लाभ, भोगोपभोग आदिमे विघ्नस्वरूप रहा करती है—उन्हे होने नही देती—वह भग्नरस होकर निर्बल पड़ जाती है और हमारे इष्टको बाधा पहुँचानेमे समर्थ नही रहती। तब हमारे बहुतसे लौकिक प्रयोजन सिद्ध हो जाते है और उनका श्रेय उक्त उपासनाको ही प्राप्त होता है। जैसा कि एक आचार्य महोदयके निम्नवाक्यसे प्रगट है :—

नेष्टं विहन्तुं शुभभावभग्नरसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः।
तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकदाऽर्हदादेः॥

ऐसी हालतमे यह कहना कि परमात्माकी सच्ची पूजा, भक्ति और उपासनासे हमारे लौकिक प्रयोजनोकी भी सिद्धि होती है, कुछ भी अनुचित न होगा। यह ठीक है कि, परमात्मा स्वय अपनी इच्छापूर्वक किसीको कुछ देता दिलाता नही है और न स्वय आकर अथवा अपने किसी सेवकको भेजकर भक्तजनोका कोई काम ही सुधारता है तो भी उसकी भक्तिका निमित्त पाकर हमारी कर्मप्रकृतियोमे जो कुछ उलट-फेर होता है उससे हमे बहुत कुछ प्राप्त हो जाता है और हमारे अनेक बिगड़े हुए काम भी सुधर जाते है। इसलिये परमात्माके प्रसादसे हमारे लौकिक प्रयोजन भी सिद्ध होते है इस कहनेमें, सिद्धान्तकी दृष्टिसे, कोई विरोध नही आता। परन्तु फलप्राप्तिका यह सारा खेल उपासनाकी प्रशस्तता, अप्रशस्तता और उसके द्वारा उत्पन्न हुए भावोकी तरतमता पर निर्भर है। अत हमें अपने भावोकी उज्ज्वलता, निर्मलता और उनके उत्कर्षसाधन पर खास तौरसे ध्यान रखना चाहिये और वह तभी बन सकता है जब

कि परमात्माकी उपासना उपासनाके ठीक उद्देश्यको समझकर की जाय और उसमें प्रायः लौकिक प्रयोजनोपर दृष्टि न रक्खी जाय। जो लोग केवल लौकिक प्रयोजनकी दृष्टिसे—सासारिक विषयकषायोको पुष्ट करनेकी ग़रजसे—परमात्माकी उपासना करते है, उसके नाम पर तरह तरहकी बोल-कबूलत बोलते हैं और फलप्राप्तिकी शर्तपर पूजा-उपासनाका वचन निकालते है उनके सम्बन्धमें यह नही कहा जा सकता है कि वे परमात्माके गुणोंमें वास्तविक अनुराग रखते है, वल्कि यदि यह कहा जाय कि वे परमात्माके स्वरूपसे ही अनभिज्ञ हैं तो शायद कुछ ज्यादा अनुचित न होगा। ऐसे लोगोकी इस प्रवृत्ति-से कभी कभो बड़ी हानि होती है। वे सासारिक किसी फल-विशेप-की आशासे—उसकी प्राप्तिके लिये—परमात्माकी पूजा करते है,परंतु फलकी प्राप्ति अपने अधीन नही होती, वह कर्मप्रकृतियोंके उलट-फेरके अधीन है। दैवयोगसे यदि कर्म-प्रकृतियोंका उलट-फेर, योग्य भावोंको न पाकर, अपने अनुकूल नही होता और इसलिये अभीप्ट फलकी सिद्धिको अवसर नही मिलता तो ऐसे लोगोंकी श्रद्धा डगमगा जाती है अथवा यों कहिये कि उस वृक्षकी तरह उखड़ जाती है जिसका मूल कुछ भी गहरा नही होता। उन्हे यह तो खबर नहीं पड़ती कि हमारी उपासना भावशून्य थी, उसमे प्राण नही था और इसलिये हमें सच्ची उपासना करनी चाहिये, उलटा वे परमात्माकी पूजा-भक्तिमें हतोत्साह होकर उससे उपेक्षित हो बैठते है। साथ ही, अपनी अभीष्टसिद्धिके लिये दूसरे देवी-देवताओंकी तलाशमें भटकते हैं, अनेक रागी-द्वेषी देवताओंकी शरणमें प्राप्त होकर उनकी तरह तरहकी उपासना किया करते है और इस तरहपर अपने जैनत्वको भी कलंकित करके जैनशासनकी अप्रभावनाके कारण बन जाते है।

ऐसी कच्ची प्रकृति और ढीली श्रद्धाके मनुष्योंकी दशा, निःसंदेह, बड़ी ही करुणाजनक होती है। ऐसे लोगोंको ख़ास तौरसे उपासना-तत्त्वको जानने और समझनेकी जरूरत है। उन्हे ऊपरके इस संपूर्ण

कथनसे खूब समझ लेना चाहिये कि जैनदृष्टिसे परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना परमात्माको प्रसन्न करने—खुशामद-द्वारा उससे कुछ काम निकालनेके लिये नहीं होती और न सासारिक विषय-कपायोका पुष्ट करना ही उसके द्वारा अभीष्ट होता है। बल्कि, वह खास तौरसे परमात्माके उपकारका स्मरण करने और परमात्माके गुणोकी—आत्मस्वरूपकी—प्राप्तिके उद्देश्यसे की जाती है। परमात्माका भजन और चिन्तन करनेसे—उसके गुणोंमे अनुराग बढ़ानेसे—पापोसे निवृत्ति होती है और साथ ही महत्पुण्योपार्जन भी होता है, जो कि स्वत अनेक लौकिक प्रयोजनोका साधक है। इसलिये जो लोग परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना नही करते वे अपने आत्मीय गुणोसे पराङ्मुख और अपने आ मलाभसे वचित रहते है, इतना ही नही, किन्तु कृतघ्नताके महान् दोषसे भी दूषित होते है। अत. ठीक उद्देश्योके साथ परमात्माकी पूजा, भक्ति, उपासना और आराधना करना सबके लिये उपादेय और जरूरी है।

मूर्ति-पूजा

परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्था—अर्थात्, अर्हन्त-अवस्थामें सदा और सर्वत्र विद्यमान नही रहता, इस कारण परमात्माके स्मरणार्थ और परमात्माके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्तनेके अवलम्बनस्वरूप उसकी अर्हन्त अवस्थाकी मूर्ति बनाई जाती है। वह मूर्ति परमात्माके वीतरागता, शान्तता और ध्यानमुद्रा आदि गुणोका प्रतिविम्ब होती है। उसमे स्थापना-निक्षेपसे परमात्माकी प्रतिष्ठा की जाती है। उसके पूजनेका भी समस्त वही उद्देश्य है जो ऊपर वर्णन किया गया है, क्योकि मूर्तिकी पूजासे किसी धातुपाषाणका पूजना अभिप्रेत (इष्ट) नही है। ऐसा होता तो गृहस्थोके घरोमे सैकड़ो बाट बटेहडे धडे पसेरे आदि चीजें इसी किस्मकी पडी रहती हैं; वे उनसे ही अपना मस्तक रगडा करते और उन्हे प्रणामादिक किया करते।

पर ऐसा नहीं है। मूर्तिके सहारेसे परमात्माकी ही पूजा, भक्ति, उपासना और आराधना की जाती है। मूर्तिके द्वारा मूर्तिमानकी उपासनाका नाम ही मूर्तिपूजा है। इसीलिये इस मूर्तिपूजाके देवपूजा, देवाराधना, जिनपूजन, देवार्चन, भगवत्पर्युपासन, जिनार्चा इत्यादि नाम कहे जाते है और इसीलिये इस पूजनको साक्षात् जिनदेवके पूजनतुल्य वर्णन किया है। यथा :—

> भक्त्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्या कृत्रिमाऽकृत्रिमा सदा।
> यतस्तद्गुणसंकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिनः ॥ ६—४२ ॥

—धर्मसंग्रहश्रावकाचार

उर्दू के एक कवि शेख साहबने भी इस संबंधमे अच्छा कहा है: —

> उसमें है एक खुदाई का जलवा वगर ना शेख।
> सिजदा करेसे फायदा पत्थरके सामने ?

अर्थात्—परमात्माकी उस मूर्तिमें खुदाईका जलवा—परमात्माका प्रकाश और ईश्वरका भाव—मौजूद है जिसकी वजहसे उसे सिजदा— प्रणामादिक—किया जाता है; अन्यथा, पत्थरके सामने सिजदा करनेसे कोई लाभ नही था। भावार्थ, परमात्माकी मूर्तिको जो प्रणामादिक किया जाता है वह वास्तवमें परमात्माको— परमात्माके गुणोंको ही प्रणामादिक करना है, धातु-पाषाणको प्रणामादिक करना नही है। और इसलिए उसमें लाभ जरूर है। जैन-दृष्टिसे खुदाईका वह जलवा परमात्माके परम वीतरागता और शान्ततादि गुणोंका भाव है जो जैनियोंकी मूर्तियोमें साफ तौरसे झलकता और सर्वत्र पाया जाता है। परमात्माके उन गुणोको लक्ष्य करके ही जैनियोंके यहाँ मूर्तिकी उपासना की जाती है।

परमात्माकी इस परम शान्त और वीतराग मूर्तिके पूजनेमे एक बड़ी भारी खूबी और महत्त्वकी बात यह है कि, जो संसारी जीव संसारके मायाजाल और गृहस्थीके प्रपंचमे अधिक फँसे हुए हैं जिनके चित्त अति चंचल है और जिनका आत्मा इतना बलाढ्य नही है कि

जो केवल शास्त्रोमें परमात्माका वर्णन सुनकर एकदम बिना किसी नकशेके परमात्मस्वरूपका नकशा (चित्र) अपने हृदय पर खीच सके या परमात्म-स्वरूपका ध्यान कर सके, वे भी उस मूर्तिके द्वारा परमात्मस्वरूपका कुछ ध्यान और चिन्तवन करनेमें समर्थ हो जाते हैं और उसीसे आगामी दुःखों तथा पापोंकी निवृत्तिपूर्वक अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें अग्रसर होते हैं।

जब कोई चित्रकार चित्र खीचनेका अभ्यास करता है तब वह सबसे प्रथम सुगम और सादे चित्रोंपरसे, उनको देख देखकर, अपना चित्र खीचनेका अभ्यास बढाता है; एकदम किसी कठिन, गहन और गम्भीर चित्रको वह नही बना सकता। जब उसका अभ्यास बढ जाता है, तब कठिन, गहन और रंगीन चित्रोको भी सुन्दरताके साथ बनाने लगता है। और छोटे चित्रको बड़ा और बड़ेको छोटा भी करने लगता है। आगे जब अभ्यास करते करते वह चित्रविद्यामे पूरी तौरसे निपुण और निष्णात हो जाता है, तब वह चलती-फिरती, दौड़ती-भागती वस्तुओका भी चित्र बड़ी सफाईके साथ बातकी बातमे खीचकर रख देता है और चित्र-नायकको न देखकर, केवल व्यवस्था और हाल ही मालूम करके, उसका साक्षात् जीता-जागता चित्र भी अकित कर देता है। उसी प्रकार यह ससारी जीव भी एकदम परमात्मस्वरूपका ध्यान नही कर सकता—अर्थात् परमात्माका फोटो अपने हृदय पर नही खीच सकता, वह परमात्माकी परम वीतराग और शान्त मूर्तिपरसे ही अपने अभ्यासको वढ़ाता है। मूर्तिके निरन्तर दर्शनादि अभ्याससे जब उस मूर्तिकी वीतराग छबि और ध्यानमुद्रासे वह परिचित हो जाता है, तब शनै शनैः एकान्तमें बैठकर उस मूर्तिका फोटो अपने हृदयमें खीचने लगता है और फिर कुछ देर तक उसको स्थिर रखनेके लिये भी समर्थ होने लगता है। ऐसा करनेपर उसका मनोबल और आत्मबल बढ़ जाता है और फिर वह इस योग्य हो जाता है कि उस मूर्तिके मूर्तिमान श्रीअर्हन्तदेवका

समवसरणादि-विभूतिसहित साक्षात् चित्र भी अपने हृदयमें खीचने लगता है। इस प्रकारके ध्यानका नाम 'रूपस्थ ध्यान' है और यह ध्यान प्रायः मुनि-अवस्था ही मे बनता है।

आत्मीय बलके इतना उन्नत हो जानेकी अवस्थामें फिर उसको धातुपाषाणकी मूर्तिके पूजनादिकी या दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि परमात्माके ध्यानादिके लिए मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी जरूरत बाकी नही रहती, बल्कि वह रूपस्थध्यानके अभ्यासमे परिपक्व होकर और अधिक उन्नति करता है और साक्षात् सिद्धोका चित्र भी खीचने लगता है, जिसको 'रूपातीत ध्यान' कहते है। इस प्रकार ध्यानके बलसे वह अपने आत्मासे कर्ममलको छाँटता रहता है और फिर उन्नतिके सोपानपर चढता हुआ शुक्लध्यान लगाकर समस्त कर्मोको क्षय कर देता है और इस तरह अपने आत्मत्वको प्राप्त कर लेता है।

अभिप्राय इसका यह है कि, मूर्तिपूजा आत्मदर्शनका प्रथम सोपान है और उसकी आवश्यकता प्राय: प्रथमावस्था (गृहस्थावस्था) ही मे होती है। बल्कि, दूसरे शब्दोंमें, यो कहना चाहिये कि जितना जितना कोई नीचे दर्जेमें है, उतना उतना ही ज्यादा उसको मूर्तिपूजाकी या मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी जरूरत है। यही कारण है कि हमारे आचार्योंने गृहस्थोके लिये इसकी खास जरूरत रक्खी है और नित्य पूजन करना गृहस्थका मुख्य धर्म वर्णन किया है[1]।

यह तो हुई मूर्तिविशेष और जैनियोके मूर्तिपूजा-विषयक खास सिद्धान्तकी बात। अब यदि आमतौरसे मूर्तिपूजाके सिद्धान्त पर नजर डाली जाय, मूर्तिके स्वरूप पर सूक्ष्मताके साथ विचार किया जाय

---

१ दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा।
झाणज्झयण मुक्खं जइधम्मो त विणा सोवि॥ —रयणसार
देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्याय. सयमस्तप.।
दानं चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने॥ —पद्मनन्दिपचवि०

और उसके अर्थसम्बन्धमे कुछ गहरा उतरा जाय,तो मालूम होगा कि ससारकी कोई भी उपासना विना मूर्तिके नही वन सकती—मूर्तिका अवलम्बन जरूर लेना पड़ता है, चाहे यह मूर्ति सूक्ष्म हो या स्थूल। आप किसीकी प्रशंसा नही कर सकते जब तक कि मूर्तियोंका सहारा न ले लेवे। शब्द, जिनके द्वारा परमात्माकी या किसीकी भी स्तुति की जाती है, नाम लिया जाता है और गुणानुवाद गाया जाता है, वे सब मूर्तिक है, मूर्तिकसे उत्पन्न होते हैं, मूर्तिक पदार्थोंसे रोके जाते है, फोनोग्राफमे भरे जाते हैं और इसलिये एक प्रकारकी सूक्ष्म मूर्तियाँ हैं। इसी तरह शब्दोके द्योतक जो अक्षर है वे भी शब्दोकी नानाप्रकारकी आकृतियाँ है मूर्तियाँ है—जिन्हे भिन्न भिन्न देशो अथवा जातियोने अपने अपने व्यवहारके लिये कल्पित कर रक्खा है। हाथीको सस्कृतमे 'गज', प्राकृतमें 'गय', फारसीमे 'फील', अरवीमे पील', और अग्रेजीमे 'एलिफेंट' (Elephant) कहते हैं। अन्यान्य भाषाओमे उसके दूसरे नाम हैं और एक एक भाषामे कई कई नाम भी है—जैसे सम्कृतमें इभ, करी इत्यादिक—और ये सब नाम अनेक लिपियोमें भिन्न भिन्न प्रकारसे लिखे जाते है। इन शब्दरूप मूर्तियोंके कानोसे टकराने पर या अक्षररूप मूर्तियोंके नेत्रोके सामने आने पर जब हाथी नामके एक विशाल जन्तु (जानवर) का वोध होता है तो वह हाथीकी साक्षात् (तदाकार) मूर्तिको देखनेपर उससे कही अधिक हो सकता है और होता है। हाथीके नामसे हाथीका सामान्य ज्ञान ही होता है, परन्तु उसकी तदाकार मूर्तिके देखनेसे रङ्ग-रूप और आकार-प्रकारादिका वहुत कुछ हाल मालूम हो जाता है। यही दोनोमे विशेष है, और इसी विशेषकी वजहसे आजकल विद्वान् लोग शिक्षालयोमे भी चित्रो और मूर्तियोके द्वारा वालकोको शिक्षा देना ज्यादा पसन्द करने लगे हैं।

परमात्माके सम्बन्धमे भी यही सब वाते समझ लेनी चाहिएँ। परमात्माके ईश्वर, परब्रह्म, अल्ला, ख़ुदा, गौड (God) आदि

नामोंके उच्चारण करनेसे अथवा इन नामोंको किसी लिपिविशेषमे लिखकर सामने रखनेसे इन उभय प्रकारकी (शब्द-अक्षर-रूपवाली) मूर्तियोंके द्वारा यदि परमात्माका बोध होता है तो परमात्माकी तदाकार मूर्ति - उसकी जीवन्मुक्तावस्थाकी आकृति—के देखनेसे वह बोध और भी ज्यादा स्पष्ट होता है। यदि यह कहा जाय कि ऐसी मूर्तिके द्वारा परमात्माका कुछ बोध ही नही होता तो वह शब्दो और अक्षरोंके द्वारा बिल्कुल नही होता, यह कहना चाहिए, क्योंकि वे भी मूर्तियाँ है और अतदाकार मूर्तियाँ है। जब तदाकार मूर्तियोसे ही, जो कि ज्यादा विशद होती है, अर्थावबोध नही होता तो फिर अतदाकार मूर्तियोंसे वह कैसे हो सकता है ? अत उक्त कथन ठीक नही है । इसी तरह यह समझना चाहिए कि परमात्माका नाम लेनेसे, शब्दो-द्वारा परमात्माकी स्तुति करनेसे—परमात्मने नम, ईश्वराय नमः, परब्रह्मणे नमो नम., ॐ नमः, णमो अरहंताणं, अल्हम्दोलिल्ला[1] इत्यादि मन्त्रोके उच्चारण करनेसे—या ॐ आदि अक्षरोंकी आकृति सामने रखकर ध्यान करनेसे यदि किसी पुण्य-फलकी प्राप्ति होती है तो वह तदाकार मूर्तिपरसे परमात्माका चिन्तन करनेसे भी जरूर होती है और ज्यादा हो सकती है। ऐसी हालतमें जो लोग परमात्माकी शब्दो और अक्षरोमे स्थापना करके उन अतदाकार मूर्तियोके द्वारा उसकी उपासना करते है उन्हे परमात्माकी तदाकार मूर्तियाँ बनाकर उपासना करनेवालोपर आक्षेप करनेकी जरूरत नही है और न वैसा करनेका कोई हक ही है, क्योकि वे स्वय ही मूर्तियो द्वारा—बल्कि अस्पष्ट मूर्तियो द्वारा - परमात्माकी उपासना करते है और उससे शुभ फलका होना मानते है। वास्तवमें यदि देखा जाय तो कोई भी चिन्तन अथवा ध्यान बिना मूर्तिका सहारा लिये नही बन सकता और न निराकारका ध्यान ही हुआ करता है।

प्रत्येक ध्यान अथवा चिन्तनके लिये किसी न किसी मूर्ति या आकार-विशेषको अपने सामने रखना होता है, चाहे वह नेत्रोंके सामने हो अथवा मानसप्रत्यक्ष। इसी अभिप्रायको हृदयमे रखकर प० मंगत-रायजीने ठीक कहा है—

अबस यह जैनियों पर इत्तहामे बुतपरस्ती है।
बिना तसबीरके हरगिज़ तसव्वर हो नहीं सकता ॥

अर्थात्—जैनियो पर बुतपरस्तीका—मूर्तिपूजाविषयक—जो इलजाम लगाया जाता है—यह कहा जाता है कि वे धातुपाषाणके पूजनेवाले है—वह बिल्कुल व्यर्थ और निःसार है, क्योकि कोई भी तसव्वर—कोई भी ध्यान अथवा चिन्तन—बिना तसवीरके—बिना मूर्ति या चित्रका सहारा लिये—नही बन सकता। भावार्थ, ध्यान तथा चिन्तनकी सभीको निरन्तर ज़रूरत हुआ करती है, इसलिए सभीको मूर्तियोका आश्रय लेना पड़ता है और इस दृष्टिसे सभी मूर्ति-पूजक है। तब, जैनियोपर ही कैसे उसका दोष मढ़ा जा सकता है? उन्हें, इस विषयमे दोष देना बिल्कुल फजूल और निर्मूल है। वे अपनी मूर्तियोके द्वारा परमात्माका ही ध्यान तथा चिन्तन किया करते है।

इसलिए जो लोग मूर्तिपूजाका निषेध करते है, मूर्तिको जड, अचेतन, कृत्रिम बतलाकर और यह कहकर कि वह हमारा कुछ भला नही कर सकती उससे घृणा उत्पन्न कराते हैं, यह सब उनकी बड़ी भारी भूल है। वे खुद बात बातमें मूर्तिका सहारा लिया करते हैं, मूर्तियोका आदर-सत्कार करते हुए देखे जाते है[1] जड पदार्थोंके पीछे भटकते है, उनके लिए अनेक प्रकारकी दीनताएँ करते हैं, संसार-

---

१ वेदादि शास्त्रोका विनय और अपने महात्माओके चित्रोकी इज्जत करते हैं तथा परमात्माके नामादिकोको बडी भक्तिके साथ उच्चारण करते हैं।

मे उनका कोई भी काम जड पदार्थोकी सहायताके बिना नही होता, वे अपने चारों ओर जड तथा कृत्रिम पदार्थोंसे घिरे रहते है और उनसे नाना प्रकारके काम निकाला करते है जड तथा कृत्रिम गाली-को सुनकर उन्हे रोष हो आता है, और वे यह भी खूब जानते है कि इस जगत्का सम्पूर्ण कार्य-व्यवहार प्राय. जड तथा कृत्रिम मूर्तियोकी सहायतासे ही चल रहा है, इतनेपर भी उनका मूर्तको जड तथा कृत्रिम बतलाकर उससे घृणा उत्पन्न करना कहाँ तक ठीक है, इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते है। वास्तवमें यह सब साम्प्रदायिक मोह, आपसकी खीचातानी तथा पक्षपातका नतीजा है और तात्त्विक दृष्टिसे इसे कुछ भी महत्त्व नही दिया जा सकता। अथवा यो कहना चाहिए कि ऐसे लोगोको मूर्तिका रहस्य मालूम नही है, उन्हे यह खबर ही नही कि ऐसा कोई भी मनुष्य संसारमें नही हो सकता जो मूर्तिका उपासक न हो अथवा परमात्माकी उपासनामें मूर्तिकी सहा-यता न लेता हो, और इसलिये उन्हें ऊपरके इस सम्पूर्ण कथनसे मूर्तिका रहस्य खूब समझ लेना चाहिये और यह जान लेना चाहिए कि इन स्थूल मूर्तियोकी पूजाका कोई दूसरा उद्देश्य नही है, इनके द्वारा परमात्माकी ही उपासना की जाती है। ये परमात्माके प्रतिरूप हैं, प्रतिबिम्ब है और इसीलिये इन्हे प्रतिमा भी कहते है। बुद्धिमान् लोग इनमें परमात्माका दर्शन अथवा इनके सहारेसे अपनी आत्माका अनुभवन किया करते है, जैसा कि इस निबधके शुरूमे प्रकट किया गया है। नीचेके एक पद्यसे भी पाठकोको ऐसा ही मालूम होगा, जिसमें कवि मैथिलीशरणजीने उन भावोको चित्रित किया है जो इस विषयसे एक सामतके हृदयमे उस समय उदित हुए थे जब कि उसके देशके किलेकी मूर्ति बनाकर एक राणाके द्वारा, अपनी प्रतिज्ञा[1]

---

१ प्रतिज्ञा, जो सहसा क्रोधके आवेशमे बिना सोचे समझे की गई थी यह थी कि जब तक उस देशके किलेको नही तोड डालूंगा तब तक

पूरी करनेके अभिप्रायसे, तोड़ी जा रही थी और जिसे उस सामन्तने अपने उन भावोंके अनुसार तोड़ने नही दिया था बल्कि उसके लिये राणासे युद्ध किया था। वह पद्य इस प्रकार है :—

तोडने दूँ क्या इसे नकली किला मैं मानके ?
पूजते हैं भक्त क्या प्रभुमूर्तिको जड जानके ?
अज्ञ जन उसको भले ही जड कहें अज्ञानसे।
देखते भगवानको धीमान उसमे ध्यानसे ॥

—रङ्गमे भग

इससे पाठक मूर्तिपूजाके भावोंको और भी स्पष्टताके साथ अनुभव कर सकते है, और यह समझ सकते है कि इन मूर्तियोके द्वारा परमात्माका ही पूजना अभीष्ट होता है—धातुपाषाणका नही। मूर्तिका विनय-अविनय, वास्तवमे मूर्तिमानका ही विनय-अविनय है। और यही वजह है कि जो कोई किसी महात्मा, परमात्मा, राजा या महाराजाकी लोकमें सम्प्रतिष्ठित मूर्तिका अविनय करता है वह दडका पात्र समझा जाता है और उसे, प्रमाणित होने पर, दड दिया भी जाता है।

यह ठीक है कि, धातुपाषाणकी ये मूर्तियाँ हमें कुछ देती-दिलाती नही हैं और इनसे ऐसी आशा रखना इनके स्वरूपकी अनभिज्ञता प्रकट करना है, तो भी परमात्माकी स्तुति आदिके द्वारा शुभ भावोको उत्पन्न करके हम जिस प्रकार अपना बहुत कुछ हित साधन कर लेते हैं उसी प्रकार इन मूर्तियोकी सहायतासे भी हमारा बहुत कुछ काम निकल जाता है। मूर्तियोंके देखनेसे हमे परमात्माका स्मरण होता है

अन्न जल नही ग्रहण करूँगा। परन्तु सेना सजाकर वहाँ तक पहुँचने आदिके लिये कितने ही दिनोकी जरूरत थी और उस वक्त तक भूखा नही रहा जा सकता था, इसलिये प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये मंत्रियो द्वारा मूर्तिको तोडनेकी योजना कीगई थी।

और उससे फिर आत्मसुधारकी ओर हमारी प्रवृत्ति होने लगती है। यह सब कैसे होता है, इसे एक उदाहरणके द्वारा नीचे स्पष्ट किया जाता है :—

कल्पना कीजिये, एक मनुष्य किसी स्थानपर अपनी छतरी भूल आया। वह जिस समय मार्गमें चला जा रहा था, उसे सामनेसे एक दूसरा आदमी आता हुआ नजर पड़ा, जिसके हाथमें छतरी थी। छतरीको देखकर उस मनुष्यको झटसे अपनी छतरी याद आ गई और यह मालूम हो गया कि मै अपनी छतरी अमुक जगह भूल आया हूँ और इसलिये वह तुरन्त उसके लानेके लिये वहाँ चला गया और ले आया। अब यहाँपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस मनुष्यको किसने बताया कि तू अपनी छतरी अमुक जगह भूल आया है। वह दूसरा आदमी तो कुछ बोला नही, और भी किसी तीसरे व्यक्तिने उस मनुष्यके कानमें आकर कुछ कहा नही। तब क्या वह जड छतरी ही उस मनुष्यसे बोल उठी कि तू अपनी छतरी भूल आया है ? परन्तु ऐसा भी कुछ नही है, फिर भी यह ज़रूर कहना होगा कि उस मनुष्यको अपनी छतरीके भूलनेकी जो कुछ खबर पड़ी है और वहाँसे लानेमे उसकी जो कुछ प्रवृत्ति हुई है उन सबका निमित्त कारण वह छतरी है, उस छतरीसे ही उसे यह सब उपदेश मिला है और ऐसे उपदेशको 'नैमित्तिक उपदेश' कहते है। यही उपदेश हमें परमात्माकी मूर्तियोपरसे मिलता है। जैनियोंकी ऐसी मूर्तियाँ ध्यानमुद्राको लिये हुए परमवीतराग और शान्त-स्वरूप होती है। उन्हें देखनेसे बड़ी शान्ति मिलती है, आत्मस्वरूपकी स्मृति होती है—यह खयाल उत्पन्न होता है कि हे आत्मन्! तेरा स्वरूप तो यह है तू इसे भुलाकर संसारके मायाजालमें और कषायोके फन्देमे क्यों फँसा हुआ है ? नतीजा जिसका यह होता है कि, (यदि बीचमे कोई बाधा उत्पन्न नही होती तो) वह व्यक्ति यमनियमादिके द्वारा अपने आत्मसुधारके मार्गपर लग जाता है। यह दूसरी बात है कि कोई

मनुष्य नेत्रहीन (विवेकरहित) हो और उसे मूर्तिरूपी दर्पणमे परमात्माका जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह दिखलाई ही न देता हो, अथवा उसका हृदय दर्पणके समान स्वच्छ न होकर मिट्टीके उस ढेलेके सदृश हो जो प्रतिबिम्ब (उपदेश) को ग्रहण ही नही करता और या इतना निर्बल हो कि उसे ग्रहण करके फिर शीघ्र छोड़ देता हो, और इस तरह अपने आत्माके सुधारकी ओर न लग सकता हो; परन्तु इसमे मूर्तिका कोई दोप नही, न इन बातोसे मूर्तिकी उपयोगिता नष्ट होती है और न उसकी हितोपदेशकतामे ही कोई बाधा आती है। ऐसी परम हितोपदेशक मूर्तियाँ, नि सन्देह, अभिवन्दनीय ही होती है। इसीसे एक आचार्यमहोदय उनका निम्नप्रकारसे अभिवादन करते है·

कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मीं परया शांततया भवान्तकानाम्।
प्रणमामि विशुद्धये जिनाना प्रतिरूपाण्यभिरूपमूर्तिमंति ॥
—क्रियाकलाप

अर्थात्—संसारसे मुक्त श्रीजिनेन्द्रदेवकी उन तदाकार सुन्दर प्रतिमाओंको मैं, अपनी आत्मशुद्धिके लिये, प्रणाम करता हूँ, जो कि अपनी परम शान्तताके द्वारा ससारी जीवोको कषायोंकी मुक्तिका उपदेश देती है।

इससे स्पष्ट है कि जिनेन्द्र-प्रतिमाओकी यह पूजा आत्मविशुद्धिके लिये की जाती है और जो काम आत्माकी शुद्धिके लिये—आत्माकी विभाव-परिणतिको दूर कर उसे स्वभावमे स्थित करनेके उद्देश्यसे—किया जाता हो वह कितना अधिक उपयोगी है इस बातको बतलानेकी ज़रूरत नही, विज्ञ पाठक उसे स्वय समझ सकते है और ऊपरके इस सम्पूर्ण कथनसे मूर्तिपूजाकी उपयोगिताको बहुत कुछ अनुभव कर सकते है।

विरोधका रहस्य

हाँ, जब मूर्तिपूजा इतनी अधिक उपयोगी चीज है तब कभी कभी

समाजके साक्षर व्यक्तियोके द्वारा – ऐसे विद्वानोके द्वारा भी जो अनेक बार बड़ी प्रबल युक्तियों और जोरोके साथ मूर्तिपूजाका मंडन कर चुके हों—इस समूची उपासना या इसके किसी एक अंगका विरोध क्यों होने लगता है ? यह एक प्रश्न है जो नि:सन्देह विचारणीय है। हमारी रायमें इसका सीधा सादा उत्तर यही हो सकता है कि, जब उपासना अपने उद्देश्योंसे गिर जाती है, अथवा लक्ष्यसे भ्रष्ट और आदर्शसे च्युत होकर कोरी बुतपरस्ती रह जाती है, उसमे भाव नही रहता वह प्राय प्राणरहित हो जाती है - उसके लिये किरायेके आदमी रखनेकी नौबत आ जाती है, उपासनाके नामपर समाजमें सूखा क्रियाकाड फैल जाता है, उसकी तहमें अनेक प्रकारके अत्याचारोंकी वृद्धि होने लगती है, उसमें व्यर्थके आडम्बर बढ़ जाते है और समाजकी शक्तिका दुरुपयोग होने लगता है, तब वह उपासना तात्त्विक दृष्टिसे उपयोगी होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टिसे उपयोगी नही रहती और इसलिये उसका विरोध प्रारम्भ हो जाता है। विरोध करनेवालोका मुख्य उद्देश्य उस समय प्राय. यही होता है कि, यदि समाजकी इस उपासनामें कुछ भी प्राण अवशिष्ट है तो उसे संजीवित किया जाय,' अनेक प्रकारके उपायों द्वारा–उपासना-तत्त्वकी पुटे देकर—उसमें अधिक प्राणका संचार किया जाय, और यदि प्राण बिल्कुल नही रहा है और न फिरसे उसका सचार हो सकता है तो उसके साथ उस मृतकशरीर-जैसा व्यवहार किया जाय जो अत्यन्त प्यारा और उपयोगी होते हुए भी प्राणरहित हो जानेपर घरमें नही रक्खा जा सकता। अथवा यो कहिये कि अपने विरोधके द्वारा वे यही सूचित करते है कि, उपासनाके शरीरमें अमुक अमुक खराबियाँ उत्पन्न हो गई हैं—उसके ढंग बिगड गये है—उन्हे शीघ्र दूर किया जाय—सुधारा जाय–नही तो समूचे शरीरके नष्ट हो जानेका भय है, या शरीरका अमुक अङ्ग गल गया है उसका यदि प्रतिकार नही हो सकता तो उसे अलग कर दिया जाय, नही तो उसके संसर्गसे दूसरा

अङ्ग भी खराब हो जायगा, इत्यादिक। जब समाजकी तरफसे इस विरोधकी कुछ सुनाई नही होती, बल्कि उलटी खीचातानी बढ जाती है—समाज अपने दोषोपर विचार नही करता और न अपनी उपासनामें जीवन-सचार करनेका कोई उपाय करता है, बल्कि उसे ज्योका त्यो अस्वस्थ दशामें ही रखना चाहता है और इस तरह उसकी हालत खराबसे खराबतर (ज्यादा खराब) होने लगती है—तब विरोध अपना उग्ररूप धारण कर लेता है और उसके कारण हेयादेयका विचार नष्ट होकर, उपासनाके उन अच्छे अच्छे स्वस्थ अंगोको भी धक्का पहुँच जाता है जिनको धक्का पहुँचाना विरोधकारियोको कभी इष्ट नही होता, और इस तरह एक अच्छी और उपयोगी संस्था समाजके दोषसे बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है और भावी संतति उसके समुचित लाभोसे वंचित ही रह जाती है'[1]।

उपसंहार

इसलिये, समाजके व्यक्तियोका यह खास कर्तव्य है कि वे उपासनाके तत्त्वको अच्छी तरहसे समझकर अपनी उपासनाके प्रत्येक अङ्ग और ढंगकी जाँच करे, और रूढियोके मोहको जलाञ्जलि देकर उन्हे बिल्कुल उपासना-तत्त्वके अनुकूल बना लेवे। ऐसा हो जानेपर समाजके फिर किसी भी समझदार व्यक्तिको उनकी इस उपासना पर आपत्ति करनेकी कोई वजह नही रह सकती।

समाज-हितैषियोको समाजमे इस उपासना-तत्त्वके फैलाने, शिक्षा-संस्थाओमे पढ़ाए जाने और इसके अनुकूल समाजकी प्रवृत्ति करानेका खास तौरसे यत्न करना चाहिए। इसीमे समाजका हित और इसीमे समाजका कल्याण है और इसी हितसाधनाकी दृष्टिसे यह निबन्ध लिखा गया है।

---

१. जैनियोमे स्थानकवासी और तारनपन्थी जैसे सम्प्रदाय ऐसे ही विरोधके परिणाम है।

१५

उपासनाका ढंग

आजकल हमारी उपासना बहुत कुछ विकृत तथा सदोष हो रही है और इसलिये समाजमें उपासनाके जितने अंग और ढंग प्रचलित है उनके गुण-दोषों पर विचार करनेकी बड़ी जरूरत है। उन पर स्वतंत्रताके साथ अनेक लेख लिखे जा सकते है। एक बार 'नौकरोंसे पूजन कराना' नामका लेख अपने-द्वारा लिखा भी गया था। इस समय उपासनाके ढंग-सम्बन्धमें संकेतरूपसे इतना ही कह देना काफी होगा कि, उपासनाका वही सब ढग उपादेय है जिससे उपासनाके सिद्धान्तमें—उसके मूल उद्देश्योमें—कुछ बाधा न पड़ती हो। उसका कोई एक निर्दिष्टरूप नही हो सकता। भगवान जिनेंद्रदेवने भी, अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा उसका कोई एक रूप निर्दिष्ट नही किया। बल्कि, उन्होने यह भी नही कहा कि तुम मेरी उपासना करना, मेरी मूर्ति बनाना और मेरे लिये मदिर खड़ा करना। यह सब मंदिर-मूर्तिका निर्माण और उपासनाके लिये तरह तरहके विधि-विधानोका अनुष्ठान स्वय भक्तजनो-श्रावकोके द्वारा अपनी अपनी भक्ति तथा शक्ति आदिके अनुसार कल्पित किया गया है, और जो समय पाकर रूढ होता गया; जैसा कि श्रीमत्पात्रकेसरी स्वामीके निम्न वाक्यसे ध्वनित है—

> विमोक्षसुख-चैत्य-दान-परिपूजनाद्यात्मिकाः
> क्रियाः बहुविधा सुभृन्मरण-पीडना-हेतवः।

त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिता: किन्तु ता-
स्त्वयि प्रसृतभक्तिभि स्वयमनुष्ठिता. श्रावकैः[१] ॥
- पात्रकेसरिस्तोत्र

और इसलिये उपासनाके जो विधिविधान आज प्रचलित हैं वे बहुत पहले प्राचीन समयमे भी प्रचलित थे ऐसा नही कहा जा सकता। उनमे देश-कालानुसार बराबर परिवर्तन होता रहा है। आज भी संपूर्ण देशोमें और सपूर्ण सम्प्रदायोमें एक ही प्रकारकी उपासना-विधि नही पाई जाती। जैनियोमें तेरह और बीसपंथका भेद बहुत ही स्पष्ट है और वह बहुत कुछ आधुनिक है। एक समय था जब कि जैनाचार्य वचन और शरीरको अन्य व्यापारोंसे हटाकर उन्हे अपने पूज्यके प्रति, स्तुति-पाठ करने और अजलि जोडने आदि रूपमें, एकाग्र करनेको 'द्रव्यपूजा' और उसी प्रकारसे मनके एकाग्र करनेको 'भावपूजा' मानते थे; जैसा कि श्रीअमितगति आचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

वचोविग्रह-संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते ।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥ (उपासकाचार)

इसके बाद वह समय भी आया जब कि देशमे नैवेद्य, दीप, धूप और फल-पुष्पादिकके द्वारा देवताओकी पूजाने जोर पकड़ा और वही द्रव्यपूजा कहलाई जाने लगी। हिन्दू देवताओंके सदृश जिनेंद्र-देवोंका भी आवाहन और विसर्जनादिक होने लगा, और (जैनसि-

---

१. इसमे बतलाया है कि 'विमोक्ष-सुखके लिये चैत्य-चैत्यालया-दिकका निर्माण, दानका देना, पूजनका करना, इत्यादि रूपसे जितनी क्रियाएँ है और जो अनेक प्रकारसे त्रस-स्थावर प्राणियोके मरण तथा पीडनकी कारणीभूत है उन सब क्रियाओका हे केवलज्ञानी भगवान! आपने उपदेश नही दिया, वल्कि आपके भक्तजन श्रावकोने स्वय ही (आपकी भक्ति आदिके वश) उनका अनुष्ठान किया है।'

द्धांतोंके प्रतिकूल भी) यह समझा जाने लगा कि वे भी बुलानेसे आते, बिठलानेसे बैठते, ठहरानेसे ठहरते और पूजनके बाद रुखसत करने पर अपना यज्ञ-भाग लेकर चले जाते है,जैसा कि पूजनके 'अत्र अवतर अवतर तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ' इत्यादि पाठो और विसर्जनके निम्न पाठसे प्रगट है—

[1]'आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रम।
ते मयाऽभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम् ॥

ऊपरकी यह बात जैनसिद्धान्तोंके अनुकूल न होते हुए भी समाजमें प्रचलित हो गई और किसी प्रकारसे उपासनाका एक अंग बन गई। अस्तु, अब मदिरोको लीजिये। मंदिरोके निर्माण करनेमे मूर्तिकी रक्षा आदिके सिवाय 'लोकसंग्रह' का गहरा तत्व छिपा हुआ था, जिसे बादको लोगोने भुला दिया और अपनी अपनी मान-कषाय, नामवरीकी इच्छा या कुछ सुभीते आदिके खयालसे विना जरूरत भी एक स्थानपर बहुतसे मंदिरोके निर्माण-द्वारा संघशक्तिको बाँटकर—उसके टुकड़े टुकड़े करके—उक्त तत्त्वकी उपयोगिताको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसी तरह मंदिरोंमें छोटी छोटी मूर्तियोंकी समूह-वृद्धिने उपासकोके हृदयमे यह खलबली उत्पन्न कर दी कि वे कितने समयमें किस किस मूर्तिकी उपासना करे, किसका ध्यान लगावे और किस परसे परमात्माका चिन्तन करे। अतः ऐसे स्थानो पर दो एक शब्दोंको बुड़बुड़ाने और आगे सरकनेका ही काम रह गया, मूर्ति परसे परमात्माके ध्यान और चिन्तनकी बात प्रायः जाती रही। साथ

---

१. इस पद्यमे विसर्जन करते हुए कहा गया है कि 'जिन जिन देवो-को मैंने पहले बुलाया है वे सब भक्तिपूर्वक मेरे द्वारा पूजे जाने पर अब अपने अपने यज्ञ-भागको लेकर क्रमसे अपने अपने स्थान जाओ'।

यह पद्य भी जैनेतर-हिन्दू-पूजापद्धतिका पद्य है, जो किसी तरह अपनी पूजापद्धतिमे शामिल होगया है।

ही मूर्तियोकी माग बढनेसे उनकी निर्माण-विधिमे शिथिलता आगई।
पहले मूर्ति वनानेवाला और वनवानेवाला दोनों मूर्तिके तैयार होने
तक जिस यम-नियमादिके साथ रहते थे और जिस विधिविधानके
साथ पाषाणको उसकी खानसे जाकर लाते थे वह सव वात उठ
गई, शिल्पियोकी दुकाने खुल गई जिनमे हर समय मूर्तियाँ तैयार
मिलने लगी और लोभी प्रतिष्ठाचार्य कुछ दक्षिणा लेकर या वैसे ही
अपने अज्ञानादि भावोसे प्रेरित होकर उन्हें पास करने लगे। नतीजा
जिसका यह हुआ कि उपासनामे वह भाव नही रहा जो होना चाहिये
था और कितने ही स्थानोंपर ऐसी वेडौल, भद्दी तथा अशास्त्रसम्मत
मूर्तियां भी पाई जाने लगी जिन्हे देखकर ध्यान जमनेके वजाय
उलटा उखड़ जाता है।

जैनियोंके मदिर, पहले आमतौर पर, वहुत कुछ सादा और
आडम्वररहित होते थे और उनमें उपासनाके उद्देश्योंकी सहायक
तथा साम्य-भावकी पोषक सामग्री ही विशेष रहा करती थी। परंतु
जव देशके दूसरे समाजोंके मंदिरोमे आडम्बरोकी वृद्धि हुई, शान-
शौकत अथवा राजसी ठाठ-वाटोने अपना रंग जमाया, उनमे अनेक
प्रकारके रास, नाटक, खेल, तमाशे होने लगे और उन्हे देखनेके लिये
जैनी भी खिच-खिच कर वहाँ जाने लगे, तव जैनियोंके मंदिरोका भी
नक्शा वदल गया, उनमे भी गाने वजाने और नाचनेका सामान
जोडा गया, आपसमे एक दूसरेसे मुकावला होने लगा और प्रतिस्पर्धा
वढ गई। साथमे, कुछ अदूरदृष्टता भी शामिल हो गई। नतीजा
इस सवका यह हुआ कि उपासनाका भाव दिन पर दिन कम होता
गया, कोरी नुमायश, लोक-दिखावा और रूढिका पालन रह गया
और उसने वीतराग भगवानकी उपासनाके लिये भी नौकरोंकी जरूरत
उपस्थित करदी !! मदिरोंकी सजावट उस वक्तसे आज तक इतनी
वढ गई है कि उसके कारण दर्शकोंका मन मूर्तिके वीतराग-भावको
ग्रहण करनेकी ओर वहुत ही कम प्रवृत्त होता है, उसे अवसर ही

नही मिलता, वह इधर उधरके सुनहरे कामों और रागवर्धक चित्रो-में ही उलझा रहता है।

पूजन-साहित्यका भी ऐसा ही हाल है। वह भी इसी चक्करमे पड़कर बहुत कुछ बदल गया है। पुराने ग्रन्थ इस विषयमें आजकल बहुत ही कम उपलब्ध हैं और जो मिलते है उनके और आधुनिक पूजा-ग्रन्थोंके भावोमे बहुत बडा अन्तर है। प्राचीन भक्ति-पाठोका प्रचार भी अब बहुत ही कम देखनेमें आता है। आजकल वे ही पूजा-पुस्तक ज्यादा पसंद की जाती है जो अपनी छन्द-सृष्टिकी दृष्टिसे गाने-बजानेमें अधिक उपयोगी होती है। चाहे उनका साहित्य और उसमें उपासनाका भाव कितना ही घटिया क्यो न हो, लोगोंका ध्यान प्रायः स्वर, ताल और लयकी ओर ही विशेष रहता है, अर्थविबोधके द्वारा परामात्माके गुणोंमे अनुराग बढ़ानेकी ओर नही। और भी कितनी ही बातें है जो स्वतंत्र लेखों-द्वारा ही प्रगट की जा सकती है। विज्ञपाठक इतने परसे ही समझ सकते है कि हमारी उपासनाका ढंग समय-समयकी हवाके झकोरोसे कितना बदल गया है। उसके बदलनेमे कोई हानि न थी, यदि वह उपासना-तत्त्वके अनुकूल बना रहता। परतु ऐसा नही है, वह कितने ही अशोमें उपासनाके मूल सिद्धान्तो तथा उद्देश्योसे गिर गया है, और इसलिये इस समय उसको संभालने उठाने तथा उद्देश्यानुकूल बनाकर उसमे फिरसे नव-जीवनका संचार करनेकी बड़ी जरूरत है। समाजहितैषियोंको चाहिए कि वे इस विषयमे अपना मौन भग करे अपनी लेखनी उठाएँ, जनता-को उपासना-तत्त्वका अच्छा बोध कराते हुए उसकी उपासनाविधिके गुण-दोषोंको बतलाएँ—सम्यक् आलोचना-द्वारा उन्हे अच्छी तरहसे व्यक्त और स्पष्ट करे—और इस तरह उपासनाके वर्तमान ढगमे समुचित सुधारको प्रतिष्ठित करनेके लिये जी-जानसे प्रयत्न करे। ऐसा होनेपर समाजके उत्थानमे बहुत कुछ प्रगति हो सकेगी।

१६

देशकी वर्तमान परिस्थिति और हमारा कर्त्तव्य

(अंग्रेजी राज्यकालसे सम्बद्ध)

आजकल देशकी हालत बहुत ही नाजुक हो रही है। वह चारों ओर अनेक प्रकारकी आपत्तियोसे घिरा हुआ है। जिधर देखो उधर-से ही बड़े बड़े नेताओ और राष्ट्रके सच्चे शुभचिन्तकोकी गिरफ्तारी तथा जेल-यात्राके समाचार आ रहे है। एक विकट संग्राम उपस्थित है। सरकार (नौकरशाही) पूरे तौरसे दमन पर उतर आई है और लक्षणोंसे ऐसा पाया जाता है कि वह भारतीयोकी इस बढ़ती हुई महत्वाकाक्षा (स्वराज्यप्राप्तिकी इच्छा) को दबाने और उनके सपूर्ण न्याय्य विचारोको कुचल डालनेके लिये सब प्रकारके अत्याचारोको करने कराने पर तुली हुई है। वह देशके इस महाव्रत (अहिंसा-शाति) को भंग कराकर उसे और भी ज्यादा पददलित करना और गुलामीकी जजीरोसे जकडना चाहती है और इसके लिये बुरी तरह-से उन्मत्त जान पड़ती है। इस समय सरकारका असली 'नग्न' रूप बहुत कुछ स्पष्ट दिखाई देने लगा है और यह मालूम होने लगा है कि यह भारतकी कहाँ तक भलाई चाहनेवाली है। जो लोग पहले ऊपरके मायामय रूपको देखकर या बुरकेके भीतर रूपराशिकी कल्पना करके ही उस पर मोहित थे, वे भी अब पर्दा (नकाब) उठ जाने तथा आच्छादनोके दूर हो जानेसे नग्न रूपके दर्शन करके,

अपनी भूलको समझने लगे है और यह देशके लिये बडा ही शुभ चिन्ह है।

यह देशकी अग्नि-परीक्षाका अथवा उससे भी अधिक किसी दूसरी कठिन परीक्षाका समय है। और इसी अन्तिम परीक्षा पर भारतका भविष्य निर्भर है। यदि हम इस परीक्षामें उत्तीर्ण हो गये—सब कुछ कष्ट सहन करके भी हमने शाति बनाये रक्खी और किसी प्रकारका कोई उपद्रव या उत्पात न किया तो स्वराज्य फिर हाथमें ही समझिये, उसके लिये एक कदम भी आगे बढानेकी जरूरत न होगी। और यदि दुर्भाग्यसे हम इस परीक्षामे पास न हो सके—हमने हिम्मत हार दी—तो फिर हमारी वह दुर्गति बनेगी और हमारे साथ वह बुरा सलूक किया जायगा कि जिसकी कल्पना मात्रसे शरीरके रोगटे खड़े हो जाते है। उस समय हम गुलामोसे भी बदतर गुलाम ही नही होगे बल्कि 'जिन्दा दरगोर'' होगे और पशुओसे भी बुरा जीवन व्यतीत करनेके लिये बाध्य किये जायँगे। और इस आपत्तिके स्थायी पहाड़का सपूर्ण बोझ उन लोगोकी गर्दन पर होगा और वे देशके द्रोही समझे जायँगे जो इस समय देशका साथ न देकर ऐसी परिस्थितिको लानेमें किसी न किसी प्रकारसे सहायक बनेगे।

देशकी किश्ती (नौका) इस समय भँवरमे फँसी हुई है और पार होनेके लिये संयुक्त बलके सिर्फ एक ही धक्केकी प्रतीक्षा कर रही है। ऐसी हालतमे वह भँवरमें क्यो फँसी, गहरे जलमे क्यों उतारी गई और क्यो भँवरकी ओर खेई गई, इस प्रकारके तर्क-वितर्कका या किसीके शिकवे-शिकायत सुननेका अवसर नही है। पार होनेके लिये उसे गहरे जलमे उतरना ही था, दूसरा मार्ग न होनेसे भँवरकी ओर उसका खेया जाना अनिवार्य था और इसलिये भँवरमे फँसना भी उसका अवश्यम्भावी था, यही सब सोच समझकर अब हमे अपने

सयुक्त बलके द्वारा उसे भँवरसे निकाल कर पार लगाना चाहिए। और इसलिये प्रत्येक भारतवासीका इस समय यह मुख्य कर्तव्य है कि वह देशकी वर्त्तमान परिस्थितिको समझकर उससे देशको उबारने और ऊँचा उठानेका जी-जानसे यत्न करे। उसे अपने क्षणिक सुखोपर लात मारकर भारतमाताकी सेवामें लग जाना चाहिए और माताको पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करानेके लिए उस महामंत्रका आराधन करना चाहिए जिसे महात्मा गांधीजीने अपने दिव्य-ज्ञानके द्वारा मालूम करके एक अमोघ शस्त्रके रूपमें प्रगट किया है और जिसे भारतकी जातीय महासभा (काग्रेस) ने अपनाया ही नही बल्कि भारतके उद्धारका एकमात्र उपाय स्वीकृत किया है। और वह महामंत्र है 'असहयोग'।

हम अनेक तरीकों अथवा मार्गोसे सरकारको उसके शासन-कार्यमे जो मदद पहुँचा रहे है, उस मददसे हाथ खीच लेना और उसे बद कर देना ही 'असहयोग' है। और यह ऐसा गुरुमंत्र है कि इस पर पूरे तौरसे अमल होते ही कोई भी अन्यायी सरकार एक दिनके लिये भी नही टिक सकती। प्रजाहित-विरोधी सरकारको ठीक मार्गपर लानेके लिये इससे अच्छा दूसरा उपाय नही हो सकता। परन्तु इस पर अमल करनेवालोंको स्वयं अहिसक, अत्याचार-रहित, निष्पाप और प्रेमकी मूर्ति वन जाना होगा, तभी उन्हें सफलता मिल सकेगी। यह नही हो सकता कि हम स्वयं तो अन्याय, अत्याचार और पापकी मूर्ति वने रहें और दूसरोंके इन दोषोंको छुड़ानेका दावा करे। यदि हम खुद दूसरोंपर अन्याय और अत्याचार करते हैं तो हमें इस बातकी शिकायत करनेका कोई अधिकार नही है कि हमारे ऊपर क्यों अन्याय और अत्याचार किये जाते हैं। यदि हमारा आत्मा स्वयं पापोंसे मलिन है तो हम दूसरोंके पाप-मलको दूर करानेके पात्र नही हो सकते। इसीसे असहयोगका यह संग्राम आत्मशुद्धिका एक यज्ञ माना गया है, जिसमे हमें अपने उन संपूर्ण दोषों, त्रुटियों और कमजोरियोंकी आहुतियाँ देनी होंगी जिनसे लाभ उठाकर ही सरकार

हम पर शासन कर रही है और हमें काठकी पुतलियोंकी तरहसे नचा रही है। और यही वजह है कि कॉंग्रेसने इस महामंत्रकी साधनाके लिये, साधनोपायके तौरपर, चार मुख्य शर्तें रक्खी है, जिन्हे चार प्रकारके व्रत अथवा तप कहना चाहिए और जिनका पालन करना प्रत्येक असहयोगी तथा देशप्रेमीका प्रथम कर्तव्य है। वे चार शर्ते है १ अहिंसा-शाति, २ स्वदेशी, ३ हिन्दू-मुसलिम-एकता और ४ अछूतोद्धार। इनमे भी अहिसा तथा शाति सबसे प्रधान है और वही इस समय खसूसियतके साथ कसौटी पर चढ़ी हुई है।

हमें कसौटीपर सच्चा उतरने और वर्तमान परीक्षामे पास होनेके लिये इस वक्त देशके सर्वप्रधान नेता महात्मा गाधीकी उन उदार और महत्वपूर्ण शिक्षाओंपर पूरी तौरसे ध्यान देनेकी खास जरूरत है जो बराबर उनके पत्रों-यंग इंडिया, नवजीवन और हिन्दी नवजीवनमें प्रकाशित हो रही है। हमारा इस समय यही खास एक व्रत हो जाना चाहिए कि हम जैसे भी बनेगा, सब कुछ सहन करके शातिकी रक्षा करेंगे, सरकारकी ओरसे शॉति भग करानेकी चाहे जितनी भी उत्तेजना क्यों न दी जाय और चेष्टाएँ क्यों न की जायॅ, परन्तु हम शांतिको जरा भी भँग न होने देंगे—अपनी तरफसे कोई भी ऐसा कार्य न करेंगे जिसका लाजिमी नतीजा शाति-भँग होता हो—और बराबर अपने निर्दिष्ट मार्गमें आगेकी ओर कदम बढ़ाते हुए अमन कायम रक्खेगे। इसीमें सफलताका सारा रहस्य छिपा हुआ है।

संकटकी जो घटाएँ इस समय देश पर छाई हुई है वे सब क्षणिक है और हमारी जॉचके लिये ही एकत्र हुई जान पड़ती है। उनसे हमें जरा भी घबराना और विचलित होना नही चाहिए। मंत्रों तथा विद्याओंके सिद्ध करनेमें उपसर्ग आते ही है। जो लोग उन्हें धैर्य और शातिके साथ झेल लेते है वे ही सिद्धि-सुखका अनुभव करते है। असहयोग-मंत्र और स्वराज्य-निधिकी सिद्धिके लिये हमें भी कुछ उपसर्गों तथा संकटोंको धैर्य और शातिके साथ सहन करना होगा,

तभी हम स्वराज्य-सिद्धिके द्वारा होनेवाले अगणित लाभोंसे अपनेको भूषित कर सकेगे। विना कष्ट-सहनके कभी कोई सिद्धि नही होती।

सरकारको पहले असहयोगकी साधनामे विश्वास नहीं था। वह उसकी चर्चाको महज एक प्रकारकी बकवाद और बच्चोकासा खेल समझती थी। परतु अबतक इस दिशामे जो कुछ काम हुआ है, उससे जान पडता है कि सरकारका आसन डोल गया है और वह उसे थामनेके लिये अब बिल्कुल ही आपेसे बाहर हो गई है। उसने इस बातको भुला दिया है कि प्रजा पर ही राज्यका सारा दारोमदार (आधार) है। प्रजाको असतुष्ट रखकर उसपर शासन नही किया जा सकता और न डरा-धमकाकर किसीको सत्यकी सेवासे बाज रक्खा जा सकता है। उसकी हालत बहुत ही घबराई[1] हुई पाई जाती है और ऐसा मालूम होता है कि वह इस समय 'मरता क्या न करता' की नीतिका अनुसरण कर रही है। यही वजह है कि उसने अपनी उस घबराहटकी हालतमे मनमाने कानून बनाकर, कानूनोका मनमाना अर्थ लगाकर और मनमानी आज्ञाएँ जारी करके, देशके प्रायः सभी सेवको, शुभचिन्तको, सहायको और बड़े बड़े पूज्य नेताओ तकको बडी तेजीके साथ गिरफ्तार करना और मनमानी सजा देकर जेलमे भेज देना प्रारंभ कर दिया है। इस कार्रवाईसे सरकारकी बडी ही कमजोरी पाई जाती है और इससे उसने अपनी रही सही श्रद्धाको भी प्रजाके हृदयोसे चलायमान कर दिया है। शायद सरकारने यह समझा था और अब भी समझ रक्खा है कि इस प्रकारकी पकड़-धकड़के द्वारा वह प्रजाको भयकम्पित बनाकर और उसपर अपना अनुचित रौब जमाकर उसे अपने पथसे भ्रष्ट कर देगी, और इस तरहपर देशमे स्वराज्य तथा स्वाधीनताकी जो आग सुलग

---

१ लार्ड रीडिंगने स्वय अपनी घबराहटको स्वीकार किया है। देखो, 'वन्देमातरम्' ता० १६-१२-१९२१

रही है वह या तो एकदम बुझ जायगी और या जनता उत्तेजित होकर अशाति धारण करेगी, कुछ उपद्रव तथा उत्पात मचावेगी और तब उसे पशु-बलके द्वारा कुचल डाला जायगा। परन्तु परिणाम इन दोनोमेंसे एक भी निकलता हुआ मालूम नही होता। सरकारके निष्ठुर व्यवहार और निरपराधियोकी इस पकड़-धकड़ने उन लोगोके वज्र-हृदयको भी द्रवीभूत कर दिया है और वे भी सरकारकी इस घातक पालिसीकी निन्दा करने लगे है, जो अभी तक इस आन्दोलनमे शरीक नही थे और बिल्कुल ही तटस्थ रहते थे अथवा सरकारके सहायक बने हुए थे। स्वराज्यकी आग बुझने अथवा दबनेके बजाए (स्थानमें) और अधिकाधिक प्रज्वलित हो रही है और सरकारके इस दमनने उस पर मिट्टीका तेल छिड़कनेका काम किया है। लोगोका उत्साह बराबर बढ़ रहा है और वे स्वराज्य-सेनामे भरती होकर खुशी खुशी हजारोंकी संख्यामें झुडके झुंड जेल जा रहे है और ऐसी जेल-यात्राको अपना अहोभाग्य समझ रहे हैं, जो देशके उद्धार और उसे गुलामीसे छुड़ानेके उद्देश्यसे कीजाती है। यह सब कुछ होते हुए भी अशांतिका कही पता नही। ला० लाजपतराय, पं० मोतीलाल नेहरू, मौ० अबुलकलाम आजाद और देशबन्धु सी० आर० दास जैसे बड़े-बड़े नेताओं तथा कुछ प्रतिष्ठित महिलाओके पकड़े जाने और जेल भेजे जानेपर भी लोग शात रहे। लार्ड रीडिगने, शातिके इस यज्ञके समय, तलवारसे स्वराज्य मिलना बतलाया! और इस तरह पर, प्रकारातरसे हिसाको उत्तेजना दी। परन्तु फिर भी किसीने तलवार उठाकर हिसा करना नही चाहा और न शातिको भंग करना पसंद किया। यह सब, अधिकाशमें महा मा गाधीजीके उस महान् उपवासका फल है जो उन्होने बम्बईकी अशातिके समय धारण किया था। इस उपवासने देशवासियोके हृदयमें शाति और अहिसाकी उस ज्योतिको, जो पहले कुछ दुर्बल और कम्पित अवस्थामें थी, बहुत कुछ दृढ और बलाढ्य बना दिया है। ऐसी हालतमे यदि यह कहा

जाय कि सरकारने, इस कृत्यके द्वारा, अपने पैरमे आप ही कुल्हाडी मारी है, तो शायद कुछ अनुचित न होगा। यह इस अनुचित दमन-का अथवा इन बेजा और बेमौका सख्तियोंका ही नतीजा है जो भारतमें प्रिन्स आफ वेल्सका उतना भी स्वागत नही हो रहा है जो कि दूसरी हालतमें जरूर होता। उच्चाधिकारियोंने शायद यह सोचा था कि बड़े वडे लीडरोको जेलमे भेज देनेसे हम, जनताके द्वारा शाहजादे साहबका अच्छा स्वागत करा सकेंगे। परन्तु मामला उस-से विल्कुल उलटा निकला और वे पहली खट्टी छाछसे भी गये।

हमारी रायमे यदि सरकार सचमुच ही भारतका हित चाहने-वाली हैं, तो उसका यह कार्य बहुत ही अदूरदर्शिता और नासमझी-का हुआ हैं। इस समय सरकार अधिकार-मदसे उन्मत्त है। वह किसीकी कुछ सुनती नही और न स्वय उसे कुछ सूझ पड़ता है। तो भी प्रजाकी ओरसे वरावर शाति-जल छिडका जानेपर जव उस-का नशा उतरकर उसे होश आवेगा तो वह ज़रूर अपनी भूल मालूम करेगी और उसे अपनी वर्त्तमान कृति (कर्तूत) पर घोर पश्चा-त्ताप होगा।

परन्तु सरकारके इस चक्करमें पड़कर कही हमे भी भूल न कर बैठना चाहिए। हमे समझना चाहिए कि जिसका आसन डोलता है, वह उसके थामनेकी सभी कुछ चेष्टाएँ किया करता है। घवराया हुआ मनुष्य क्या कुछ नही कर वैठता ? और यही सव सोच समझ कर हमे अपने कर्तव्यके पालनमे बहुत ही सतर्क और सावधान रहने की ज़रूरत है। ऐसा न हो कि सरकारके किसी घृणितसे घृणित कार्य पर उत्तेजित होकर, कष्टोको सहन करनेमे कायर वनकर और इष्ट-मित्रादिकोके वियोगमे पागल होकर, हम अशाति कर वैठे और हिसा पर उतर आवे। यदि ऐसा हुआ तो सर्वनाश हो जायगा। सारी करी कराई पर पानी फिर जायगा और सरकारका काम वन जायगा, क्योंकि सरकार इस आन्दोलनको वन्द करके हमारे चुप

न बैठनेकी हालतमें, ऐसा चाहती ही है और इसीमे अपना कल्याण समझती है। परंतु हमारे लिये यह बिल्कुल ही अकल्याणकी बात होगी। हम पशुबलके द्वारा सरकारको जीत नही सकते—इस विषयके साधन उसके पास हमसे बहुत ही ज्यादा है—औरन इस प्रकारकी जीत हमें इष्ट ही है, क्योंकि वास्तवमे ऐसी जीत कोई जीत नही हो सकती। उसमें हृदयका काँटा बराबर बना रहता है। हाँ, आत्मबलके द्वारा हम उसपर जरूर विजय पा सकते है, और यही सच्ची तथा स्थायी जीत होगी। सरकार यदि पशुबलका प्रयोग करती है तो उसे करने दीजिए। हमारी नीति उसके साथ 'शठं प्रति शाठ्य'' की न होनी चाहिए—हमें पशुबलका उत्तर आत्मबलके द्वारा सहनशीलतामें देना होगा और इसीमे हमारी विजय है। हमें क्रोधको क्षमासे. अन्यायको न्यायसे, अशांतिको शांतिसे और द्वेषको प्रेमसे जीतना चाहिए,तभी स्वराज्य-रसायन सिद्ध हो सकेगी। हमारा यह स्वतंत्रताका युद्ध एक धार्मिक युद्ध है और वह किसी खास व्यक्ति अथवा जातिके साथ नही बल्कि उस शासन-पद्धतिके साथ है जिसे हम अपने लिये घातक और अपमान-मूलक समझते है। हम इस शासन-पद्धतिको उलट देना अथवा उसमे उचित सुधार करना जरूर चाहते है,परतु ऐसा करनेमे किसी जाति अथवा शासन-विभागके किसी व्यक्तिसे घृणा (नफरत) करना या उसके साथ द्वेष रखना हमारा काम नही है। हमे बुरे कामोसे जरूर नफरत होनी चाहिए परंतु बुरे कामोके करनेवालोसे नही। उन्हे तो प्रेमपूर्वक हमे सन्मार्ग पर लाना है। नफरत करनेसे वह बात नही बन सकेगी।

यदि हम किसी व्यक्तिको प्रेमके साथ समझा-बुझाकर सन्मार्ग पर नही ला सकते है तो समझना चाहिए कि इसमे हमारा ही कुछ खोट है, अभी हम अयोग्य है, और इसलिये हमे अपने उस खोट तथा अयोग्यताको मालूम करके उसके दूर करनेका सबसे पहले यत्न करना चाहिए। उसके दूर होते ही आप देखेगे कि वह कैसे सन्मार्ग

पर नही आता है । जरूर आवेगा । सच्चे भावों, सच्चे हृदयसे निकले हुए वचनों और सच्चे आचरणोंका असर हुए विना नही रह सकता । इसी वातको दूसरे शब्दोंमें यों समझना चाहिए कि यदि हम देखते है कि हमारा एक भाई विदेशी कपड़ा पहनना और विदेशी कपड़ोका व्यापार करना नही छोड़ता—उस पर आग्रह रखता है–अथवा सरकारको उसके अन्याय और अत्याचारोंमें किसी न किसी तौरपर (सेवामे रहकर या दूसरे तरीकोसे) मदद दे रहा है तो, हमे उसको एक प्रकारसे पतित अथवा अनभिज्ञ समझना चाहिए—मार्ग भूला हुआ मानना चाहिए—और उसके उद्धारके लिये, उसे यथार्थ वस्तुस्थितिका ज्ञान कराने और ठीक मार्गपर लानेके वास्ते हर एक 'जायज (समुचित) तरीकेसे समझानेका यत्न करना चाहिए । और जव तक वह न समझे तव तक अपने भावो और आचरणोमें त्रुटि समझकर—अपने ज्ञानको उस कामके लिये अपर्याप्त मानकर—आत्मशुद्धि और स्वज्ञान-वृद्धि आदिके द्वारा अपनी त्रुटियोको दूर करते हुए वरावर उसको प्रेमके साथ समझाने और उसपर अपना असर डालनेकी कोशिश करते रहना चाहिए । एक दिन आवेगा जव वह जरूर समझ जायगा और सन्मार्गको ग्रहण करेगा । चुनांचे ऐसा वरावर देखनेमे आ रहा है । जो भाई पहले विदेशी कपडेको नहीं छोड़ते थे वे आज खुशी-खुशी उसका त्याग कर रहे है ।

परतु जो लोग अपनी वात न माननेवाले भाइयो पर कुपित होते है, नाराजगी जाहिर करते है उन्हे कठोर शब्द कहते है धमकी देते है, उनके साथ बुरा सलूक करते है, उनका मजाक उड़ाते है, अपमान करते है वायकाट करके अथवा धरना देकर उन पर अनुचित दवाव डालते है अनेक प्रकारकी जवरदस्ती और जब्रसे काम लेते है, और इस तरह दूसरोकी स्वतन्त्रताको हरण करके उन्हे उनकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम करने या न करनेके लिये मजबूर करते

हैं, वे सख्त गलतीमें है और बहुत बड़ी भूल करते है। उनका यह सब व्यवहार (तर्ज-तरीका) स्वतंत्रताके इस सग्रामकी नीतिके बिल्कुल विरुद्ध है और हिसाके रगमें रगा हुआ है। जान पड़ता है.ऐसे लोगोने स्वतन्त्रताके इस धर्म-युद्धका रहस्य नही समझा। वे अभी क्रोधादिक अन्तरग-शत्रुओसे पीड़ित है, उन्होने अपने कषायोको (जजबातको) दमन नही किया, अपनी कमजोरियो पर काबू नही पाया, और इसलिये उन्हें निर्बल समझना चाहिए। ऐसे निर्बल और गुमराह (मार्ग भूले हुए) सैनिकोसे स्वतंत्रताका यह मैदान नही लिया जा सकता। ऐसे लोग बहुधा कार्य-सिद्धिमें उलटे विघ्नस्वरूप हो जाते है। बम्बईका हगामा (दगा) और मोपलोका उपद्रव ऐसे ही लोगोंकी कर्तूतोके फल है। इसलिये यदि हम स्वराज्य चाहते है तो हमें अपनी और अपने भाइयोकी इन त्रुटियो और कमजोरियो-को भी दूर करना चाहिए। इनके दूर हुए बिना हम बलवान नही हो सकते, न साधारण जनताकी सहानुभूतिको अपनी ओर खीच सकते है और न आगे ही बढ़ सकते है।

हमारा मुख्य कर्तव्य इस समय यही होना चाहिए कि हम विश्वप्रेमको अपनाएँ, उसे अपना मूल-मत्र बनाएँ, सर्वत्र प्रेमकी ज्योति जगाएँ, जो कुछ काम करे उसमे ढोग या पक्षपात न हो और जो काम दूसरोंसे कराएँ वह भी उसी प्रेमके आधार पर कराएँ—उसमे जरा भी जब, सख्ती या जबरदस्तीका नाम न हो। साथ ही, हमें स्वराज्यकी नीतिको, स्वराज्यसे होनेवाले लाभोको वर्तमान असहयोग आन्दोलनके असली म॰शा व मानी (आशय तथा अर्थ) को और अहिसाके गहरे तत्त्वको बहुत खुले शब्दोमें समझाकर साधारण जनता पर प्रगट करना चाहिए, जिससे कोई भी शख्स किसी प्रकारके धोखेमें न रह सके। और अपने आचार-व्यवहारके द्वारा हमें पबलिकको इस बातका पूरा विश्वास दिलाना चाहिए कि उनकी वजहसे कोई भी भारतवासी—चाहें वह हिन्दू, मुसलमान'

अगरेज, पारसी, ईसाई और यहूदी आदि कोई भी क्यो न हो—अपने जानमालको जरा भी खतरे (जोखो) मे न समझे। हमे गुडों बदमाशो तथा उपद्रवी लोगोसे नफरत करके उन्हे बिल्कुल ही स्वतत्र न छोड देना चाहिए, बल्कि उनसे मिलकर उन्हे सेवा-सुश्रूषा और सद्व्यवहारादिकके द्वारा अपने बनाकर काबूमे रखना चाहिए। और अपने ससर्गसे उनके दुष्कर्मो तथा बुरी आदतोको छुड़ा कर शाति-स्थापनके कार्यको और भी ज्यादा दृढ बनाना चाहिए, प्रत्येक नगर और ग्राममे ऐसा सुप्रबध करना चाहिए जिससे कही कोई चोरी, डकैती अथवा लूटमार न हो सके, कोई बलवान किसी निर्बल-को न सता सके, आपसके झगडे-टटे सब पचायतो द्वारा तै (फैसल) हुआ करे, सबका जान-माल सुरक्षित रहे और इस तरह पर लोगो-को स्वराज्यके आनंदका कुछ अनुभव होने लगे और वे यह समझने लगें कि, सरकारकी सहायताके बिना भी हम अपनी रक्षा आदिका प्रबंध स्वय कर सकते हैं और उससे अच्छा कर सकते है।

लोकमतके इतना शुद्ध और कर्तव्यनिष्ठ होनेपर स्वतत्रता-देवी अवश्य ही भारतके गलेमे वरमाला डालेगी, इसमे जरा भी संदेह नहीं है। अत हम सबको मिलकर सच्चे हृदयसे इसके लिये प्रयत्न करना चाहिए। इस समय आपसके झगडे टंटो, मतभेदो और धार्मिक-विस-वादोका अवसर नही है। उन्हे भुलाकर प्रत्येक भारतवासीको देशके मामलेमे एक हो जाना चाहिए और देशके उद्धार-विषयक कामोमे यथाशक्ति भाग लेना चाहिए। जो लोग अपनी किसी कमजोरीकी वजहसे ऐसे कामोमे कुछ हिस्सा नही ले सकते और न अपनी कोई खास सेवा देशको अर्पण कर सकते हैं, उन्हे कमसे कम इस ओर अपनी सहानुभूति ही रखनी चाहिए और बिगाड़का तो ऐसा कोई भी काम उनकी तरफसे न होना चाहिए जिससे देशके चलते हुए काममे रोड़ा अटक जाय। यदि उनका कोई इष्ट-मित्रादिक अथवा देशका प्यारा नेता देशके लिये, बिना कोई अपराध किये, जेल जाता

है तो उसे खुशीसे जाने दिया जाय। हाँ, यदि वे उससे सच्चा प्रेम रखते है तो उसके उस शुभ कामको सभाले और खुद उसको करना प्रारभ करे, जिसको करते हुए वह महामना जेल गया है। और यदि करनेके लिये असमर्थ हैं तो कृपया उसके नाम पर हुल्लड़ मचाकर अथवा दंगा फिसाद करके व्यर्थ ही संसारकी शातिको भंग न करे। उनकी इतनी भी सेवा स्वराज्य-प्राप्तिके इस महायज्ञके लिये काफी होगी।

हालके समाचारोसे हमें यह मालूम करके बहुत ही आनद होता है कि देशने इस वक्त, जब कि गिरफ्तारियो और जेल-यात्राओंका समुद्र चारो ओरसे बेहद मौजे मारता हुआ उमड़ रहा है, बहुत ही धैर्य और शॉतिसे काम लेकर अपनी साबितकदमीका परिचय दिया है। और यह उसके लिये बहुत बड़े गौरवकी बात है और उसकी कामयाबीका एक अच्छा खासा सबूत है। यदि हमारे भाई कुछ दिनों तक और इसी तरह शातिके साथ कष्टोको सहन करते हुए निर्भय होकर अपने कार्यक्रमको बराबर आगे बढाते रहे तो सरकार-को नि.सन्देह देशके सामने शीघ्र ही नतमस्तक होना पड़ेगा। प्यारे वीरो! और भारत-माताके सच्चे सपूतो!! घबराने की कोई बात नही है। महात्मा गॉधी जैसे सातिशय योगीका हाथ आपके सिर पर है। हिम्मत न हारना, कदम बराबर आगेको बढ़ता रहे, समझ लो 'यह शरीर नश्वर है, हमारी इच्छासे यह हमे प्राप्त नही हुआ और न हमारे रक्खे रह सकेगा। कुटुम्ब, परिवार और धनादिककी भी ऐसीही हालत है,उनका संयोग हमारी इच्छानुसार बना नही रहेगा। इसलिये इन सबके मोहमे पड़ कर आपको अपने कर्तव्यसे जरा भी विचलित न होना चाहिए। इस समय स्वराज्यका योग आ रहा है, स्वतंत्रतादेवी वरमाला हाथमे लिये हुए खड़ी है, सिर्फ आपकी कुछ कठिन परीक्षा और बाकी है, उसके पूरा उतरते ही भारतके गलेमे वरमाला पड़ जायगी। आशा है, आप सब इस परीक्षामे जरूर पूरे उतरेगे और अब भारतको पूर्ण स्वाधीन बनाकर ही छोडेगे। इसीमे सब कुछ श्रेय और इसीमे देशका सारा कल्याण है।

१७

अपमान या अत्याचार ?

कल शुक्रवारको, कोई पहर रात गये खुली छतके मध्यमे शय्या पर लेटा हुआ, मै स्त्रियोकी पराधीनता और उनके साथ पुरुषजाति-ने जो अब तक सलूक किया है उसका गहरा विचार कर रहा था। एकाएक शीतल-मन्द-सुगन्ध पवनके झोकोंने मुझे निद्रादेवीकी गोद-मे पहुँचा दिया और इस तरह मेरा वह सूक्ष्म विचारचक्र कुछ देरके लिये बंद हो गया ।

निद्रादेवीके आश्रयमे पहुँचते ही अच्छे अच्छे सुन्दर और सु-मनोहर स्वप्नोने मुझे आ घेरा । उस स्वप्नावस्थामे मैं क्या देखता हूँ कि, एक प्रौढा स्त्री, जिसके चेहरेसे तेज छिटक रहा है और जो अपने रग-रूप, वेष-भूषा तथा बोल-चालसे यह प्रकट कर रही है कि वह 'अखिल भारतीय महिला महासभा' के सभापतिके आसन पर आसीन होकर आ रही है, अपनी कुछ सखियोके साथ मुझसे मिलनेके लिये आई । अभी कुशलप्रश्न भी पूरी तौरसे समाप्त नही हो पाया था कि उस महिलारत्नने एकदम बड़ी ही सतर्क-भाषामे मुझसे यह प्रश्न किया कि आप लोग स्त्रियोसे घूँघट निकलवाते हो—उन्हें पर्दा करनेके लिये मजबूर करते हो—इसका क्या कारण है ?'

मै इस विलक्षण प्रश्नको सुनकर कुछ चौक उठा और उत्तर

सोचना ही चाहता था कि वह विदुषी स्त्री स्वतः ही बोल उठी—'या तो यह कहिये कि आप लोगोका स्त्रियोंपर विश्वास नही है। आप यह समझते है कि स्त्रियाँ पुरुषोंको देखकर कामवाणसे विकल हो जाती है, उनके मनमें विकार आजाता है और व्यभिचारकी ओर उनकी प्रवृत्ति होने लगती है। उसीकी रोकथामके लिये यह घूँघटकी प्रथा जारी की गई है। यदि ऐसा है तो यह स्त्री-जातिका घोर अपमान है। स्त्रियाँ स्वभावसे ही पापभीरु तथा लज्जाशील होती है, उनमें धार्मिक निष्ठा पुरुषोसे प्राय. अधिक पाई जाती है। चित्त भी उनका सहज हीमें विकृत होनेवाला नही होता। उन्हें व्यभिचारादि कुमार्गोंकी ओर यदि कोई प्रवृत्त करता है तो वह प्राय. पुरुषोकी स्वार्थपूर्ण चेष्टाएँ और उनकी विवेकशून्य क्रियाएँ तथा निरंकुश प्रवृत्तियाँ ही है, जिससे किसी भी विचारशील तथा न्यायप्रिय व्यक्तिको इनकार नहीं हो सकता। और अब तो प्रायः सभी विवेकी तथा निष्पक्ष विद्वान इस सत्यको स्वीकार करते जाते है। ऐसी हालतमें स्त्रियोंपर उपर्युक्त कलंकका लगाया जाना बिल्कुल ही निर्मूल प्रतीत होता है। और वह निर्मूलता और भी अधिकताके साथ सुदृढ तथा सुस्पष्ट हो जाती है जबकि भारत और भारतसे बाहरकी उन दक्षिणी गुजराती, पारसी तथा जापानी आदि उच्च जातियोके उदाहरणोंको सामने रक्खा जाता है जिनमे घूँघटकी प्रथा नही है और जिनकी स्त्रियोंके चरित्र बहुत कुछ उज्ज्वल तथा उदात्त पाये जाते है। आपका भी नित्य ही ऐसी कितनी ही स्त्रियोसे साक्षात्कार होता है और वे खुले मुँह आपको देखती हैं। बतलाइये, उनमेसे आज तक कितनी स्त्रियाँ आपपर अनुरक्त हुई और उन्होने आपसे प्रेम-भिक्षाकी याचना की ? उत्तर 'कोई नही' के सिवाय और. कुछ भी न होगा। आपने स्वतः ही दृष्टिपातके अवसर पर इस बातका अनुभव किया होगा कि उनमें कितना सकोच और कितनी लज्जाशीलता होती है। विकारकी रेखा तक उनके चेहरे पर नही आती। पर्दा उनकी आंखोंमें

ही समाया रहता है, जिस पर उन्हें स्वतंत्रताके साथ अधिकार होता है और वे यथेष्ट रीतिसे उक्त अधिकारका प्रयोग करती है। उन्हे कृत्रिम पर्देकी – उस बनावटी पर्देकी जिसमें लालसा भरी रहती है और जो चित्तको उद्विग्न तथा शकातुर करनेवाला है–जरूरत ही नही रहती। और इसलिये यह कहना कि पुरुषोको देखकर स्त्रियोका मन स्वभाव से ही विकृत होजाता है–वे दुराचारकी ओर प्रवृत्ति करने लगती है–कोरी कल्पना और स्त्रीजातिकी अवहेलनाके सिवाय और कुछ भी नही है। इस प्रकारकी बातोसे स्त्रीजातिके शीलपर नितान्त मिथ्या आरोप होता है और उससे उसके अपमानकी सीमा नही रहती। साथ ही, इस बातकी भी कोई गारंटी नही है कि जो स्त्रियाँ पर्देमे रहती है वे सभी उज्ज्वल-चरित्रवाली होती हैं, ऐसी बहुतसी स्त्रियोके बड़े ही काले चरित्र पाये गये है। अत:, घूँघटकी प्रथाको जारी रखनेके लिये उक्त हेतुमें कुछ भी सार अथवा दम नजर नही आता।'

जरासी देर रुककर और मेरे मुखकी ओर कुछ प्रतीक्षा-दृष्टिसे देखकर वह उदारचरिता फिर बोली—

'यदि आप ऐसा कहना नही चाहते और न उक्त हेतुका प्रयोग करना ही आपको इप्ट मालूम देता है तो क्या फिर आप यह कहना चाहते हैं कि—'पुरुषोका मन स्त्रियोको देखकर द्रवीभूत हो जाता है, पुरुष नवनीतके समान और स्त्रियाँ अगारेके सदृश हैं—"अगार-सदृशी नारी नवनीतसमा नरा"—अगारोके समीप जिस प्रकार घी पिघल जाता है उसी प्रकार स्त्रियोके दर्शनसे पुरुपोका मन चलायमान होजाता है विकृत हो उठता है। उसी मनोविकारको रोकनेके लिये—उसे उत्पन्न होनेका अवसर न देनेके लिये—ही यह घूँघट निकलवाया जाता है अथवा पर्दा कराया जाता है। यदि ऐसा है तो यह स्त्रियोपर घोर अत्याचार है। स्त्रियोको देखकर पुरुषोकी यदि सचमुच ही लार टपक जाती है, उनमें इतना ही नैतिक बल है और वे इतनेही पुरुषार्थके धनी है कि अपनी प्रकृतिको स्थिर भी नही रख

सकते तो यह उन्हीका दोष है। उन्हें उसका परिमार्जन अपनेही मुँह पर बुर्का डालकर अथवा घूँघट निकालकर क्यों न करना चाहिये ? यह कहाँका न्याय है कि अपराध तो करें पुरुष और सजा उसकी दी जाय स्त्रियोंको ? यह तो 'अंधेर नगरी और चौपट राजा' वाली कहावत हुई — एक मोटा अपराधी यदि फाँसीकी रस्सीमें नही आता तो किसी पतले-दुबले निरपराधीको ही फाँसीपर लटका दिया जाय ! कैसा विलक्षण न्याय है !! क्या स्त्रियोंको अबला और कमजोर समझकर ही उनके साथ यह सलूक (न्याय) किया गया है ? और क्या न्यायसत्ता पानेका यही उपयोग है और यही मनुष्यका मनुष्यत्व है ? मै तो इसे मानव-जाति और उच्च संस्कृतिके लिये महान् कलक समझती हूँ।'

'स्त्रियाँ पर्देमें रहनेकी वजहसे अपने स्वास्थ्य, अपनी, जानकारी अपनी सस्कृति और अपनी आत्मरक्षा वगैरहकी कितनी हानियाँ उठाती है, क्या इसका आपने कभी अनुभव नही किया ? मैने तो ऐसी सैकड़ों स्त्रियोंको देखा है जो घूँघट निकाले हुए अंधोंकी तरहसे चलती है, मार्गमें घोड़ा, गाड़ी, आदमी तथा दर-दीवार और वृक्षसे टकरा जाती है, ईंट पत्थर लकड़ीसे ठोकर खाजाती है, मार्ग भूलकर इधर उधर भटकने लगती है; किसी आक्रमणकारीसे अपनी रक्षा नही कर सकती, और इस तरह बहुत कुछ दुःख उठाती हुई अपनी उस घूँघटकी प्रथा पर खेद प्रकट करती है । उन्हे यह भी मालूम नही होता कि ससारमें क्या हो रहा है और देश तथा राष्ट्रके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है। वे प्रायः मकानकी चारदीवारीमें वन्द रह कर उच्च संस्कारोके विकासके अवसरसे वचित रह जाती है, इतना ही नही बल्कि अपने स्वास्थ्यको भी खो बैठती है। ऐसी स्त्रियाँ अपनी सतानका यथेष्ट रीतिसे पालन-पोषण भी नही कर सकती और न उसे ठीक तौरसे शिक्षित ही बना सकती है। मै तो जेलखानेके एक आजन्म कैदीकी और उनकी हालतमें कुछ भी अन्तर नही देखती।

यह सब कितना अत्याचार है ! विना अपराध ही स्त्रियाँ ये सब दुःख कष्ट तथा हानियाँ उठाती है और अपने मनुष्योचित अधिकारो तथा लाभोसे वंचित रक्खो जाती है, इस अन्याय और अंधेरका भी कही कुछ ठिकाना है !! अब बतलाइये दोनोमेसे आप अपनी इस मनहूस प्रथाका कौनसा कारण ठहराते है ? पहला कारण बतलाकर व्यर्थ ही स्त्रीजातिका अपमान करना चाहते है या दूसरे कारणको मानकर स्त्रियोपर अपने अत्याचारोंको स्वीकार करते हैं ? दोनोमेसे कोई एक कारण जरूर मानना और बतलाना पड़ेगा अथवा दोनोको ही स्वीकार करना होगा। परतु वह कारण चाहे कोई हो, पुरुषोंके लिये यह बात कलककी, लज्जाकी और सभ्यससारमे उनके गौरवको घटानेवाली जरूर है कि उन्हे प्रकृति तथा न्याय-नियमोके विरुद्ध अपनी स्त्रियोको पर्देमे रखना पड़ता है।'

मै उस वीरागनाके इस दिव्यभाषणको सुनकर दंग रह गया और मुझसे उस वक्त यही कहते बना कि, ज़रा सोचकर आपके प्रश्न-का समुचित उत्तर फिर निवेदन करूँगा।

मेरा इतना कहना ही था कि, आकाशमे मेघोकी गर्जना और वर्षाकी कुछ बूँदोने मेरा वह स्वप्न भंग कर दिया और मै अपनेको पूर्ववत् शय्या पर लेटा हुआ ही अनुभव करने लगा। परन्तु अभी कुछ मिनिट पहले जो अद्भुत दृश्य देखा था और जो दिव्य भाषण सुना था उसकी याद चित्तको बेचैन किये देती थी कि या तो इसे स्त्रीजातिका अपमान कहना चाहिये और या यह कहना चाहिये कि वह स्त्रियो पर पुरुषोका अत्याचार है। अथवा यो कहना होगा कि उसमे दोनोका ही अपमान और अत्याचारका—सम्मिश्रण है। विचारोकी इसी उधेड़बुनमें सबेरा हो गया और मैं अपना स्वप्न-समाचार दूसरोको सुनाने लगा।

संभव है कि पाठकोमेंसे भी कुछ महानुभाव उस दिव्य-स्त्रीके प्रश्न पर अच्छा विचार कर सके और उत्तरमें तीसरे ही किसी निर्दोष

हेतुका विधान कर सके। इसीलिये स्वप्नकी यह संपूर्ण घटना आज पाठकोंके सामने रक्खी जाती है। विद्वानोंको चाहिये कि वे इस पर गहरा विचार करके अपने अपने विचार-फलको युक्तिके साथ प्रगट करें। यदि उन्हें भी उक्त प्रथाकी उपयुक्तता मालूम न दे और वे उसे जारी रखनेमें पुरुषोंका ही दोष अनुभव करे तो उनका यह कर्तव्य होना चाहिये कि वे पुरुषजातिको इस कलंक तथा पापसे मुक्त कराने-का भरसक प्रयत्न करे[1]।

---

१ यह स्वप्न मुझे आजसे कोई २८ वर्ष पहले नानौता (जि० सहारनपुर) मे आया था और आनेके बाद ही १ मई सन् १९२४ का वर्तमान रूपमे लिख लिया गया था। एक-दो पत्रोंमें उस समय इसे प्रकाशित भी किया था; जैसे जुलाई सन् १९२४ के 'परवारबन्धु' में.

१८

जातिभेद पर अमितगति आचार्य

जैनसमाजमे 'अमितगति' नामके एक प्रसिद्ध आचार्य हो गये है। इनके बनाये हुए उपासकाचार, सुभाषितरत्नसंदोह और धर्म-परीक्षा आदि कितने ही ग्रन्थ मिलते है और वे सब आदरकी दृष्टिसे देखे जाते है। ये आचार्य आजसे कोई ६५० वर्ष पहले—विक्रमकी ११वी शताब्दीमे—राजा मुंजके समयमे हुए है और इन्होंने धर्म-परीक्षा ग्रन्थको विक्रम सवत् १०७० में बनाकर समाप्त किया है। इस ग्रन्थके १७वे परिच्छेदमे आपने जातिभेद पर कुछ महत्वके विचार प्रकट किये है, जो सर्व साधारणके जानने योग्य है। अत. नीचे पाठकोको उन्हीका कुछ परिचय कराया जाता है :—

न जातिमात्रतो धर्मो लभ्यते देहधारिभि.।
सत्यशौचतप:शीलध्यानस्वाध्यायवर्जितै.॥ २३॥

'जो लोग सत्य, शौच, तप, शील, ध्यान और स्वाध्यायसे रहित है उन्हे जातिमात्रसे—महज किसी ऊँची जातिमे जन्म लेलेनेसे—धर्मका कोई लाभ नही हो सकता।'

भावार्थ – धर्मका किसी जातिके साथ कोई अविनाभावी संबध नही है, किसी उच्च जातिमे जन्म लेलेनेसे ही कोई धर्मात्मा नही बन जाता। अथवा यो कहिये कि सत्य-शौचादिकसे रहित व्यक्तियोको उनकी उच्च जाति धर्मकी प्राप्ति नही करा सकती। प्रत्युत इसके,

जो सत्य, शौचादि गुणोसे विशिष्ट है वे हीन जातिमें उत्पन्न होने पर भी धर्मका लाभ प्राप्त कर सकते है और इसलिये जो लोग किसी उच्च कहलानेवाली जातिमें उत्पन्न-होकर सत्य-शौचादि धर्मों-का अनुष्ठान न करते हुए भी अपनेको ऊँचा, धर्मात्मा, धर्माधिकारी या धर्मका ठेकेदार समझते है और अपनेसे भिन्न जातिवालोंका तिरस्कार करते है, यह उनकी बडी भूल है।

आचारमात्रभेदेन जातीनां भेद-कल्पनम्।
न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ॥२४॥

'जातियोंकी जो यह ब्राह्मण-क्षत्रियादि रूपसे भेदकल्पना है वह आचारमात्रके भेदसे है—वास्तविक नही। वास्तविक दृष्टिसे कहीं भी कोई नियता—शाश्वती—ब्राह्मण जाति नहीं है। (इसी तरह क्षत्रिय आदि जातियाँ भी तात्त्विक और शाश्वती नही हैं।)'

भावार्थ—ये मूल जातिया भी (अग्रवाल खडेलवाल आदि उप-जातियोंकी तो बात ही क्या) गौ-अश्वादि जातियोकी तरह वास्त-विक नही है; किन्तु काल्पनिक है और उनकी यह कल्पना आचार-मात्रके भेदसे की गई है। अतः जिस जातिका जो आचार है उसे जो नही पालता वह उस जातिका व्यक्ति नही—उसकी गणना उस जातिके व्यक्तियोंमें की जानी चाहिये जिसके आचारका वह पालन करता है। ऐसी दशामें ऊँची जातिवाले नीच और नीची जातिवाले उच्च हो जानेके अधिकारी है। इसीसे भीलों तथा म्लेच्छों आदिकी जो कन्याएँ उच्च जातिवालोसे विवाही गई वे आचारके बदल जाने-से उच्च जातिमें परिणत होकर उच्चत्वको प्राप्त हो गई, और उनके कितने ही उदाहरण 'विवाहक्षेत्र-प्रकाश'मे दिये गये है।

ब्राह्मणक्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वतः।
एकैव मानुषी जातिराचारेण विभज्यते ॥ २५ ॥

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारोकी वास्तवमें एक ही मनुष्य जाति है, वही आचारके भेदसे भेदको प्राप्त हो गई है—जो

भेद अतात्त्विक है।

भावार्थ—सब मनुष्य मनुष्यजातिकी अपेक्षा समान है—एक ही तात्त्विक जातिके अंग है—और आचार अथवा वृत्तिके बदल जाने पर एक अतात्त्विक जातिका व्यक्ति दूसरी अतात्त्विक जातिका व्यक्ति बन सकता है। अतः एक जातिके व्यक्तिको दूसरी जातिके व्यक्तिसे कभी घृणा नही करनी चाहिये और न अपनेको ऊँचा तथा दूसरेको नीचा ही समझना चाहिये। ऊँच-नीचकी दृष्टिसे यह भेद-कल्पना ही नही है।

> भेदे जायेत विप्रायां क्षत्रियो न कथचन।
> शालिजातौ मया दृष्टः कोद्रवस्य न सभवः॥ २६॥

'यदि इन ब्राह्मणादि जातियोके भेदको तात्त्विक भेद माना जाय तो एक ब्राह्मणीसे कभी क्षत्रिय-पुत्र पैदा नही हो सकता, क्योकि चावलोकी जातिमें मैने कभी कोदोको उत्पन्न होते हुए नही देखा।'

भावार्थ—इन जातियोमें चावल और कोदो-जैसा तात्त्विक भेद मानने पर एक जातिकी स्त्रीसे दूसरी जातिका पुत्र कभी पैदा नही हो सकता—ब्राह्मणीके गर्भसे क्षत्रिय-पुत्रका और क्षत्रियाके गर्भसे वैश्य अथवा ब्राह्मण-पुत्रका उत्पाद नही बन सकता। परन्तु ऐसा नही है, ब्राह्मणोमे अथवा ब्राह्मणियोके गर्भसे कितने ही वीर-क्षत्रिय पैदा हुए है और क्षत्रियोमे अथवा क्षत्राणियोके गर्भसे अनेक वैश्य-पुत्रोका उद्भव हुआ है जिनके उदाहरणोसे शास्त्र भरे हुए हैं और प्रत्यक्षमे भी ऐसे दृष्टान्तोकी कमी नही है। अग्रवाल जो किसी समय क्षत्रिय थे वे आज प्रायः वैश्य बने हुए है। ऐसी हालतमें यह सुनिश्चित है कि इन जातियोमें कोई तात्त्विक अथवा प्राकृतिक भेद नही है—सबकी एक ही मनुष्य जाति है। उसीको प्रधानत लक्ष्यमे रखना चाहिये।

> ब्राह्मणोऽवाचि विप्रेण पवित्राचारधारिणा।
> विप्राया शुद्धशीलायां जनिना नेदमुत्तरम्॥२७॥

न विप्राविप्रयोरस्ति सर्वदा शुद्धशीलता ।
कालेनाऽनादिना गोत्रे स्खलनं क्व न जायते ॥ २८ ॥

'यदि यह कहा जाय कि पवित्राचारधारी ब्राह्मणके द्वारा शुद्ध-शीला ब्राह्मणीके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है उसे ब्राह्मण कहा गया है—तुम ब्राह्मणाचारके धरनेवालेको ही ब्राह्मण क्यों कहते हो ?—तो यह ठीक नही है। क्योकि यह मान लेनेके लिये कोई कारण नही है कि उन ब्राह्मण और ब्राह्मणी दोनोंमें सदा कालसे शुद्धशीलताका अस्तित्व (अक्षुराणरूपसे) चला आता है। अनादि-कालसे चली आई हुई गोत्रसन्ततिमें कहाँ स्खलन नही होता ?—कहाँ दोष नहीं लगता ?—लगता ही है।

भावार्थ—इन दीनो श्लोकोंमें आचार्यमहोदयने जन्मसे जाति माननेवालोंकी बातको निःसार प्रतिपादन किया है—जन्मसे जाती-यताके एकांतपक्षपाती जिस रक्तशुद्धिके द्वारा जाति,कुल अथवा गोत्र-शुद्धिकी डुगडुगी पीटा करते है उसीकी नि.सारताको घोषित किया है और यह बतलाया है कि वह अनादि प्रवाहमेंबन ही नही सकती—बिना किसी मिलावटके अक्षुराण रह ही नहीं सकती। इन पद्योंमें कामदेवकी दुर्निवारता और उससे उत्पन्न होनेवाली विकारताका वह सब आशय सनिहित जान पड़ता है जिसे पं०आशाधरजीने,कुल-जाति-विषयक अहंकृतिको मिथ्या, आत्मपतनका हेतु और नीच गोत्रके बन्धका कारण ठहराते हुए, अपने अनगारधर्मामृत ग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञटीकामें प्रकट किया है[1] और जिसका उल्लेख लेखक-द्वारा 'विवाहक्षेत्र-प्रकाश'[2]के 'असवर्ण और अन्तर्जातीय

---

१. पं० आशाधरजीके उस कथनका एक वाक्य इस प्रकार है:—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे ।
कुले च कामिनीमूले का जाति-परिकल्पना ॥

२. यह १७५ पृष्ठकी पुस्तक ला० जौहरीमलजी जैन सर्राफ, दरीबा कलाँ देहली ने प्रकाशित की है।

विवाह' नामक प्रकरणमें किया गया है। गोत्रोंमें अन्य प्रकारसे कैसे स्खलन होता है, उनकी धारा कैसे पलट जाती है और वे कैसी विचित्र स्थितिको लिये हुए है, इस बातको सविशेष रूपसे जाननेके लिये विवाहक्षेत्रप्रकाशका गोत्रस्थिति और सगोत्रविवाह' नामका प्रकरण देखना चाहिये।

संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां सा जातिर्महती सताम् ॥२९॥

'सत्पुरुषोकी दृष्टिमे वह जाति ही बड़ी अथवा ऊँची है जिसमें संयम, नियम शील, तप, दान, दम (इन्द्रियादिनिग्रह) और दया ये गुण वास्तविक रूपसे विद्यमान होते है—बनावटी रूपसे नही।'

भावार्थ—इन गुणोका यथार्थमे अनुष्ठान करनेवाले व्यक्तियोके समूहको ही ऊँची जाति कहते है। और इसलिये जो व्यक्ति सचाई-के साथ इन धर्मगुणोका पालन करता है उसे ऊँची जातिका अंग समझना चाहिये—भले ही वह नीच कहलानेवाली जातिमें ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो। उपर्युक्त गुण ऐसे हैं जिन्हें सभी जातियोंके व्यक्ति धारण कर सकते हैं और वे धारण करनेवाले व्यक्ति ही उस महती जातिका निर्माण करते है जो आचार्यमहोदयकी कल्पनामें स्थित है।

दृष्टा योजनगन्धादि प्रसूतानां तपस्विनाम्।
व्यासादीनां महापूजा तपसि क्रियतां मतिः ॥३०॥

(धीवरादि नीच जातियोकी) योजनगधादि स्त्रियोसे उत्पन्न व्यासादिक तपस्वियोंकी लोकमे महापूजा देखी जाती है—यह सब तप-सयमादि गुणोका ही माहात्म्य है। अत तप सयमादि गुणोकी प्राप्तिका ही यत्न करना चाहिये—उससे जाति स्वय ऊँची उठ जायगी।

भावार्थ—नीच जातिकी स्त्रियोसे उत्पन्न व्यक्ति यदि नीच जातिके ही रहते और नीच ही समझे जाते तो व्यासजी जैसे तपस्वी,

जो कि एक धीवर-कन्यासे व्यभिचार-द्वारा उत्पन्न हुए थे, लोकमें कभी इतनी पूजा और प्रतिष्ठाको प्राप्त न कर सकते। इससे साफ जाहिर है कि नीच जातिके व्यक्ति भी सद्गुणोंके प्रभावसे ऊँच जातिके हो जाते हैं। अथवा यों कहिये कि नीच जातियोमे भी अच्छे-अच्छे रत्न उत्पन्न होते है और हो सकते हैं। इसलिये उनकी उपेक्षा की जानी योग्य नहीं—उन्हें ऊँचे उठानेका यत्न करना चाहिये।

शीलवन्तो गताः स्वर्गे नीचजातिभवा अपि।
कुलीना नरकं प्राप्ताः शील-संयम-नाशिनः ॥३१॥

'नीच जातियोंमें उत्पन्न होने पर भी सदाचारी व्यक्ति स्वर्गको प्राप्त हुए हैं और ऊँच जातियोंमे जन्म लेनेवाले असदाचारी—शीलसंयमादिसे रहित—कुलीन लोग भी नरकमें गये है।'

भावार्थ—ऊँच जातिवाले जब नीच गतिको और नीच जातिवाले ऊँची गतिको प्राप्त हुए है—और हो सकते हैं—तब वास्तवमें इन ऊँच-नीच गिनी जानेवाली जातियोंका कुछ भी महत्त्व नही रहता। उच्चत्व और नीचत्वका अथवा अपने उत्कर्ष और अपकर्षका सारा खेल गुणोंके ऊपर अवलम्बित है। अतः सद्गुणोंकी प्राप्ति करने-करानेका ही यत्न होना चाहिये। उनकी प्राप्तिमें वस्तुतः कोई नीच कही जाने वाली जाति बाधक नही है।

गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते।
यतस्ततो बुधैः कार्यो गुणेष्वेवादरः परः ॥३२॥
जातिमात्रमदः कार्यो न नीचत्वप्रवेशकः।
उच्चत्वदायकः सद्भिः कार्यः शीलसमादरः ॥३३॥

'उत्तम गुणोंसे ही उत्तम जाति बनती है और उत्तम गुणोंके नाशसे वह जाति नष्ट हो जाती है—नीचत्वको प्राप्त हो जाती है। इसलिये बुद्धिमानोको सबसे अधिक गुणोका ही आदर करना चाहिये (बाह्य जाति पर दृष्टि रखकर या उसके भुलावेमे भूलकर उसीको सब कुछ न समझ लेना चाहिये)। साथ ही, अपनी जातिका कभी

मद नही करना चाहिये ।(अपनी जातिको ऊँचा और दूसरेकी जाति को नीचा समझने रूप) यह मद आत्मामे नीचत्वका प्रवेश करानेवाला है—उसे नीचे गिरानेवाला अथवा नीच बनानेवाला है । उच्चत्वका देनेवाला—आत्माको ऊपर उठानेवाला—शीलसंयमादि गुणोके प्रति आदरभाव है—भले ही उन गुणोका प्रादुर्भाव किसी नीच जातिके व्यक्तिमें ही क्यों न हुआ हो—और इसलिये सत्पुरुषोंको उसी आदरभावसे काम लेना चाहिये—जातिभेदके चक्करमें पड़ कर गुणियो अथवा गुणोका तिरस्कार नही कर देना चहिये ।'

भावार्थ—इन ब्राह्मणादिक जातियोंका बनना और बिगड़ना सब गुणोपर ही मुख्य आधार रखता है—उनका मूल जन्म नही किन्तु गुणसमुदाय है। गुणोके आविर्भावसे एक नीच जातिवाला ऊँचजातिका और गुणोके अभावसे एक ऊँच जातिवाला नीचजातिका व्यक्ति बन जाता है। किसीकी जाति अटल या शाश्वती नही है—अटल है तो एक मनुष्यजाति है, जो जीवनभर तक छूट नही सकती,उसी पर पूरा लक्ष्य रखना चाहिये। इसीलिये महज़ जन्मकी वजहसे दूसरोंके व्यक्तित्वका तिरस्कार करना उचित नही—उचित है दूसरोके गुणोका आदर करना, उनके गुणोंके आविर्भावकी भावना रखना और उसका सव ओर से प्रयत्न करना,यही दोनोके लिये उत्कर्षका साधक है। इसीसे आचार्यमहोदय ग्रन्थके अन्तिम भागमे लिखते हैं —

यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ पटिष्ठो
यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ वरिष्ठः ।
यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ कुलीनो
यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ न दीनः ॥७७॥

'जो मनुष्य सम्यक्त्व गुणका धारक है वह अत्यन्त चतुर है, श्रेष्ठ है, कुलीन है और अदीन है ।'

भावार्थ—जैनधर्मके अनुसार नीचसे नीच जातिका मनुष्य भी सम्यक्त्वगुणका धारण कर सकता है—एक चाण्डालका पुत्र भी

सम्यग्दृष्टि हो सकता है। स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचार-में ऐसे चाण्डाल-पुत्रको 'देव' लिखा है—आराध्य[1] बतलाया है। अतः ऐसे सम्यग्दर्शनप्राप्त नीच जातिके पुरुषोंको भी अमितगति आचार्य श्रेष्ठ, कुलीन और अदीन लिखते है। यह है गुणोंका आदर-भाव, गुणोंके आविर्भावकी सद्भावना ओर सत्प्रेरणा।

आचार्यमहोदयके इन सब उद्गारों पर अधिक टीकाटिप्पणीकी जरूरत नही। वे इन जातिभेदोंको किस दृष्टिसे देखते थे और उन्हें क्या महत्त्व देते थे, यह सब ऊपरके कथनोंसे बिल्कुल स्पष्ट है। और इसलिये जो लोग समानवर्ण, समानधर्म, और समानगुण-शीलवाली उपजातियोंमें भी अनुचित भेदभावकी कल्पना किये हुए है—परस्परमें रोटी-बेटीका सम्बन्ध एक करते हुए हिचकिचाते है—उन्हे आचार्यमहाराजके इन उद्गारोंसे जरूर कुछ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और उस कदाग्रहको छोड़ देना चहिये जो धर्म तथा समाजकी उन्नतिमें बाधक है। जो लोग कदाग्रहको छोड़ कर अन्त-र्जातीय विवाह करने लगे है उनकी यह उदार तथा विवेक-परिणति निःसन्देह प्रशंसनीय और अभिनंदनीय है।

१. यह 'देव' का 'आराध्य अर्थ प्रभाचन्द आचार्यने रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी टीकामे दिया है।

१६

गोत्र-स्थिति और सगोत्र-विवाह

जैनसिद्धान्तमे—जैनियोकी कर्मफिलोसोफीमे—'गोत्र' नामका भी एक कर्म है और उसके ऊँच, नीच ऐसे कुल दो ही भेद किये है। गोम्मटसार ग्रन्थमे बतलाया है कि 'सन्तान'-क्रमसे चले आए जीवोंके आचरण-विशेषका नाम गोत्र' है। वह आचरण ऊँचा और नीचा दो प्रकारका होनेसे गोत्रके भी सिर्फ दो भेद है, एक उच्चगोत्र और दूसरा नीचगोत्र। यथा —

> सतानकमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदि सरणा।
> उच्च णीचं चरणं उच्च णीचं हवे गोद ॥

परन्तु आजकल जैनियोमे जो सैकडो गोत्र प्रचलित है—उनकी ८४ जातियोमे प्राय सभी जातियाँ, समान आचरण होते हुए भी, कुछ न कुछ गोत्र-सख्याको लिये हुए है - वे सब गोत्र उक्त सिद्धान्त-प्रतिपादित गोत्र-कथनसे भिन्न है, उनमे 'उच्च और 'नीच' नामके कोई गोत्र है भी नही, और न किसी गोत्रके भाई ऊँच अथवा नीच समझे जाते है। इन गोत्रोंके इतिहास पर जब दृष्टि डाली जाती है तो वह वडा ही विचित्र मालूम होता है और उससे यह बात सहज ही समझमे आ जाती है कि ये सब गोत्र कोई अनादिनिधन नही है—वे भिन्न-भिन्न समयोपर भिन्न भिन्न कारणोको पाकर उत्पन्न हुए और इसी तरह कारण-विशेषको पाकर किसी न किसी समय

नष्ट हो जानेवाले हैं। अनेक गोत्र केवल ऋषियोंके नामों पर प्रतिष्ठित हुए, कितने ही गोत्र सिर्फ नगर-ग्रामादिकोंके नामों पर रक्खे गये और बहुतसे गोत्र वंशके किसी प्रधानपुरुष, व्यापार, पेशा अथवा किसी घटनाविशेषको लेकर ही उत्पन्न हुए है। और इन सब गोत्रोंकी उत्पत्ति या नामकरणसे पहले पिछले गोत्र नष्ट हो गये यह स्वतःसिद्ध है—अथवा यों कहिये कि जिन जिन लोगोंने नवीन गोत्र धारण किये उनमें और उनकी संततिमें पिछले गोत्रोंका प्रचार नही रहा। यहाँ पर इन गोत्रोंकी कृत्रिमता और परिवर्तनशीलताका कुछ दिग्दर्शन करा देना उचित मालूम होता है और उसके लिये अग्रवाल खडेलवाल तथा ओसवाल जातियोंके गोत्रोंको उदाहरणके तौरपर लिया जाता है। इस दिग्दर्शन परसे पाठकोंको यह समझनेमे आसानी होगी और वे इस बातका अच्छा निर्धार कर सकेंगे कि आजकल इन गोत्रोको जो महत्त्व दिया जाता है अथवा विवाह-शादीके अवसरों पर इनका जो आग्रह किया जाता है वह कहाँ तक उचित तथा मान्य किये जानेके योग्य है:—

(१) अग्रवाल जातिके इतिहाससे मालूम होता है कि अग्रवाल-वंशके आदिपुरुष राजा अग्रसेन थे। वे जिस गोत्रके व्यक्ति थे वही एक गोत्र, आजकलकी दृष्टिमें, उनकी संततिका—सम्पूर्ण अग्रवालों-का—होना चाहिये। परन्तु ऐसा नही है। अग्रवाल जातिमें आज १८ गोत्र प्रचलित है और ये गोत्र राजा अग्रसेनके अठारह पुत्रों-द्वारा धारण किये हुये गोत्र है, जिनकी कल्पना उन्होंने अपनी संततिके विवाह-संकटको दूर करनेके लिये की थी। इनमेंसे गर्ग आदि अधिकांश गोत्रोंका नामकरण तो उन गर्गादि ऋषियोके नामो पर हुआ है जो पुष्पदेवादि राजकुमारोके अलग अलग विद्यागुरु थे और बाकीके वृन्दल, जैत्रल (जिंदल) आदि कुछ गोत्र वृन्ददेवादि राज-कुमारोंके नामो परसे ही निर्धारित किये गये अथवा प्रचलित हुए जान पड़ते है। ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि राजा अग्रसेनका गोत्र

उनके साथ ही समाप्त हो गया था—वह उनकी संततिमें प्रचलित नही रहा—और १८ नये गोत्रोकी सृष्टि भी हो सकी। साथ ही, यह बतलानेकी कोई ज़रूरत नही रहती कि पहले जमानेमे पिताके गोत्रको छोड़कर नये गोत्र भी धारण किये जा सकते थे और इस नई गोत्र-कल्पनाके अनुसार अपने विवाह-क्षेत्रको विस्तीर्ण बनाया जा सकता था। यदि अग्रवालोंकी इस पिछली गोत्र-कल्पनाको हटा दिया जाय तो, राजा अग्रसेनकी दृष्टिसे, सब अग्रवाल एकगोत्री हैं और वे परस्पर—अग्रवालोमें ही—विवाह करके सगोत्र-विवाह कर रहे है यह कहना चाहिये।

(२) खंडेलवाल जातिके जैन इतिहाससे पता चलता है कि एक समय राजा खंडेलगिरकी राजधानी खंडेलानगर और उसके शासनाधीन ८३ ग्रामोंमें महामारीका बड़ा प्रकोप हुआ और वह नरमेध यज्ञ तक कर देने पर भी शात न हुआ, बहुत कुछ हानि पहुँचाकर, अन्तको श्रीजिनसेनस्वामीके प्रभावसे शात हुआ। इस अतिशयको देख कर ८४ ग्रामोके राजा-प्रजा सभी जन जैनी हो गये और श्रीजिनसेनस्वामीने उनके ८४ गोत्र नियत किये। गोत्रोमे 'सहा' गोत्रको छोड़कर, जो खंडेलानगरके निवासियो तथा राजकुलके लिये नियत किया गया था, शेष ८३ गोत्रोंका नामकरण ग्रामोके नामो पर हुआ—अर्थात् एक एक ग्रामके रहनेवाले सभी जैनियोका एक एक गोत्र स्थापित किया गया। जैसे पाटनके रहनेवालोका गोत्र 'पाटनी', अजमेरके रहनेवालोका 'अजमेरा', बाकली ग्रामके निवासियोका 'बाकलीवाल' और कासली गाँवके निवासियोका गोत्र कासलीवाल नियत हुआ। इन गोत्रोमे सोनी, लुहाड्या, चौधरी आदि कुछ गोत्रोके विषयमे विद्वानोका यह भी मत है कि वे व्यापार, पेशा या पदस्थकी दृष्टिसे रक्खे हुए नाम हैं—सोनेका व्यापार तथा काम करनेवाले 'सोनी', लोहेका व्यापार तथा काम करनेवाले 'लुहाड्या' और चौधरीके पद पर प्रतिष्ठित 'चौधरी' कहलाये। परन्तु कुछ

भी सही, इतना तो स्पष्ट है कि इन सब लोगोंके पुराने गोत्र कायम नहीं रहे और ८४ नये गोत्रोंकी सृष्टि हुई। एक गोत्रके लोग प्रायः अनेक ग्रामोंमें रहते है और एक ग्राममें अक्सर अनेक गोत्रोंके लोग रहा करते है। जब गोत्रोंका नामकरण ग्रामोके नामों पर हुआ एक ग्राम-के रहनेवाले जैनियोंका एक गोत्र कायम किया गया और अपने अपने उस गोत्रको छोड़कर खंडेलवाल लोग दूसरे गोत्रमें विवाह सम्बन्ध करते है[1] तब उनके पिछले गोत्रोकी दृष्टिसे यह कहा जा सकता है कि वे सगोत्र-विवाह भी करते है; क्योंकि यह प्रायः असंभव है कि उन सब नगर-ग्रामोमें पहलेसे एक-दूसरेसे भिन्न अलग अलग गोत्र-के ही लोग निवास करते हों। राजमलजी बडजात्याने खंडेलवाल जैनोंका जो इतिहास लिखा है उससे तो यह स्पष्ट मालूम होता है कि कितने ही वंशोके लोग अनेक ग्रामोंमें रहते थे, जैसे चौहान वंश-के लोग खंडेलानगर, पापडी, भैसा, दरड्यो, गदयो, पहाडी, पांडणी, छावडा, पांगुल्यो, भूलाणी, पीतल्यो, बनमाल, अरडक, चिरडकी, साँभर और चोवण्यामें रहते थे। इन नगर ग्रामोंके निवासियोंके लिये क्रमशः सहा, पापडीवाल भैसा (बडजात्या), दरड्यो, गदैया, पहाड्या, छावडा, पागुल्या, भूलण्या, पीतल्या, बनमाली, अर्डक, चिरडक्या, सांभर्या और चौवाण्या गोत्रोकी सृष्टि की गई। इन गोत्रोंके खंडेलवाल क्या आपसमें विवाह-सम्बध नही करते ? यदि करते है तो चौहानवंशके मूलगोत्रकी दृष्टिसे कहना होगा कि वे एक

---

१. यह दूसरी बात है कि कुछ रिश्तेदारोके गोत्र भी टाले जाते है। परन्तु उससे किसी खास नामके गोत्रोका नियमित रूपसे टाला जाना लाजिमी नही आता। हो सकता है कि एक विवाहके अवसर पर किसी रिश्तेदारका जो गोत्र टाला गया वह कालान्तरमे न टाला जाय अथवा उसी गोत्रमे कोई दूसरा विवाह भी कर लिया जाय; क्यो-कि रिश्तेदारीकी वह स्थिति उत्तरोत्तर सतन्मे बदलती रहती है।

ही गोत्रमे विवाह करते है अथवा यो कहिये कि पिछली गोत्रकल्पनाको निकाल देने पर उनके वे विवाह सगोत्रविवाह ठहरते है। दूसरे गोत्रोंकी भी प्राय ऐसी ही हालत है। इसके सिवाय, ऐसा कोई प्रमाण नही मिलता जिससे यह मालूम होता हो कि पहले एक नगर-ग्रामके निवासी आपसमे विवाह-सम्बध नही किया करते थे। और यदि कही ऐसा होता भी हो तो आजकल जब वह प्रथा नही रही और एक ही नगर-ग्रामके निवासी खडेलवाल परस्परमे विवाह कर लेते हैं तब उनके लिये एक ही नगर-ग्रामके निवासियोसे बने हुए अपने एक गोत्रमे विवाह सम्बध कर लेने पर सिद्धान्तकी दृष्टिसे कौन बाधा आती है अथवा उसका न करना कहाँ तक युक्तियुक्त हो सकता है, इसका विचार पाठकजन स्वय कर सकते है।

(३) 'जैनसम्प्रदायशिक्षा[१]' में यति श्रीपालचन्द्रजीने ओसवाल वशकी उत्पत्तिका जो इतिहास दिया है उससे मालूम होता है कि रत्नप्रभसूरि ने, 'महाजन वश' की स्थापना करते हुए, 'तातहड' आदि अठारह गोत्र और 'सुघड' आदि बहुतसे नये गोत्र स्थापित किये थे। और उनके पीछे, वि० स० सोलहसौ तक बहुतसे जैनाचार्योंने राजपूत, महेश्वरी, वैश्य और ब्राह्मण जातिवालोंको प्रतिबोध देकर—उन्हे जैनी बना कर—महाजन वंशका विस्तार किया और उन लोगोमे अनेक नये गोत्रोकी स्थापना की। इन सब गोत्रोका यतिजीने जो इतिहास दिया है और जिसे प्रामाणिक तथा अत्यन्त खोजके बाद लिखा हुआ इतिहास प्रकट किया है उसमेसे कुछ गोत्रोके इतिहासका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है.—

१ कुकुडचोपडा आदि गोत्र—जिनवल्लभसूरि (वि०स०११५२)ने मंडोरके राजा 'नानुदे' पडिहारके पुत्र धवलचद्रके गलितकुष्ठको कुकडी गायके घीको मंत्रित करके तीन दिन चुपडवाने द्वारा नीरोग

---

१ यह पुस्तक वि० स० १९६७ मे बम्बईसे प्रकाशित हुई है।

किया। इससे राजाने कुटुम्ब-सहित जैनधर्म ग्रहण किया और सूरि-जीने उसका महाजन वंश तथा 'कुकडचोपडा' गोत्र स्थापित किया। मंत्रीने भी धर्म ग्रहण किया और उसका गोत्र 'गणधर चोपडा' नियत किया गया। कुकडचोपडा गोत्रकी बादको चार शाखाएँ हुईं जिनमें से एक 'कोठारी' शाखा भी है जो इस वंशके एक 'ठाकरसी' नामक व्यक्तिसे प्रारम्भ हुई। ठाकरसीको राव चुंडेने अपना कोठारी नियत किया था तभीसे ठाकरसीकी संतानवाले 'कोठारी' कहलाने लगे।

२. धाडीवाल गोत्र- डीडो नामक एक खींची राजपूत धाड़ा मारता था। उसको वि० सं० ११५५ में जिनवल्लभसूरिने प्रतिबोध देकर उसका महाजन वंश और 'धाडीवाल' गोत्र स्थापित किया।

३. लालाणी आदि गोत्र--लालसिहको जिनवल्लभसूरिने प्रति-बोध देकर उसका 'लालाणी' गोत्र स्थापित किया और उसके पाँच बेटोंसे फिर वाठिया, जोरावर, विरमेचा, हरखावत, और मल्लावत गोत्र चले। इसी तरह एक 'काला' व्यक्तिकी औलादवाले काला' गोत्री कहलाये।

४. पारख गोत्र—पासूजीने एक हीरेकी परख की थी उसी दिनसे राजा द्वारा 'पारख' कहे जानेके कारण उनकी संतानके लोग पारख-गोत्री कहे जाने लगे।

५ लूणावत आदि गोत्र—'लूणे' के वंशज 'लूणावत' गोत्री हुए परन्तु बादको उसके किसी वंशजके युद्धसे न हटने पर उसकी संततिका गोत्र 'नाहटा' होगया। और एक दूसरे वंशजको किसी नव्वाबने 'रायजादा' कहा। इससे उसका गोत्र 'रायजादा' प्रसिद्ध हुआ।

६. रतनपुरा और कटारिया गोत्र—चौहान राजपूत रतनसिह-को, जिसने रतनपुर बसाया था, जिनदत्तसूरिने जैनी बनाकर उस-का 'रतनपुरा' गोत्र स्थापित किया। इसके वंशमें झाझणसिह

नामका व्यक्ति अपने पेटमें कटार मारकर मर गया था। इससे उस-की सततिका गोत्र 'कटारिया' प्रसिद्ध हुआ।

७. राँका तथा सेठिया गोत्र—'काक्क' नामका एक व्यक्ति बहुत दुर्बल शरीरका था इससे लोग उसे 'राँका' पुकारने लगे। उसे नगर-सेठका पद मिला और इसलिये उसकी सतानका गोत्र 'राँका' तथा 'सेठिया' प्रसिद्ध हुआ।

गोत्रोकी ऐसी कृत्रिम, विचित्र और क्षणिक स्थितिके होते हुए पूर्व पूर्व गोत्रोकी दृष्टिसे सगोत्र-विवाहोका होना बहुत कुछ स्वा-भाविक है। इसके सिवाय, प्राय: सभी जैनजातियोमें गोद लेने अथवा दत्तकपुत्र ग्रहण करनेका रिवाज है, और दत्तकपुत्र अपने गोत्रसे भिन्न गोत्रका भी लिया जाता है। साथ ही, यह माना जाता है कि उसका गोत्र दत्तक लेनेवालेके गोत्रमें परिणत हो जाता है—उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नही रहती—इसीसे विवाहके अवसर पर उसके गोत्रका प्राय: कोई खयाल नही किया जाता और यदि कही कुछ खयाल किया भी जाता है तो वह प्राय. उस दत्तकपुत्रके विवाह तक ही परिमित रहता है—उसके विवाहमें ही उसका पूर्व गोत्र बचा लिया जाता है—आगे होनेवाली उसकी उत्तरोत्तर संततिमें फिर उसका कोई खयाल नही रक्खा जाता और न रक्खा जा सकता है; क्योकि एक एक वंशमे न मालूम कितने दत्तक दूसरे वंशो तथा गोत्रों-के लिये जा चुके हैं उन सबका किसीको कहाँ तक स्मरण तथा खयाल हो सकता है। यदि उन पर खयाल किया जाय - विवाहोंके अवसर पर उन्हे टाला जाय—तो परस्परमे विवाहोका होना ही प्राय. असंभव हो जाय। इसी तरह पर स्त्रियोके गोत्र भी उनके विवाहित होने पर बदल जाते है और उनकी प्राय: कोई स्वतंत्र सत्ता नही रहती। यदि उनकी स्वतंत्र सत्ता मानी जाय तब तो एक कुलमें कितने ही गोत्रोंका संमिश्रण हो जाता है और सबको बचाते हुए विवाह करना और भी ज्यादा असंभव ठहरता है। साथ ही, यह

कहना पड़ता है कि भिन्न भिन्न गोत्रके स्त्री-पुरुषोंके सम्बंधसे संकर-गोत्री संतान उत्पन्न होती है और उस संकरताकी उत्तरोत्तर वृद्धि होते रहनेसे किसी भी गोत्रका अपनी शुद्ध-स्थितिमें उपलब्ध होना प्रायः असंभव है। गोत्रोकी इस कृत्रिमता और परिवर्तनशीलताकी कितनी ही सूचना भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे भी मिलती है और उससे यह साफ़ मालूम होता है कि जैनधर्ममे दीक्षित होने पर—जैनोपासक अथवा श्रावक बनते हुए—अजैनोके गोत्र और जाति आदिके नाम प्रायः बदल जाते थे—उनके स्थानमे दूसरे समयोचित नाम रक्खे जाते थे। यथाः—

> जैनोपासकदीक्षा स्यात्समयः समयोचितम् ।
> दधतो गोत्रजात्यादिनामान्तरमतः परम् ॥ ५६ ॥
>
> —आदिपुराण, ३९ वाँ पर्व

ऐसी हालतमे गोत्रोकी क्या असलियत है—उनकी स्थिति कितनी परिकल्पित और परिवर्तनशील है—और उन्हें विवाह शादियोंके अवसर पर कितना महत्त्व दिया जाना चाहिये इसका पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं। पहले जमानेमें गोत्रोंको इतना महत्त्व नही दिया जाता था जितना कि वह आज दिया जाता है।

यहाँ पर मै इतना और बतला देना चाहता हूँ कि श्रीजिन-सेनाचार्यके हरिवंशपुराणसे जहाँ यह पाया जाता है कि देवकी और वसुदेव दोनो यदुवंशी थे, एक कुटुम्बके थे, दोनोमे चचा-भतीजीका सम्बध था और इसलिये उनका पारस्परिक विवाह सगोत्र-विवाहका एक बहुत बड़ा प्रमाण है, वहाँ यह भी मालूम होता कि हरिवंशी राजा 'वसु' के एक पुत्र 'वृहद्ध्वज' की संततिमे यदुवंशी राजा उग्रसेन हुआ, दूसरे पुत्र 'सुवसु' की संततिमे जरासंध हुआ और जरासंधकी बहन पद्मावती उग्रसेनसे व्याही गई। इससे जाहिर है कि राजा वसुके एक वंश और एक गोत्रमे होनेवाले दो व्यक्तियोका परस्पर विवाह-सम्बंध हुआ। और इससे यह जाना जाता है कि उस

समय एक गोत्रमे विवाह होनेका रिवाज था। साथ ही, उक्त पुराण-से इस बातका भी पता चलता है कि पहले सगे भाई बहनोकी औलादमे जो परस्पर विवाह-सम्बन्ध हुआ करता था उसका एक कारण अथवा उद्देश्य 'गोत्रप्रीति' भी होता था। यथा —

> नीलस्तस्य सुनः कन्या मान्या नीलांजनाभिधा।
> कुमारकन्ययोर्वृत्ता सकथा च तयोरिति॥ ४॥
> पुत्रो मे ते यदा कन्या भविता भविता तयोः।
> अविवादे विवाहोऽत्र गोत्रप्रीत्यै परस्परम्॥ ५॥
>
> —२३ वाँ सर्ग

इन पद्योमें नील और नीलाजना नामके दो सगे भाई बहनोके इस ठहरावका उल्लेख किया गया है कि 'यदि मेरे पुत्र और तुम्हारे पुत्री होगी तो गोत्रमे प्रीतिकी वृद्धिके लिये उन दोनोका निर्विवाद रूपसे परस्परमे विवाह कर देना होगा।'

परन्तु आजकल गोत्र-प्रीतिकी बात तो दूर रही, एक गोत्रमें विवाह करना 'गोत्र-घात' अथवा 'गोत्रघाव' समझा जाता है। जैनियोकी कितनी ही जातियोंमें तो, विवाहके अवसरपर, पिताके गोत्रके अतिरिक्त माता, माताके मामा, और पिताके मामा आदि तकके गोत्रोंको भी टालनेकी फिकर की जाती है— कही चार चार और कही आठ आठ गोत्र बचाये जाते है— और इसतरह पर मामा-फूफीकी कन्याओसे विवाह करनेके प्राचीन प्रशस्त विधानसे इनकार ही नही किया जाता बल्कि उनके गोत्रो तकमें विवाह करनेको अनुचित ठहराया जाता है। मालूम नही इस सब कल्पनाका क्या आधार है—वह किस सिद्धान्त पर अवलम्बित है—और इन गोत्रोके बचानेसे उस सिद्धान्तकी वस्तुतः कोई रक्षा हो जाती है या कि नही। शायद सगोत्र-विवाहको अच्छी तरहसे टालनेके लिये ही यह सब कुछ किया जाता हो, परन्तु गोत्रकी वर्तमान स्थितिमे, वास्तविक दृष्टिसे, सगोत्र विवाहका टालना कहाँ तक बन सकता है, इसे पाठक

ऊपरके कथनसे भले प्रकार समझ सकते है। हो सकता है कि इस कल्पनाके मूलमें कोई प्रौढ सिद्धान्त न हो और वह पीछेसे कुछ कारणोंको पाकर निरी कल्पना ही कल्पना बन गई हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमे सन्देह नही कि यह कल्पना प्राचीन कालके विचारों और उस वक्तके विवाह-सम्बन्धी रीति-रिवाजोसे बहुत कुछ विलक्षण तथा विभिन्न है--इसमें निराधार खीचातानीकी बहुलता पाई जाती है—और उसके द्वारा विवाहका क्षेत्र अधिक संकीर्ण हो गया है। समझमें नही आता,जब बहुत प्राचीन कालसे गोत्रोंमें बराबर अलटा-पलटी होती आई है, अनेक प्रकारसे नवीन गोत्रोंकी सृष्टि होती रही है, एक पुत्र भी पिताके गोत्रको छोड़कर अपनेमें नये गोत्रकी कल्पना कर सकता था और इस तरह अपने अथवा अपनी संततिके विवाह-क्षेत्रको विस्तीर्ण बना सकता था तब वे सब बाते आज क्यों नही हो सकती--उनके होनेमें कौनसा सिद्धान्त वाधक है? गोत्र-परिपाटीको कायम रखते हुए भी, प्राचीन पूर्वजोंके अनुकरण-द्वारा विवाह-क्षेत्रको बहुत कुछ विस्तीर्ण बनाया जा सकता है। अतः समाजके शुभचिंतक सहृदय विद्वानोंको इस विषय पर गहरा विचार करके गोत्रोंकी वर्तमान समस्याको हल करना चाहिये और समाजको उसकी उन्नतिका साधक कोई योग्य तथा उचित मार्ग सुझाना चाहिये।

२०

असवर्ण और अन्तर्जातीय विवाह

'वर्ण' के चार भेद हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ये वर्ण इसी क्रमको लिये हुए है, और इनकी सत्ता यहाँ युगकी आदिसे चली आती है। इन्हे 'जाति' भी कहते है। यद्यपि 'जाति' नामक नामकर्मके उदयसे मनुष्यजाति एक ही है और उस मनुष्यजातिकी दृष्टिसे सब मनुष्य समान हैं—मनुष्योके शरीरमे ब्राह्मणादि वर्णोकी अपेक्षा आकृति आदिका कोई खास भेद न होनेसे और शूद्रादिकोके द्वारा ब्राह्मणी आदिमे गर्भकी प्रवृत्ति भी हो सकनेसे उनमे जातिकृत कोई ऐसा भेद नही है जैसा कि गौ और अश्वादिकमें पाया जाता है[1]—फिर भी वृत्ति अथवा आजीविकाके भेदसे मनुष्यजातिके उक्त चार भेद माने गये है। जैसा कि भगवज्जिनसेनके निम्न वाक्यसे सूचित होता है—

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥ ४५ ॥

—आदिपुराण, पर्व ३८ वाँ।

---

१. वर्णाकृत्यादिभेदाना देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥४९१॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणा गवाश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥४९२॥

—उत्तरपुराण, ७४ वाँ पर्व

इन चार प्रधान जातियों अथवा वर्णोंमेंसे ही अग्रवाल, खंडेलवाल, आदि नवीन जातियोंकी सृष्टि हुई है और इसीसे उन्हें उपजातियाँ कहते है। उनमें भी वृत्तिकी दृष्टिसे वर्ण भेद पाया जाता है। अस्तु।

इन वर्णोंमेंसे प्रत्येक वर्णका व्यक्ति जब अपने ही वर्णकी स्त्रीसे विवाह करता है तो उसे 'सवर्णविवाह' और जब अपनेसे भिन्न वर्णके साथ विवाह करता है तो उसे 'असवर्णविवाह' कहते है। असवर्णविवाहके 'अनुलोम' और 'प्रतिलोम' ऐसे दो भेद है। अपनेसे नीचे वर्णवालोंकी कन्याओसे विवाह करना 'अनुलोमविवाह' और अपनेसे ऊपरके वर्णवालोकी कन्याओसे विवाह करना 'प्रतिलोमविवाह' कहलाता है। यद्यपि इन दोनों प्रकारके असवर्ण विवाहोंमें अनुलोमविवाह अधिक मान्य किया गया है परन्तु फिर भी सवर्ण विवाहके साथ भारतवर्षमें दोनो ही प्रकारके असवर्णविवाहोंका प्रचार रहा है और उनके विधि-विधानों अथवा उदाहरणोंसे जैन तथा जैनेतर हिन्दू साहित्य भरा हुआ है।

भगवज्जिनसेनाचार्य, आदिपुराणमें, अनुलोमरूपसे असवर्णविवाहका विधान करते हुए, स्पष्ट लिखते है:—

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः।
वहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः॥

अर्थात्- शूद्रका शूद्रास्त्रीके सिवाय और किसी वर्णकी स्त्रीके साथ विवाह न होना चाहिये, वैश्य अपने वर्णकी और शूद्रवर्णकी स्त्रीसे भी विवाह कर सकता है, क्षत्रिय अपने वर्णकी और वैश्य तथा शूद्रवर्णकी स्त्रियाँ ब्याह सकता है और ब्राह्मण अपने वर्णकी तथा शेष तीन वर्णोंकी स्त्रियोका भी पाणिग्रहण कर सकता है।

श्रीसोमदेवसूरि भी, नीतिवाक्यामृतमें, ऐसा ही विधान करते है। यथा :—

आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णकन्याभाजना ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशः।

अर्थात्--अनुलोमविवाहकी रीतिसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमश. चार, तीन और दो वर्णोंकी कन्याओसे विवाह करनेके अधिकारी है।

इन दोनो उल्लेखोसे स्पष्ट है कि जैनशास्त्रोमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिये असवर्णविवाह ही नही किन्तु शूद्रा तकसे विवाह कर लेना भी उचित ठहराया है। हिन्दुओकी मनुस्मृतिमे भी प्राय: ऐसा ही विधान पाया जाता है। यथा .—

> शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विश: स्मृते।
> ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मन: ॥
>
> —अ० ३, श्लो० १३ वाँ

यह श्लोक आदिपुराणके उक्त श्लोकसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है और इसमे प्रत्येक वर्णके मनुष्योके लिये भार्याओ (विवाहित स्त्रियो) का जो विधान किया गया है वह वही है जो आदिपुराणके उक्त श्लोकमे पाया जाता है। अर्थात् शूद्रकी शूद्रा, वैश्यकी वैश्या और शूद्रा, क्षत्रियकी क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा, और ब्राह्मणकी ब्राह्मणी. क्षत्रिय, वैश्या और शूद्रा, ऐसे अनुलोम-क्रमसे भार्याएँ मानी गई हैं।

मनुस्मृतिके ९ वे अध्यायमे दो श्लोक निम्न प्रकारसे भी पाये जाते है :—

> अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा।
> शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥२३॥
> एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतय:।
> उत्कर्षं योषित प्राप्ता: स्वै: स्वैर्भर्तृगुणै: शुभै: ॥२४॥

इन श्लोकोमे यह बतलाया गया है कि— 'अधम-योनिसे उत्पन्न हुई - निकृष्ट (अछूत) जातिकी - अक्षमाला नामकी स्त्री वसिष्ठ ऋषिसे और शारङ्गी नामकी स्त्री मन्दपाल ऋषिके साथ विवाहित होने पर पूज्यताको प्राप्त हुई। इनके सिवाय और भी दूसरी कितनी

ही हीन जातियोंकी स्त्रियाँ उच्च जातियोके पुरुषोके साथ विवाहित होने पर—अपने अपने भर्तारके शुभ गुणोके द्वारा इस लोकमें उत्कर्षको प्राप्त हुई हैं।" और उन दूसरी स्त्रियोके उदाहरणमें टीकाकार कुल्लूक भट्टजीने "अन्याश्च सत्यवत्यादयो" इत्यादि रूपसे 'सत्यवती' के नामका भी उल्लेख किया है। यह 'सत्यवती,' हिन्दू शास्त्रोंके अनुसार, एक धीवरकी – कैवर्त्य अथवा अन्त्यजकी—कन्या थी। इसकी कुमारावस्थामें पराशर ऋषिने इससे भोग किया और उससे व्यासजी उत्पन्न हुए जो 'कानीन' कहलाते है। बादको यह भीष्मके पिता राजा शान्तनुसे व्याही गई और इस विवाहसे 'विचित्र-वीर्य' नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसे राजगद्दी मिली और जिसका विवाह राजा काशीराजकी पुत्रियोसे हुआ। विचित्रवीर्यके मरने पर उसकी विधवा स्त्रियोंसे व्यासजीने, अपनी माता सत्यवतीकी अनुमतिसे, भोग किया और पाण्डु तथा धृतराष्ट्र नामके पुत्र पैदा किये, जिनसे पाण्डवों आदिकी उत्पत्ति हुई।

इस तरह पर हिन्दूशास्त्रोमे हीन-जातिकी अथवा शूद्रा स्त्रियोसे विवाहके कितने ही उदाहरण पाये जाते है और उनकी संततिसे अच्छे अच्छे पुरुषों तथा वंशोका उद्भव होना भी माना गया है। और जैनशास्त्रोसे म्लेच्छ, भील तथा वेश्या-पुत्रियों जैसे हीनजातिके विवाहोंके उदाहरण विवाहक्षेत्र-प्रकाशके 'म्लेच्छोसे विवाह' आदि प्रकरणोंमें दिये गये है। इन सब उल्लेखोसे प्राचीनकालमें अनुलोम-रूपसे असवर्णविवाहोका होना स्पष्ट पाया जाता है।

अब प्रतिलोमविवाहको भी लीजिये। धर्मसंग्रहश्रावकाचारके ९वे अधिकारमे लिखा है:—

परस्परं त्रिवर्णानां विवाहः पंक्तिभोजनम्।
कर्तव्य न च शूद्रैस्तु शूद्राणां शूद्रकैः सह ॥२५६॥

अर्थात्—प्रथम तीन वर्णवालो (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों) को आपसमें एक दूसरेके साथ विवाह और पंक्ति-भोजन करना चाहिये

किन्तु शूद्रोंके] साथ नही करना चाहिये। शूद्रोंका विवाह और पंक्ति-भोजन शूद्रोंके साथ होना चाहिये।

इस वाक्यके द्वारा यद्यपि, श्रीजिनसेनाचार्यके उक्त कथनसे भिन्न प्रथम तीन वर्णोंके लिये शूद्रोसे विवाहका निषेध किया गया है और उसे मत-विशेष कह सकते है, जो बहुत पीछेका मत है[1]—हिन्दुओंके यहाँ भी इस प्रकारका मत-विशेष पाया जाता है[2]—परन्तु यह स्पष्ट है कि इसमे तीन वर्णोंके लिये परस्पर रोटी-बेटीका खास तौरपर विधान किया गया है। और इससे अनुलोमविवाहके साथ साथ प्रतिलोमविवाहका भी खासा विधान पाया जाता है। अर्थात् क्षत्रियके लिये ब्राह्मणकी और वैश्यके लिये क्षत्रिय तथा ब्राह्मण दोनोकी कन्याओसे विवाहका करना उचित ठहराया गया है। जैनकथा-ग्रन्थोसे भी प्रतिलोमविवाहका बहुत कुछ पता चलता है, जिसके दो एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

(१) वसुदेवजीने, जो स्वयं क्षत्रिय थे, विश्वदेव ब्राह्मणकी क्षत्रिय-स्त्रीसे उत्पन्न 'सोमश्री' नामकी कन्यासे—उसे वेदविद्यामे जीतकर—विवाह किया था। जैसा कि श्रीजिनसेनचार्यकृत हरिवंश-पुराण (२३ वे सर्ग) के निम्न वाक्योसे प्रकट है.—

अन्वये तत्तु जातेयं क्षत्रियायां सुकन्यका।
सोमश्रीरिति विख्याता विश्वदेवद्विजन्मिनः ॥४६॥

---

१ क्योकि धर्मसग्रहश्रावकाचार' वि० स० १५४१ मे बनकर समाप्त हुआ है और इसलिये वह जिनसेनके हरिवशपुराण से ७०१ वर्ष बादका बना हुआ है।

२ अत्रि आदि ऋषियोके इस मत-विशेषका उल्लेख मनुस्मृतिके निम्न वाक्यमे भी पाया जाता है :—

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगो.॥ ३-१६ ॥

करालब्रह्मदत्तेन मुनिना दिव्यचक्षुषा ।
वेदे जेतुः समादिष्टा महतः सहचारिणी ॥५०॥
इति श्रुत्वा तदाधीत्य सर्वान्वेदान्यदूत्तमः ।
जित्वा सोमश्रियं श्रीमानुपयेमे विधानतः ॥५१॥

इन वाक्योंसे अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकारके विवाहोंका उल्लेख मिलता है।

(२) श्रीकृष्णने अपने भाई गजकुमारका विवाह, क्षत्रिय राजाओंकी कन्याओंके अतिरिक्त, सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्री 'सोमा'से भी किया था, जिसका उल्लेख जिनसेनाचार्य और जिनदास ब्रह्मचारी दोनोंके हरिवंशपुराणोंमें पाया जाता है। यहाँ जिनदास ब्र० के हरिवंश पुराणसे एक पद्य नीचे दिया जाता है:—

मनोहरतरां कन्यां सोमशर्माग्रजन्मनः ।
सोमाख्यां वृत्तवांश्चक्री क्षत्रियाणां तथा पराः ॥३४-२६॥

(३) उज्जयिनीके वैश्य-पुत्र 'धन्यकुमार' का विवाह राजा श्रेणिककी पुत्री 'गुणवती' के साथ हुआ था। अपना कुल पूछा जाने पर इन्होने राजा श्रेणिकसे साफ़ कह दिया था कि मैं उज्जयिनीका रहनेवाला एक वैश्यपुत्र हूँ और तीर्थयात्राके लिये निकला हुआ हूँ। इस पर श्रेणिकने गुणवती आदि १६ कन्याओंके साथ इनका विवाह किया था। जैसा कि रामचन्द्र-मुमुक्षु-कृत 'पुण्यास्रवकथा-कोश'से प्रकट है :—

राजा (श्रेणिकः) ऽभयकुमारादिभिरर्द्धपथमाययौ ।
राजभवनं प्रवेश्य किं कुलो भवानिति पप्रच्छ ॥
कुमारो ब्रूते उज्जयिन्यां वैश्यात्मजो तीर्थयात्रिकः ।
ततो नृपो गुणवत्यादिभिः षोडशकन्याभिस्तस्य विवाह चकार ॥

इसी पुण्यास्रवकथाकोशमें 'भविष्यदत्त' नामके एक वैश्यपुत्रकी भी कथा है, जिसनें हरिपुरके अरिजय राजाकी पुत्री 'भविष्यानुरूपा'से और हस्तिनापुरके राजा भूपालकी कन्या 'स्वरूपा'से विवाह

किया था और जिसके उल्लेखोको विस्तार-भयसे यहाँ छोडा जाता है।

(४) इसी तरह पर हिन्दूधर्मके ग्रन्थोंमे भी प्रतिलोमविवाहके उदाहरण पाये जाते है जिसका एक नमूना 'ययाति' राजाका उशना ब्राह्मण (शुक्राचार्य) की 'देवयानी' कन्यासे विवाह है। यथा'—

तेषां ययाति. पच नांविजित्य वसुधामिमाम्।
देवयानीमुशनसः सुतां भार्यामवाप सः॥

—महाभा० हरि० अ० ३० वाँ

इसी विवाहसे यदु' पुत्रका होना भी माना गया है, जिससे यदु-वंश चला।

इन सव उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि प्राचीन कालमे अनुलोमरूपसे ही नही किन्तु प्रतिलोम रूपसे भी असवर्ण-विवाह होते थे। दाय-भागके ग्रन्थोंसे भी असवर्णविवाहकी रीतिका वहुत कुछ पता चलता है—उनमे ऐसे विवाहोंसे उत्पन्न होने वाली सतांतके लिये विरासतके नियम दिये है, जिनके उल्लेखोको भी यहाँ विस्तार-भयसे छोड़ा जाता है। अस्तु; वर्णकी 'जाति' संज्ञा होने से असवर्ण विवाहो-को अन्तर्जातीय विवाह भी कहते है। जब भारतकी इन चार प्रधान जातियोमें अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे तव इन जातियोंसे बनी हुई अग्रवाल, खंडेलवाल, पल्लीवाल, ओसवाल और परवार आदि उपजातियोमे, समान वर्ण तथा धर्मके होते हुए भी, परस्पर विवाह न होना क्या अर्थ रखता है और उसके होनेमें कौन सा सिद्धान्त बाधक है यह कुछ समझमे नही आता। जान पडता है यह सब आपसकी खीचातानी और परस्परके ईर्षाद्वेषादिका परिणाम है—वास्तविक हानि-लाभ अथवा किसी धार्मिक सिद्धान्तसे इसका कोई सम्बन्ध नही है। वर्णोंकी दृष्टिको छोड़कर यदि उपजातियोकी दृष्टि को ही लिया जाय तो उससे भी यह नही कहा जा सकता कि पहले उपजातियोमे विवाह नही होता था। आर्य-जातिकी अपेक्षा म्लेच्छ-

जाति भिन्न है और म्लेच्छोंमें भी भील, शक, यवन, शबरादिक कितनी ही जातियाँ हैं। जब आर्योंका म्लेच्छों अथवा भीलादिकोंसे विवाह होता था तो वह भी अन्तर्जातीय विवाह था और बहुत बड़ा अन्तर्जातीय विवाह था। उसके मुकाबलेमें तो यह आर्यो-आर्योकी जातियों अथवा उपजातियोंके अन्तर्जातीय-विवाह कुछ भी गणनामें गिने जानेके योग्य नही है। इसके सिवाय पहले भूमिगोचरियोके साथ विद्याधरोके विवाह-सम्बंधका आम दस्तूर था, और उनकी कितनी ही जातियोंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है। वसुदेवजीने भी अनेक विद्याधर-कन्याओंसे विवाह किया था, जिसमे एक 'मदन-वेगा' भी थी और वह श्रीजिनसेनाचार्यके कथनानुसार गौरिक जातिके विद्याधरकी कन्या थी। वसुदेवजी स्वयं गौरिक जातिके नहीं थे और इसलिये गौरिक जातिकी विद्याधर-कन्यासे विवाह करके उन्होंने उपजातियोकी दृष्टिसे भी स्पष्ट रूपसे अन्तर्जातीय विवाह किया था, इसमें सदेह नही है। आबूके तेजपाल-वस्तुपालवाले जैन मंदिरमें एक शिलालेख संवत् १२६७ का लिखा हुआ है, जिससे मालूम होता है कि प्राग्वाट (पोरवाड) जातिके तेजपाल जैनका विवाह 'मोढ' जातिकी सुहडादेवीसे हुआ था। इस लेखका एक अंश जो जैनमित्र (ता० २३ अप्रैल सन १९२५) में प्रकाशित हुआ, इस प्रकार है :--

"ॐ संवत १२६७ वर्ष वैशाख सुदी १४ गुरौ प्राग्वाट ज्ञातीन चंड प्रचंड प्रसादमहं श्री सोमान्वये महं श्रीअसराज सुत महं श्रीतेज-पालेन श्रीमत्पत्तन वास्तव्य मोढ ज्ञातीय ठ० जाल्हण सुत ठ० आस-सुताया ठकुराज्ञी संतोषा कुक्षिसंभूताया: महश्री तेज.पाल द्वितीय भार्या महंश्री सुहडादेवया: श्रेयार्थं .... "

यह आधुनिक उपजातियोंमें, आजसे करीब ७०० वर्ष पहलेके अन्तर्जातीय-विवाहका एक नमूना है और तेजपाल नामके एक बड़े ही प्रतिष्ठित तथा धर्मात्मा पुरुष-द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसी

तरहके और भी कितने ही नमूने खोज करने पर मिल सकते है। कुछ उपजातियोमे तो अब भी अन्तर्जातीय विवाह होता रहता है।

ऐसी हालतमे इन अग्रवाल, खडेलवाल आदि जातियोमे परस्पर विवाह न होनेके लिये सिद्धान्तकी दृष्टिसे, क्या कोई युक्तियुक्त कारण प्रतीत होता है, इसका पाठक स्वयं अनुभव कर सकते है। साथ ही, यह भी जान सकते हैं कि दो जातियोंमे परस्पर विवाह सम्वंध होनेसे उन जातियोका लोप होना अथवा जाति-पाँतिका मेटा जाना कैसे वन सकता है ? क्या दो भिन्न गोत्रोमे विवाह सम्वन्ध होनेसे वे मिट जाते है या उनका लोप हो जाता है ? यदि ऐसा कुछ नही होता तो फिर दो जातियोमे परस्पर विवाहके होनेसे उनके नाशकी आशका कैसे की जा सकती है ? अतः इस प्रकारकी चिन्ता व्यर्थ है। जहाँ तक हम समझते हैं एक ही धर्म और आचारके मानने तथा पालनेवाली प्राय. इन सभी उपजातियोमें परस्पर विवाहके होनेसे कोई हानि मालूम नही होती। प्रत्युत इसके, विवाह-क्षेत्रके विस्तीर्ण होनेसे योग्य सम्बन्धोके लिये मार्ग खुलता है. पारस्परिक प्रेम बढता है, योग्यताके बढ़ानेकी ओर प्रवृत्ति होती है और मृत्युशय्यापर पड़ी हुई कितनी ही अल्पसख्यक जातियोकी प्राणरक्षा भी होती है। वास्तवमे ये सव जातियाँ परिकल्पित और परिवर्तनशील है—एक अवस्थामे न कभी रही और न रहेगी—इनमें गो-अश्वादि जातियो-जैसा परस्पर कोई भेद नही है और इसलिये अपनी जातिका अहंकार करना अथवा उसे श्रेष्ठ तथा दूसरी जातिको अपनेसे हीन मानना मिथ्या है। प० आशाधरजीने भी, अपने अनगारधर्मामृत ग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञ टीकामें कुल-जाति-विषयक ऐसी अहंकृतिको मिथ्या ठहराया है और, उसे आत्म-पतनका हेतु तथा नीचगोत्रके वन्धका कारण बतलाया है। साथ ही, अपने इस मिथ्या ठहरानेका यह हेतु देते हुए कि 'परमार्थसे जाति-कुलकी शुद्धिका कोई निश्चय नही वन सकता'—यह नही कहा जा सकता कि अमुक जाति अथवा

कुलकी रक्त-शुद्धि बिना किसी मिलावटके, अक्षुण्ण चली आती है-उसकी पुष्टिमें नीचे लिखा वाक्य उद्धृत किया है:—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे ।
कुले च कामिनी-मूले का जाति-परिकल्पना ॥

और इस वाक्यके द्वारा यह सूचित किया है कि 'जब ससारमें अनादिकालसे कामदेव दुर्निवार चला आता है और कुलका मूल भी कामिनी है, तब किसी 'जाति-कल्पना' को क्या महत्व दिया जा सकता है और उसके आधार पर किसीको क्या मद करना चाहिये?' अतः जाति-विषयक मद त्याज्य है। उसके कारण कमसे कम साधर्मियों अथवा समान आचारको पालनेवाली इन उपजातियोंमें पारस्परिक (अन्तर्जातीय) सद्विवाहोंके लिये तो कोई रुकावट न होनी चाहिये।

२१

जाति-पंचायतोंका दंड-विधान

आजकल हमारे बहुधा जैनी भाई अपने अनुदार विचारोके कारण जरा जरासी बात पर अपने जाति-भाइयोको, जातिसे च्युत अथवा बिरादरीसे खारिज करके उनके धार्मिक अधिकारोंमें भी हस्तक्षेप करके उन्हे सन्मार्गसे पीछे हटा रहे है, और इस तरह अपनी जातीय तथा सघ-शक्तिको निर्बल और नि.सत्व बनाकर अपने ऊपर अनेक प्रकारकी विपत्तियोको बुलानेके लिये कमर कसे हुए है। लोगोको, चारुदत्त सेठके उदाहरण पर ध्यान देते हुए---उसके साथ उस वक्तकी बिरादरीके किए हुए सलूक और उसके सत्फलको देखते हुए--दडविधानके ऐसे अवसरों पर बहुत ही सोच-समझ और गहरे विचार तथा दूरदृष्टिसे काम लेना चाहिए । यदि वे पतितोका स्वयं उद्धार नही कर सकते हों तो उन्हे कमसे कम पतितोके उद्धार-में बाधक तो नही बनना चाहिये और न ऐसा अवसर ही देना चाहिये जिससे पतितजन और भी अधिकताके साथ पतित हो जाँय। किसी पतित भाईके उद्धारकी चिन्ता न कर उसे जातिसे खारिज कर देना और उसके धार्मिक अधिकारोंको भी छीन लेना ऐसा कर्म है जिससे वह पतित भाई सुधारका अवसर न पाकर और भी ज्यादा पतित हो जाय अथवा यो कहिये कि वह डूबतेको ठोकर मारकर शीघ्र डुबो देनेके समान है। तिरस्कारसे प्राय कभी किसीका सुधार नही होता

उससे तिरस्कृत व्यक्ति अपने पापकार्यमें और भी दृढ हो जाता है और तिरस्कारीके प्रति उसकी ऐसी शत्रुता बढ़ जाती है जो जन्म-जन्मान्तरोंमें अनेक दुःखों तथा कष्टोंका कारण होती हुई दोनोंके उन्नति-पथमें बाधा उपस्थित कर देती है। हाँ, सुधार होता है, प्रेम उपकार और सद्व्यवहारसे। यदि चारुदत्तके कुटुम्बीजन अपने इन गुणों और उदार-परिणतिके कारण, वसन्तसेनाको चारुदत्तके पीछे अपने यहाँ आश्रय न देते बल्कि यह कहकर दुतकार देते कि 'इस पापिनीने हमारे चारुदत्तका सर्वनाश किया है, इसकी सूरत भी नहीं देखनी चाहिये और न इसे अपने द्वार पर खड़े ही होने देना चाहिये' तो बहुत संभव था कि वह निराश्रित-दशामें मजबूर होकर अपनी माताके ही पास जाती और वेश्यावृत्तिके लिये मजबूर होती, और तब उसका वह सुन्दर श्राविकाका जीवन न बन पाता जो उन लोगोंके प्रेमपूर्वक आश्रय देने और सद्व्यवहारसे बन सका था। इसलिये सुधारके अर्थ प्रेम, उपकार और सद्व्यवहारको अपनाना चाहिये, इसकी नितान्त आवश्यकता है। पापीसे पापीका भी सुधार हो सकता है, परन्तु सुधारक होना चाहिये। ऐसा कोई भी पुरुष नही है जो स्वभावसे ही 'अयोग्य' हो परन्तु उसे योग्यताकी ओर लगानेवाला 'योजक' होना चाहिये, उसीका मिलना कठिन है। नीतिकारोंने कहा है:—

अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः।

जो जाति अपने किसी अपराधी व्यक्तिको जातिसे खारिज करती है और इस तरह उसके व्यक्तित्वके प्रति भारी घृणा और तिरस्कारके भाव प्रदर्शित करती है, समझना चाहिये कि वह स्वयं उसका सुधार करनेके लिये असमर्थहै,अयोग्य है और उसमें योजक-शक्ति नहीं है साथही,इस कृतिके द्वारा वह सर्वसाधारणमें अपनी अयोग्यता और अशक्तिकी घोषणा कर रही है—इतना ही नही, बल्कि अपनी स्वार्थ-साधुताको भी प्रगट कर रही है। ऐसी अयोग्य और असमर्थ जातिका,

जो अपनेको थाम भी नही सकती,क्रमशः पतन होना कुछ भी अस्वाभाविक नही है। पापीका सुधार वही करसकता है जो पापीके व्यक्तित्वसे घृणा नही करता वल्कि पापसे घृणा करता है। पापीसे घृणा करनेवाला पापीके पास नही फटकता, वह सदैव उससे दूर रहता है और उन दोनोके बीच मीलोकी गहरी खाई पड़ जाती है। इससे वह पापीका कभी भी कुछ सुधार या उपकार नही कर सकता। प्रत्युत इसके, जो पापसे घृणा करता है वह सद्वैद्यकी तरह हमेशा पापीके (रोगीके) निकट होता है और बराबर उसके पाप (रोग) को दूर करने का यत्न करता रहता है। यही दोनोमे भारी अन्तर है। आजकल अधिकाश जन पापसे तो घृणा नही करते परन्तु पापीसे घृणाका भाव जरूर दिखलाते है, अथवा घृणा करते है। इसीसे ससारमे पापकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है और उसकी शान्ति होनेमें नही आती। वहुधा जाति-बिरादरियो अथवा पंचायतियोकी प्रायः ऐसी नीति पाई जाती है कि वे अपने जाति-भाइयोको पापकर्मसे तो नही रोकती और न उनके मार्गमे कोई अर्गला ही उपस्थित करती है, वल्कि यह कहती है कि 'तुम सिंगल–इकहरा पाप मत करो,बल्कि डबल–दोहरा पाप करो, डबल पाप करनेसे तुम्हे कोई दड नहीं मिलेगा, सिगल पाप करने पर तुम जातिसे खारिज हो जाओगे। अर्थात् वे अपने व्यवहारसे उन्हे यह शिक्षा दे रही है कि 'तुम चाहे जितना बडा पाप करो, हम तुम्हे पाप करनेसे नही रोकती, परन्तु पाप करके यह कहो कि हमने नही किया,पापको छिपाकर करो और उसे छिपानेके लिये जितना भी मायाचार तथा असत्य-भाषणादि दूसरा पाप करना पड़े उसकी तुम्हे छुट्टी है, तुम खुशीसे व्यभिचार कर सकते हो, परन्तु वह स्थूलरूपमे किसी पर जाहिर न हो; भले ही इस कामके लिये रोटी बनानेवालीके रूपमें किसी स्त्रीको रखलो, परन्तु इससे अपना अनुचित सम्बन्ध मत जाहिर होने दो और यदि तुम्हारें फेल (कर्म)से किसी विधवाको गर्भ रह जाय तो

खुशीसे उसकी भ्रूण-हत्या कर डालो, अथवा बालक प्रसव कराकर उसे कही जंगल आदिमें डाल आओ या मार डालो, परन्तु खुले रूपमें जाति-बिरादरीके सामने यह बात न आने दो कि तुमने उस विधवाके साथ सम्बन्ध किया है, इसीमें तुम्हारी ख़ैर है—मुक्ति है और नही तो जातिसे खारिज कर दिए जाओगे। जाति-विरादरियों अथवा पंचायतियोकी ऐसी नीति और व्यवहारके कारण ही आज कल भारतवर्षका और उसमे भी उच्च कहलानेवाली जातियोंका बहुत ही ज्यादा नैतिक पतन हो रहा है। ऐसी हालतमें पापियोका सुधार और पतितोंका उद्धार कौन करे,यह एक बड़ी कठिन समस्या उपस्थित है।

एक बात और भी नोट किए जाने योग्य है और वह यह कि यदि कोई मनुष्य पापकर्म करके पतित होता है तो उसके लिए इस बातकी खास जरूरत रहती है कि वह अपने पापका प्रायश्चित्त करनेके लिये अधिक धर्म करे, उसे ज्यादह धर्मकी ओर लगाया जाय और अधिक धर्म करनेका मौका दिया जाय, परन्तु आजकल कुछ जैन जातियों और जैन पचायतोकी ऐसी उल्टी रीति पाई जाती है कि वे ऐसे लोगोंको धर्म करनेसे रोकते है—उन्हे जिनमन्दिरोमें जाने नही देते अथवा वीतराग भगवानकी पूजा-प्रक्षाल नही करने देते; और भी कितनी ही आपत्तियाँ उनके धार्मिक अधिकारोंपर खड़ी कर देते है। समझमें नही आता यह कैसी पापोसे घृणा और धर्मसे प्रीति, अथवा पतितोंके उद्धारकी इच्छा है !! और किसी बिरादरी या पंचायतको किसीके धार्मिक अधिकारोमें हस्तक्षेप करनेका क्या अधिकार है ?

जैनियोमें अविरत-सम्यग्दृष्टिका भी एक दर्जा (चतुर्थ गुणस्थान) है। और अविरतसम्यग्दृष्टि उसे कहते है जो इन्द्रियोके विषयो तथा त्रस-स्थावर जीवोकी हिंसासे विरक्त नही होता—अथवा यो कहिये कि इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम नामक दोनों संयमोमेंसे किसी

भी सयमका धारक नही होता, परन्तु जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमे श्रद्धा जरूर रखता है[1]। ऐसे लोग भी जब जैनी होते है और सिद्धान्ततः जैनमन्दिरोंमे जाने तथा जिनपूजनादि करनेके अधिकारी हैं[2] तब एक श्रावकसे जो जैनधर्मका श्रद्धानी है, चारित्रमोहनीय कर्मके तीव्र-उदयवश यदि कोई अपराध बन जाता है तो उसकी हालत अविरत-सम्यग्दृष्टिसे और ज्यादह क्या खराब हो जाती है, जिसके कारण उसे मन्दिरमे जाने आदिसे रोका जाता है। जान पड़ता है कि इस प्रकारके दड-विधान केवल नासमझी और पारस्परिक कषाय-भावोंसे सम्बन्ध रखते है। अन्यथा, जैनधर्ममें तो सम्यग्दर्शनसे युक्त (सम्यग्दृष्टि) चाण्डालके पुत्रको भी 'देव' कहा है—आराध्य वतलाया है। और उसकी दशा उस अंगारके सदृश प्रतिपादन की है जो वाह्यमें भस्मसे आच्छादित होनेपर भी अतरगमे तेज तथा प्रकाशको लिए हुए है और इसलिये कदापि उपेक्षणीय नही होता[3]। इसीसे बहुत प्राचीन समयमें,जब जैनियोका हृदय सच्ची धर्मभावनासे प्रेरित होकर उदार था और जैनधर्मकी उदार (अनेकान्तात्मक) छत्रछायाके नीचे सभी लोग एकत्रित थे, मातंग (चाण्डाल) भी जैन मन्दिरोमे जाया करते थे और भगवानका दर्शन-पूजन करके अपना

---

१ णोइंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहइ जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ २९ ॥
—गोम्मटसार

२ जिन-पूजाके कौन कौन अधिकारी हैं, इसका विस्तृत और प्रामाणिक कथन लेखककी लिखी हुई 'जिनपूजनाऽधिकार-मीमासा' से जानना चाहिये।

३. सम्यग्दर्शन-सम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्म गूढांगारान्तरोजसम् ॥
—रत्नकरण्डे, स्वामिसमन्तभद्रः

जन्म सफल किया करते थे । इस विषयका अच्छा उल्लेख श्री-जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराण (सर्ग २६) में पाया जाता है और वह इस प्रकार है :—

"सस्त्रीकाः खेचरा याताः सिद्धकूट-जिनालयम् ।
एकदा वंदितुं सोपि शौरिर्मदनवेगया ॥ २ ॥
कृत्वा जिनमहं खेटाः प्रवन्द्य प्रतिमागृहम् ।
तस्थुः स्तंभानमाश्रित्य बहुवेषा यथायथम् ॥ ३ ॥
विद्युद्वेगोपि गौरीणां विद्यानां स्तम्भमाश्रितः ।
कृतपूजास्थितः श्रीमान्स्वनिकायपरिष्कृतः ॥ ४ ॥
पृष्टया वसुदेवेन ततो मदनवेगया ।
विद्याधरनिकायास्ते यथास्वमिति कीर्तिताः ॥ ५ ॥"

"अमी विद्याधरा ह्यार्याः समासेन समीरिताः ।
मातंगानामपि स्वामिन्निकायान् शृणु वच्मि ते ॥ १४ ॥
नीलाम्बुदचयश्यामा नीलाम्बरवरस्रजः ।
अमी मातगनामानो मातगस्तंभ-संगताः ॥ १५ ॥
श्मशानास्थिकृतोत्तंसा भस्मरेणु-विधूसराः ।
श्मशाननिलयास्त्वेते श्मशानस्तंभमाश्रिताः ॥ १६ ॥
नीलवैडूर्यवर्णानि धारयन्त्यंबराणि ये ।
पांडुरस्तंभमेत्यामी स्थिताः पांडुकखेचराः ॥ १७ ॥
कृष्णाऽजिनधरास्त्वेते कृष्णचर्माम्बरस्रजः ।
कालनीलस्तंभमध्येत्य स्थिताः कालश्वपाकिनः ॥ १८ ॥
पिंगलैर्मूर्धजैर्युक्तास्तप्तकांचनभूषणाः ।
श्वपाकीनां च विद्यानां श्रिताः स्तंभं श्वपाकिनः ॥ १९ ॥
पत्रपर्णांशुकच्छन्न-विचित्र-मुकुट-स्रजः ।
पार्वतेया इति ख्याता पार्वतस्तंभमाश्रिताः ॥ २० ॥
वंशीपत्रकृतोत्तंसाः सर्वर्तुकुसुमस्रजः ।
वंशस्तंभाश्रिताश्चैते खेटा वंशालया मताः ॥ २१ ॥

महाभुजगशोभांकसंदृष्टवरभूषणाः ।
वृक्षमूलमहास्तभमाश्रिता वार्क्षमूलकाः ॥ २२ ॥
स्ववेषकृतसंचारा' स्वचिन्हकृतभूषणाः ।
समासेन समाख्याता निकाया' खचरोद्गताः ॥ २३ ॥
इति भार्योपदेशेन ज्ञातविद्याधरान्तर' ।
शौरिर्यातो निज स्थान खेचराश्च यथायथम् ॥ २४ ॥"

इन पद्योका अनुवाद पं० गजाधरलाजीने अपने भापा हरिवंग-पुराण[1]मे निम्नप्रकार दिया है.—

"एक दिन समस्त विद्याधर अपनी अपनी स्त्रियोके साथ सिद्ध-कूट चैत्यालयकी वन्दनार्थ गये । कुमार (वसुदेव) भी प्रियतमा मदन-वेगाके साथ चल दिये ॥२॥ सिद्धकूटपर ज़ाकर चित्र-विचित्र वेषोके धारण करनेवाले विद्याधरोने सानन्द भगवानकी पूजा की, चैत्या-लयको नमस्कार किया एवं अपने अपने स्तभोका सहारा लेकर जुदे-जुदे स्थानोपर बैठ गये । कुमारके श्वसुर विद्युद्वेगने भी अपनी जातिके गौरिक निकायके विद्याधरोके साथ भले प्रकार भगवानकी पूजा की और अपनी गौरी विद्याओके स्तंभका सहारा लेकर बैठ गए । कुमारको विद्याधरोकी जातिके जाननेकी उत्कठा हुई, इसलिये उन्होने उनके विषयमे प्रियतमा मदनवेगासे पूछा और मदनवेगा यथायोग्य विद्याधरोकी जातियोका इस प्रकार वर्णन करने लगी:—"

"प्रभो ! ये जितने विद्याधर है वे सब आर्यजातिके विद्याधर है । अब मैं मातंगजातिके विद्याधरोको बतलाती हूँ आप ध्यान-पूर्वक सुने ।"

"नीलमेघके समान श्याम नीली माला धारण किये, मातगस्तभ के सहारे बैठे हुए ये मातगजातिके विद्याधर है ॥ १४-१५ ॥ मुर्दो-की हड्डियोके भूषणोसे भूपित, भस्म (राख) की रेणुओसे मटमैले

---

१. देखो, सन् १९१६ का छपा सस्करण पृष्ठ २८४, २८५ ।

और श्मशान (स्तंभ) के सहारे बैठे हुए ये श्मशान-जातिके विद्याधर है ॥१६॥ वैडूर्यमणिके समान नीले नीले वस्त्रोको धारण किए पाँडुर-स्तंभके सहारे बैठे हुए ये पाडुकजातिके विद्याधर है ॥१७॥ काले काले मृगचर्मोको ओढै, काले चमड़ेके वस्त्र और मालाओंको धारे कालस्तंभका आश्रय लेकर बैठे हुए ये कालश्वापाकी जातिके विद्याधर है ॥१८॥ पीले वर्णके केशोसे भूषित, तप्तस्वर्णके भूषणोके धारक श्वपाकविद्याओंके स्तंभके सहारे वैठनेवाले ये श्वपाकजातिके विद्याधर है ॥१९॥ वृक्षोके पत्तोके समान हरे वस्त्रोको धारण करनेवाले, भाति-भातिके मुकुट और मालाओके धारक पर्वतस्तंभका सहारा लेकर बैठे हुए ये पार्वतेयजातिके विद्याधर है ॥२०॥ जिनके भूषण बांसके पत्तोंके बने हुए है, जो सब ऋतुओके फूलोंकी मालाएं पहिने हुए है और वंशस्तंभके सहारे बैठे हुए है वे वंशालयजातिके विद्याधर है ॥२१॥ महासर्पके चिन्होसे युक्त उत्तमोत्तम भूषणोंको धारण करनेवाले वृक्षमूल नामक विशाल स्तभके सहारे बैठे हुए ये वार्क्षमूलकजातिके विद्याधर है ॥२२॥ इस प्रकार रमणी मदनवेगा-द्वारा अपने अपने वेष और चिन्ह-युक्त भूषणोसे विद्याधरोंका भेद जानकर कुमार अति प्रसन्न हुए और उसके साथ अपने स्थान चले आए, एव अन्यविद्याधर भी अपने अपने स्थान चले गए ।”

इस उल्लेखपरसे इतना ही स्पष्ट मालूम नही होता कि मातंग जातियोके चाडाल लोग भी जैन मन्दिरोमे जाते और पूजन करते थे; बल्कि यह भी मालूम होता है कि श्मशानभूमिकी हड्डियोके आभूषण पहने हुए तथा मृगछाल ओढ़े, चमड़ेके वस्त्र पहिने और चमड़ेकी मालाएँ हाथमे लिये हुए भी जैनमन्दिरोमें जा सकते थे[1] ।

---

१. यहाँ किसीको यह समझने की भूल न करना चाहिये कि लेखक आजकल ऐसी अपवित्र दशामे मन्दिरोमे जानेकी प्रवृत्ति चलाना चाहता है ।

ग्रौर न केवल जा ही सकते थे बल्कि ग्रपनी शक्ति ग्रौर भक्तिके ग्रनुसार पूजाकरनेके बाद उनके वहाँ बैठनेके लिये स्थान भी नियत था, जिससे उनका जैन मन्दिरमें जानेका ग्रौर ज्यादा नियत ग्रधिकार पाया जाता है[1]। जान पडता है उस समय सिद्धकूट–जिनालयमे प्रतिमागृहके सामने एक बहुत बडा विशाल मडप होगा ग्रौर उसमें स्तभोके विभागसे सभी ग्रार्य-ग्रनार्य-जातियोके लोगोके बैठनेके लिये जुदा जुदा स्थान नियत कर रक्खे होगे। ग्राजकल जैनियोंमे उक्त सिद्धकूट-जिनालयके ढंगका, उसकी नीतिका ग्रनुसरण करनेवाला, एक भी जैन मन्दिर नही है[2]। लोगोंने बहुधा जैन मन्दिरोंको देव-सम्पत्ति न समझकर ग्रपनी घरू सम्पत्ति समझ रक्खा है, उन्हें ग्रपनी ही चहल-पहल तथा ग्रामोद-प्रमोदादिके एक प्रकारके साधन बना रक्खा है। वे प्राय उन महौदार्य-सम्पन्न लोक-पिता वीतराग भगवानके मन्दिर नही जान पड़ते, जिनके समवसरणमें पशु तक भी जाकर बैठते थे। ग्रौर न वहाँ, मूर्तिको छोड़कर, उन पूज्य पिताके वैराग्य, ग्रौदार्य तथा साम्यभावादि गुणोका कही कोई ग्रादर्श ही नजर ग्राता है। इसीसे वे लोग उनमे चाहे जिस जैनीको ग्राने देते

---

१. श्रीजिनसेनाचार्यने ९ वी शताब्दीके वातावरणके ग्रनुसार भी ऐसे लोगोका जैनमन्दिरमे जाना ग्रादि ग्रापत्तिके योग्य नही ठहराया ग्रौर न उससे मदिरके ग्रपवित्र हो जानेको ही सूचित किया। इससे क्या यह न समझ लिया जाय कि उन्होने ऐसी प्रवृतिका ग्रभिनन्दन किया है ग्रथवा उसे बुरा नही समझा ?

२ चादनपुर श्रीमहावीरजीके मन्दिरमे तो वर्षभरमे दो एक दिन के लिये यह हवा ग्रा जाती है कि सभी ऊँच-नीच जातियोंके लोग बिना किसी रुकावटके ग्रपने प्राकृत वेषमे—जूते पहने ग्रौर चमड़े-के ढोल ग्रादि चीजे लिए हुए वहाँ चले जाते हैं, ग्रौर ग्रपनी भक्तिके ग्रनुसार दर्शन पूजन तथा परिक्रमण कर वापिस ग्राते है।

है और चाहे जिसको नही। कई ऐसे जैन मन्दिर भी देखनेमें आए हैं जिनमें ऊनी वस्त्र पहिने हुए जैनियोंको भी घुसने नही दिया जाता! इस अनुदारता और कृत्रिम धर्मभावनाका भी कही कुछ ठिकाना है। ऐसे सब लोगोंको खूब याद रखना चाहिये कि दूसरोंके धर्म-साधनमे विघ्न करना, बाधक होना, उनका मन्दिर जाना बन्द करके उन्हे देव-दर्शनादिसे विमुख रखना और इस तरह पर उनकी आत्मोन्नतिमें रुकावट डालना बहुत बड़ा भारी पाप है। अजनासुन्दरीने अपने पूर्व जन्ममें थोड़े ही कालके लिये जिनप्रतिमाको छिपाकर अपनी सौतके दर्शन-पूजनमें अन्तराय डाला था, जिसका परिणाम यहाँ तक कटुक हुआ कि उसको अपने इस जन्ममें २२ वर्ष तक पतिका दुःसह वियोग सहना पड़ा और अनेक सकट तथा आपदाओंका सामना करना पड़ा, जिनका पूर्ण विवरण श्रीरविषेणाचार्य-कृत पद्मपुराणके देखनेसे मालूम हो सकता है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने अपने 'रयणसार' ग्रन्थमें यह स्पष्ट बतलाया है कि 'दूसरोके पूजन और दान-कार्यमें अन्तराय (विघ्न) करनेसे जन्म-जन्मान्तरमें क्षय, कुष्ट, शूल, रक्तविकार, भगंदर जलोदर, नेत्रपीड़ा. शिरोवेदना आदि रोग तथा शीत-उष्णके आताप और कुयोनियोमें परिभ्रमण आदि अनेक दुःखोंकी प्राप्ति होती है। यथा:—

खय-कुट्ठसूलमूलो लोयभगंदरजलोदरक्खिसिरो।
सीदुण्ह बह्मराई पूजादाणंतराय-कम्मफलं॥ ३३॥

इसलिये जो कोई जाति-बिरादरी अथवा पंचायत किसी जैनीको जैनमन्दिरमें न जाने अथवा जिनपूजादि धर्म-कार्योंसे वचित रखनेका दंड देती है वह अपने अधिकारका अतिक्रमण और उल्लंघन ही नही करती, बल्कि घोर पापका अनुष्ठान करके स्वय अपराधिनी बनती है। ऐसी जाति-बिरादरियोके पंचोकी निरकुशताके विरूद्ध आवाज उठनेकी जरूरत है और उसका वातावरण ऐसे ही लेखोके द्वारा पैदा किया जा सकता है। आजकल जैन पंचायतोने 'जाति-

बहिष्कार' नामके तीक्ष्ण हथियारको जो एक खिलौनेकी तरह अपने हाथमें ले रक्खा है और विना उसका प्रयोग जाने तथा अपने बलादिक और देश-कालकी स्थितिको पहचाने जहाँ तहाँ यद्वा तद्वा रूपमे उसका व्यवहार किया जाता है वह धर्म और समाजके लिये बड़ा ही भयकर तथा हानिकारक है। इस विषयमें श्रीसोमदेवसूरि अपने 'यशास्तिलक' ग्रन्थ (शक स० ८८१) मे लिखते है :—

> नवैः सदिग्ध-निर्वाहै र्विदध्याद्गणवर्धनम्।
> एकदोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नर ॥
> यत' समयकार्यार्थी नाना-पचजनाश्रयः।
> अत' सबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत्॥
> उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद्दूरतरो नरः।
> ततस्तस्य भवो दीर्घ. समयोऽपि च हीयते ॥

इन पद्योंका आशय इस प्रकार है : -

'ऐसे ऐसे नवीन मनुष्योसे अपनी जातिकी समूह-वृद्धि करनी चाहिये जो सदिग्धनिर्वाह है—अर्थात् जिनके विषयमे यह सन्देह है कि वे जातिके आचार-विचारका यथेष्ट पालन कर सकेगे। (और जब यह बात है तब) किसी एक दोषके कारण कोई विद्वान जातिसे बहिष्कारके योग्य कैसे हो सकता है ? चूँकि सिद्धान्ताचार-विषयक धर्म-कार्योंका प्रयोजन नाना पंचजनोके आश्रित है—उनके सहयोगसे सिद्ध होता है—अत. समझाकर जो जिस कामके योग्य हो उसको उसमें लगाना चाहिये—जातिसे पृथक न करना चाहिये। यदि किसी दोषके कारण एक व्यक्तिकी—खासकर विद्वानकी – उपेक्षा कीजाती है—उसे जातिमे रखनेकी पर्वाह न करके जातिसे पृथक किया जाता है– तो इस उपेक्षासे वह मनुष्य तत्त्वसे बहुत दूर जा पड़ता है। तत्त्वसे दूर जा पड़नेके कारण उसका संसार बढ जाता है और धर्मकी भी क्षति होती है—समाजके साथ साथ धर्मको भी भारीहानि उठानी पड़ती है, उसका यथेष्ट प्रचार और पालन नहीं हो पाता।'

आचार्यमहोदयने अपने इन वाक्यों-द्वारा जैन जातियों और जैन पंचायतोंको जो गहरा परामर्श दिया है और जो दूरकी बात सुझाई है वह सभीके ध्यान देने और मनन करनेके योग्य है। जब जब इस प्रकारके सदुपदेशों और सत्परामर्शो पर ध्यान दिया गया है तब तब जैन समाजका उत्थान होकर उसकी हालत कुछसे कुछ होती रही है—इसमें अच्छे अच्छे राजा भी हुए, मुनि भी हुए और जैनियोंने अपनी लौकिक तथा पारलौकिक उन्नतिमें यथेष्ट प्रगति की, साथ ही जैनधर्मका भी अच्छा अभ्युत्थान हुआ। परन्तु जबसे उन उपदेशों तथा परामर्शोकी उपेक्षा की गई तभीसे जैनसमाजका पतन हो रहा है और आज उसकी इतनी पतितावस्था हो गई है कि उसके अभ्युदय और समृद्धिकी प्रायः सभी बाते स्वप्न-जैसी मालूम होती है; और यदि कुछ पुरातत्त्वज्ञों अथवा ऐतिहासिक विद्वानों-द्वारा थोड़ासा प्रकाश न डाला जाता तो उन पर एकाएक विश्वास भी होना कठिन था। ऐसी हालतमें, अब जरूरत है कि जैनियोंकी प्रत्येक जातिमें ऐसे वीर पुरुष पैदा हों अथवा खड़े हों जो बड़े ही प्रेमके साथ युक्तिपूर्वक जातिके पचों तथा मुखियाओंको उनके कर्तव्यका ज्ञान कराएँ और उनकी समाज-हित-विरोधिनी निरंकुश प्रवृत्तिको नियन्त्रित करनेके लिये जी-जानसे प्रयत्न करे। ऐसा होने पर ही समाजका पतन रुक सकेगा और उसमे फिरसे वही स्वास्थ्यप्रद, जीवनदाता और समृद्धिकारक पवन बह सकेगा जिसका बहना अब बन्द हो रहा है और उसके कारण समाजका सास घुट रहा है। आशा है समाजके सभी शुभचिन्तक अपने वर्त-मान कर्त्तव्यको समझेगे और बड़ी दृढताके साथ उसके पालनमें दत्तचित्त होगे।

२२

हम दुखी क्यों हैं?

दुखभरी हालत

इसमे कोई सन्देह नही और न किसीको कुछ आपत्ति है कि आज कल हमे सुख नही, आराम नही और चैन नही। हमारी बेचेनी, परेशानी और घबराहट दिन पर दिन बढती जाती है, तरह तरहकी चिन्ताओने हमको घेर रक्खा है, रात दिन हम इसी उधेड़-बुनमे रहते है कि किसी तरह हमको सुख मिले, हम सुखकी नीद सोएँ, हमारे दुख-दर्द दूर हो, हमारी गर्दनसे चिन्ताओका भार उतरे और हमारी आत्माको शान्तिकी प्राप्ति हो। इसी सुख-शान्तिकी खोजमें—उसकी प्राप्तिके लिये– हम देशविदेशोमे मारे मारे फिरते है,जंगल बियावानोकी खाक छानते है, पर्वत-पहाड़ोसे टक्करे लेते हैं, नदी-नालो और समुन्द्रो तकको लाँघने या उनकी छाती पर मूंग दलनेकी कोशिश करते है। इसके सिवाय, दिन रात तेलीके बैलकी तरह घरके धन्धोकी पूर्तिके पीछे ही चक्कर लगाते रहते हैं, उन्हीके जालमे फँसे रहते है, उनका कभी ओड (अन्त) नही आता, उनकी पूर्ति और झूठी मान-वड़ाईके लिये धनकी चिन्ता हरदम सिर पर सवार रहती है, हरवक्त यही रट लगी रहती है कि 'हाय टका! हाय टका! टका कैसे पैदा हो! क्या करे कहाँ जाँय और कैसे करे!! किसी भी तरह क्यो न हो, टका पैदा होना चाहिये, तभी काम

चलेगा, तभी दुख मिटेगा। और इसलिये हर जायज नाजायज तरीके-से—उचिताऽनुचितरूपसे—हम रुपया पैदा करनेके पीछे पड़े हुए है, उसीकी एक धुन और उसीका एक ख़ब्त (पागलपन) हमारे सिरपर सवार है और उसकी सम्प्राप्तिमें इतना संलग्न रहना होता है कि हमे अपने तन-बदनकी भी पूरी सुध नही रहती। फिर इन बातोको तो कौन सोचे और कौन उनपर गहरा विचार करे कि 'हम कौन है, कहाॅ से आए है, क्यों आए है, कैसे आए है, कहाॅ जायँगे, कब जायँगे कैसे जायँगे, हमारा आत्मीय कर्तव्य क्या है, उसे पूरा करनेके लिये हमने कोई कार्रवाई की या नही, और हमे इस मनुष्य-शरीरको पाकर संसारमें क्या क्या काम करने चाहिये'। इन सब बातोको सोचने और विचारनेका हमारे पास समय ही नही है। हमको इतनी फुर्सत कहाॅ जो इस प्रकारके विचारोंके लिए भी कुछ वक्त दे सके या ऐसे विचारोके साहित्यको ही पढ़-सुन सकें ? हमारी इधर प्रवृत्ति ही नही होती। ग़रज यह कि अपने सुखकी सामग्रीको एकत्र करने अथवा जुटानेके लिये हमे रात-दिन खड़ी अँगुलियो नाचना पड़ता है और पूर्णरूपसे उसीमे संलग्न रहना होता है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी—धन-दौलत और झूठी इज्जत पैदा करनेके यत्नमे इतना अधिक तत्परता होते हुए और उसे बहुत कुछ प्राप्त करते हुए भी—हमें सुख नही मिलता, शान्ति नसीब नही होती। चारों तरफ जिधर भी आँख उठाकर देखते है दुःख ही दुःख नजर आता है—हमारे स्वजन परिजन, इष्ट मित्र सगे सम्बन्धी, यार दोस्त, अड़ौसी-पड़ौसी, नगर और देहातके प्रायः सभी लोग दुख-दर्द-से पीड़ित है, हर ओरसे दुखदर्दभरी आवाजे ही सुनाई पड़ती है। अपना ही दुख दूर नही होता तब 'दूसरोंके दुखको मालूम करने और दूर करनेकी फिक्र कौन करे ? कौन किसी पर दया अथवा रहम करे ? कौन किसीको मदद करे ? और कैसे कोई किसीके दुखदर्दमे काम आवे ? हर एकको अपनी अपनी पड़ी है, अपने ही मतलबसे

मतलब है, अपनी स्वार्थसिद्धिके सामने दूसरोकी जान, माल, इज्जत और आबरू (प्रतिष्ठा) कोई चीज नही—उसका कुछ भी मूल्य नही है। इस तरह और ऐसी हालतमें हमारा दुख घटनेकी जगह उलटा दिनपर दिन बढ़ रहा है और हमे चैन या सुख-शाति नही मिलती।

धार्मिक पतन

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि ऐसा क्यों हो रहा है ? हमारा दु ख क्यो बढ़ रहा है ? इसका सीधा सादा उत्तर, यद्यपि, यह दिया जा सकता है कि हममेंसे धर्म उठ गया और रहा सहा भी उठता जा रहा है उसीका यह नतीजा है कि हम दु खी है और हमारा दु ख बढ रहा है। और इस उत्तरकी यथार्थता अथवा उपयुक्ततापर कोई आपत्ति भी नहीं की जा सकती; क्योंकि धर्म सुखका कारण है और कारणसे ही कार्यकी सिद्धि होती है, इसे सबही मतमतान्तरके लोग मानते है। बड़े बड़े ऋषियों, मुनियों और महात्माओंने धर्मको ही लोक-परलोकके सभी सुखोंका कारण बतलाया है और यह प्रतिपादन किया है कि वह जीवोको ससारके दुःखोंसे निकालकर उत्तम सुखोमे धारण करनेवाला है। और वही अकेला एक ऐसा मित्र है जो परलोकमें भी साथ जाकर इस जीवके सुखका साधन बनता है-- उसे सुखकी सामग्री प्राप्त कराता है—उसीसे आत्माका अभ्युदय और उत्थान होकर मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है। धर्मके स्वरूप पर विचार करनेसे भी ऐसा ही मालूम होता है—उसकी महिमा तथा शक्तिमें कुछ भी विवाद नही है। प्रत्युत इसके, अधर्म या पाप दु.खका कारण है, हरएक जिल्लत-मुसीबतका सबब अथवा दुर्गति-विपत्तिका निदान है। अतः हमारी मौजूदा दुखभरी हालत हमारे पापी आचरणकी दलील है, बुरे कर्मोंका नतीजा है और इस बातको जाहिर करती है कि हममे धर्मका आचरण प्रायः नही रहा।

वास्तवमें, हम धर्म-कर्मसे बहुत गिर गये है और हमारा बहुत कुछ पतन हो चुका है। चाहे जिस आचरणको धर्मकी कसौटीपर कसिये, प्रायः पीतल या मुलम्मा मालूम होता है। हमारी पूजा, भक्ति, सामायिक, व्रत, नियम, उपवास, दान, शील, तप और सयम आदिकी जो भी क्रियाएँ धर्मके नामसे नामाकित है—जिनको हम 'धर्म' कहकर पुकारते है—उनमें भी धर्म प्राय' नही रहा है। वे भाव-शून्य होनेसे बकरीके गलेमें लटकते हुए थनोंके समान है[1]। बकरीके गलेके थन जिस प्रकार देखनेके लिये थन होते है— उनका आकार थनो जैसा होता है—परन्तु वे थनोंका काम नही देते, उनसे दूध नही निकलता। ठीक वही हालत हमारी उक्त धार्मिक क्रियाओं-की हो रही है। वे देखने-दिखानेके लिये ही धार्मिक क्रियाएँ है, परन्तु उनमें प्राण नही, जीवन नही, धर्मका भाव नही और न हमें उनका रहस्य ही मालूम है। वे प्रायः एक दूसरेकी देखादेखी, रीति-रिवाज-की पाबन्दी अथवा रूढिका पालन करने, धर्मात्मा कहलाने, यश कीर्ति प्राप्त करने और या किसी दूसरे ही लौकिक प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये नुमाइशी तौरपर की जाती है। उनके मूलमें प्रायः अज्ञानभाव, लोकदिखावा, रूढिपालन, मानकषाय और दुनियासाजीका भाव भरा रहता है; यही उनकी कूक और यही उनकी चाबी-कुंजी है। उन क्रियाओंको सम्यकचारित्र नही कह सकते, सम्यक्चारित्रके लिये सम्यग्ज्ञानपूर्वक होना लाजिमी है और वह लौकिक प्रयोजनोसे रहित होता है। जो क्रियाएँ सम्यक्ज्ञानपूर्वक अपना आत्मीय कर्तव्य समझ कर नही की जाती, वे सब मिथ्या, झूठी अथवा नुमाइशी क्रियाएँ है, मिथ्याचारित्र है, और अन्त में संसारके दुःखोंका कारण है। और इसलिये, धार्मिक दृष्टिसे, हमारी इन धर्मके नामसे प्रसिद्ध होनेवाली

---

१. भावहीनस्य पूजादि-तपो-दान-जपादिकम् ।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकंठस्तनाविव ॥

वर्तमान क्रियाओको 'सम्यक्चारित्र' न कहकर 'यान्त्रिक चारित्र' अथवा जड-मशीनों-जैसा आचरणक हना चाहिये । उनसे धर्म-फल-की प्राप्ति नही हो सकती; क्योकि बिना भावके क्रियाएँ फलदायक नही होती[१] ।

इसके सिवाय, जिधर देखिये उधर ही हिसा, झूठ, चोरी, लूट-खसोट मारकाट सीनाज़ोरी विश्वासघात, रिश्वत–घूस, व्यभिचार, बलात्कार, विलासप्रियता विषयाशक्ति और फूटका बाजार गर्म है, छल-कपट, दभ-मायाचार, धोखा, दगा, फरेब, जालसाजी और चालबाजीका दौरदौरा है; जूआ भी कुछ कम नही, और सट्टे ने तो लोगोका वधना-बोरिया ही इकट्ठा कर रक्खा है, लोगोके दिलोमें ईर्षा, द्वेष, घृणा और अदेखसकाभावकी अग्नि जल रही है, आपस-के वैर-विरोध, मनमुटाव और शत्रुताके भावसे सीने स्याह अथवा हृदय काले हो रहे है, भाई भाईमे अनबन, बाप-बेटेमे खिचावट, मित्रो-मित्रोमे वैमनस्य और स्त्री-पुरुषोमे कलह है, चारो ओर अन्याय और अत्याचार छाया हुआ है; लोग क्रोधके हाथोसे लाचार है, झूठे मानकी शानमे हैरान व परेशान है और लोभकी मात्रा तो इतनी वढी हुई है तथा वढ़ती जाती है कि दयाधर्मके माननेवाले और अपनेको ऊँच जाति तथा कुलका कहनेवाले भी अब अपनी प्यारी बेटियोको बेचने लगे है, उन्हे अपनी छोटी छोटी सुकुमार कन्याओंका हाथ बूढे बाबाओको पकड़ाते हुए जरा भी संकोच नही होता, जरा भी तरस या रहम नही आता और न उनका वज्र हृदय ही ऐसा घोर पाप करते हुए धड़कता या काँपता है । फिर लज्जा अथवा शरम बेचारीकी तो वात ही क्या है ? वह तो उनके पास भी नही फटकती । प्राय. सभी जातियोमे कन्याविक्रयका व्यापार

---

१ यस्मात् क्रिया. प्रतिफलन्ति न भावशून्या ।

—कल्याणमदिर

बढा हुआ है, खूब सौदे होते है, असंतोष फैल रहा है और तृष्णाकी कोई हद नही। लोग मंदिर-मूर्तियों और धार्मिक संस्थाओं तकका माल हजम कर जाते है, देवद्रव्यको खा जाने और तीर्थोंका माल उड़ा जानेमें उन्हें कोई सकोच नही होता। इधर झूठी मान-बड़ाई-के लोलुपी अथवा मिथ्या प्रतिष्ठाके उपासक, विधवाओके गर्भ गिराकर या उनके नवजात बच्चोंको, प्रसव गुप्त रखनेके अभिप्रायसे, वन-उपवन, कूप-बावड़ी नदी-सरोवर या संडास आदिमें डालकर अथवा जीता गाड़कर, गर्भपात और बालहत्यादिकके अपराधोकी संख्या बढ़ा रहे है। और अब तो कही कहीसे रोंगटे खड़े करनेवाले ऐसे दुराचार भी सुननेमें आने लगे है कि एक प्रतिष्ठित पुरुष अपनी स्त्री-के पेटसे लड़का पैदा करनेकी धुनमे, नहीं नही पागलपनमें, दूसरे मनुष्यके निर्दोष बच्चेको मारकर उसके गर्म गर्म खूनसे अपनी गर्भ-वती स्त्रीको नहलाता और खुश होता है। ओह ! कितना भयंकर दृश्य है !!! कितनी संगदिली अथवा हृदयकी कठोरता है !! धर्मका, श्रद्धाका, मनुष्यताका कितना दिवाला और आत्माका कितना अधिक पतन है !!! खुदग़रजीकी भी हद हो गई !!! ये सब बातें धर्मके पतन और उसकी हममें अनुपस्थितिको दिनकर-प्रकाशकी तरहसे प्रकट कर रही है। ऐसी हालतमें 'हममेंसे धर्म उठ गया' यह कहना कुछ भी अनुचित या बेजा नही है।

परंतु फिर यह सवाल पैदा होता है कि धर्म क्यो उठ गया ? किन कारणोंसे हम उसे छोड़ने अथवा उसकी तरफ पीठ देनेके लिए मजबूर हो रहे हैं ? क्यो उसके धारण या पालन करनेमे हमारी प्रवृत्ति नही होती ? और इसलिये हमारा दुःख क्यो बढ रहा है इस प्रश्नका यह उत्तर कि 'हममेसे धर्म उठ गया और रहा सहा भी उठता जाता है' ठीक होते हुए भी पर्याप्त नही है—काफी नहीं है। इतने परसे ही हमारी संतुष्टि अथवा भरपाई नही होती—हमारे ध्यानमें अपने दुःखोके कारणोका नकशा पूरी तौरसे नही बैठता—

हमें स्पष्टताके साथ यह जाननेकी जरूरत है कि हमारा दुःख क्यों वढ़ रहा है ? वास्तवमे जो कारण हमारे दुःखके वढनेका है वही हममेसे धर्मके उठ जानेका है। एकके मालूम होनेपर दूसरेको मालूम करनेकी जरूरत नहीं रहती। एक सवालके अच्छी तरहसे हल हो जाने पर दूसरा खुद-ब-खुद (स्वयमेव) हल हो जाता है, और इसलिये हमें वह खास कारण मालूम करना चाहिये जिसकी वजहसे हमारा दुःख वढ रहा है या हममें से धर्म उठ गया और उठता जाता है।

आवश्यकताओंकी वृद्धि

जहाँ तक मैने इस मामलेपर गौर तथा विचार किया और उसके हर पहलू पर नजर डाली, हमारे दु.खोका प्रधान कारण सिवाय इसके और कुछ प्रतीत नही होता कि 'हमने अपनी जरूरियातको—आवश्यकताओको—फिजूल बढा लिया है, वैसा करके अपनी आदत, प्रकृति और परिणतिको विगाड़ लिया है और दिनपर दिन उनमें और वृद्धि करते चले जाते है। फिजूलकी ज़रूरियातका बढा लेना ऐसा ही है जैसा कि अपनेको ज़जीरोसे बाँधते जाना। एक हाथी पैरमे जंजीरके पड़ जानेसे ही पराधीन हो जाता है—अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे घूम-फिर नही सकता—उसको वह सुख नसीव नही होता जो स्वाधीनतामे मिलता था। पराधीनतामे सुख है ही नही। कहावत भी प्रसिद्ध है—'पराधीन सुपनेहु सुख नाही'। फिर जो लोग चारो तरफसे ज़ंजीरोमे जकड़े हुए हो—फिजूलकी जरूरियातके बन्धनोमे बँधे हो—उनकी पराधीनताका क्या ठिकाना है ? और उन्हे यदि सुख न मिले—शाँति नसीव न हो—तो इसमे आश्चर्य तथा विस्मयकी बात ही क्या है ? व्यर्थकी जरूरियातको वढ़ा लेना वास्तवमे दु खोको निमंत्रण देना ही नही, उन्हे मोल ले लेना है।

एक मनुष्य छह सौ रुपये मासिक वेतन (तनख्वाह) पाता है

और दूसरा पचास रुपये मासिक। पचास रुपये पानेवाले भाईकी तरक्की (वृद्धि) होकर सौ रुपये मासिक हो गये और छह सौ रुपये मासिक पानेवाले भाईकी तनज्जुली (पदच्युति) ने एकदम दो सौ रुपयेकी रकम कम कर दी; और उनकी तनख्वाह सिर्फ चार सौ रुपये मासिक रह गई। पचास रुपये पानेवाला भाई अपनी उन्नति तथा पदवृद्धिके समाचार पाकर खुश हो रहा है, आनंद मना रहा है, अंगमें फूला नही समाता और इष्टमित्रोंमें मिठाइयां बाँटता है। प्रत्युत इसके, छह सौ रुपये माहवारका तनख्वाहदार (वेतन-भोगी) अपनी अवनति अथवा पदच्युतिकी खबर पाकर रो रहा है, झीक रहा है, दु.खितचित्त और शोकातुर हुआ सोच रहा है कि 'मुझसे कौनसी खता अथवा चूक हुई ? क्या अपराध बन गया ? मैने कौनसा बिगाड़ किया, जिससे मेरा दर्जा घटा दिया गया ? किसने मेरी चुग़ली की ? किसने आफीसर (हाकिम) के सामने मेरी झूठी-सच्ची बाते जाहिर की ? हाय! मेरी तकदीर फूट गई ! भाग्य उलट गया ! ! अब क्या करूँ, कहाँ जाऊँ और कैसे करूँ ! ! बडा दु:ख है ! ! !'

इन दोनो भाइयोके अन्त.करणकी हालतको यदि ठीक तोरसे देखा जा सके, तो इसमें सदेह नही कि बड़ी तनख्वाहवाला दुखी और छोटी तनख्वाहवाला सुखी मिलेगा। परतु यह क्यों ? रुपयेकी कमी-बेशी ही यदि सुख-दुखका कारण हो, तो बड़ी तनख्वाहवाले को, जिसकी तनख्वाह घट जानेपर भी दूसरे तरक्की पानेवाले भाईसे चौगुनी रहती है, ज्यादा सुखी होना चाहिये—उसके सुखकी मात्रा दूसरेसे चौगुनी नही तो तिगुनी या दुगुनी तो जरूर होनी चाहिये। परन्तु ऐसा नही देखा जाता, वह दूसरेके बराबर भी अपनेको सुखी अनुभव नही करता। इसकी वजह है और वह यह है कि, पचास रुपये पाने वाले भाईने तो अपनी जरूरियातको पचास रुपयेकी बना रक्खा था—पचास रुपयेके भीतरही अपने सम्पूर्ण खर्चोंको परिमित

कर रक्खा था—वेतन आते ही आटा, दाल, घी, तेल, नमक, मिरच, मसाला, कपड़ा लत्ता, जेवर और रिजर्व फड वगैरह सब विभागोमे वह उसका बटवारा कर देता था। अब वेतनके बढ जानेपर एकदम पचास रुपयेकी बचत होने लगी और खर्च प्राय. ज्योका त्यों रहा, इससे उसे आनद ही आनद मालूम होने लगा। परन्तु छह सौ रुपये वाले भाईकी हालत दूसरी थी—उसकी जरूरियात पचास रुपये या सौ दोसौ रुपयेकी नही थी बल्कि छह सौ रुपये मासिकसे भी बढ़ी हुई थी। उसने अपनी जाहिरी हैसियत अथवा स्थितिको छह सौ रुपये से भी अधिककी बना रक्खा था—नौकर चाकर, घोड़ा गाड़ी, बाग बगीचे, फूल फुलवाड़ी, कमरेकी शोभा सजावट वगैरह सब तरहका साज सामान था, रोजाना हजामत बनती थी, तीसरे दिन पोशाक बदली जाती थी; हर साल घरभरके लिये अच्छे, नये नये कपड़े सिलते थे और दो चार बार पहनकर ही रद्दी कर दिये जाते थे; मेहमानोकी सेवा-शुश्रूषा भी खूब दिल खोलकर होती थी; घरमें मेवा, मिठाई, फल, फूल और नाना प्रकारके भोजनोकी हरदम रेल पेल अथवा चहल पहल रहती थी, स्त्रियाँ देवांगनाओं जैसे वस्त्राभूषणोंसे भूषित नजर आती थी, उनके जेवरोकी कोई संख्या अथवा सीमा न थी, और बच्चे मखमल, कीमख्वाब, अतलस तथा रेशमसे घिरे हुए और जरी तथा सलमासितारेके कामोंसे जड़े हुए मालूम होते थे; नाटक थियेटरका भी शौक चलता था, प्राय. दो चार मित्रोंको साथ लेकर और उनका भी खर्च स्वयं उठाकर ही वह उन तमाशोको देखने जाया करता था; बाकी विवाह-शादीके खर्चोंका तो कोई परिमाण अथवा हिसाब ही नही था—उनके लिये तो अकसर कर्ज भी ले लिया जाता था और साथ ही पूर्वजोंकी पैदा की हुई सम्पत्ति (जायदाद) का भी सफाया बोल दिया जाता था। अब एकदम दोसौ रुपये मासिककी आमदनी कम हो जानेसे उसको फिक्र पड़ी और चिन्ताने आघेरा। वह सोचने लगा कि 'किसी नौकरको हटा दूँ, गाड़ी टमटम

वगैरहमेंसे किसीको अलग कर दूँ, कमरेकी शोभा-सजावट और अपने मनोविनोद (दिल बहलाव)का सामान कम करदूँ, महमानोकी सेवा-सुश्रूषामें आनाकानी करने लगूँ या उसमे कमी करदूँ, स्त्रियों तथा बच्चोका पहनावा बदलदूँ या उसे कुछ घटिया करदूँ, इष्ट–मित्रोंसे आँखे चुराने लगूँ, नाटक-थियेटरमें जाना या वहाँ खास सीटोका रिजर्व कराना बन्द करदूँ, खाने-पीनेकी सामग्री जुटानेमे किफायत और अहतियातसे काम लेने लगूँ और या विवाह-शादी वगैरहके खर्चोंमें कोई आदर्श कमी करदूँ'। गरज, जिस चीजको कम करने, घटाने या बदलने वगैरहकी बात वह सोचता है उसीसे उसके दिलको धक्का लगता है, चोट पहुँचती है हैसियत अथवा पोजीशनके बिगडने और शानमें बट्टा लग जानेका खयाली भूत सामने आकर खड़ा हो जाता है; वह जिस ठाट-बाट, साज-सामान और आन बानसे अब तक रहता आया है, उसीमें रहना चाहता है; अभ्यासके कारण वे सब बाते उसकी आदत और प्रकृतिमें दाखिल हो गई है, उनमें जरा भी कमी या तबदीली उसे बहुत ही अखरती है और इस तरह वह दुःख ही दुःख महसूस (अनुभव) करता है। दूसरे शब्दोमे यो कहना चाहिये कि अधिक धनके नशेमें जिन जरूरियातको फिजूल वढ़ा लिया था वे ही अब उसके गलेका हार बनी हुई है, उन्हे न तो छोड़े सरता है और न पूरा किये बनता है, दोनो पाटोके बीच जान अजव अजाबमें अथवा संकटापन्न है। और इससे साफ जाहिर है कि जरूरियातको फिजूल बढा लेना अपने हाथो खुद दु.खोको मोल ले लेना है—जो जितना ज्यादा अपनी जरूरियातको बढाता है वह उतना ही ज्यादा अपनेको दुःखोंके जालमें फँसाता है।

× × ×

दुःख-सुख-विवेक

यहाँपर इतना और भी समझ लेना चाहिये कि बढी हुई जरूरियातके पूरा न होनेमे ही दुख नही है, बल्कि उनको पूरा करनेमें भी नाना प्रकारके कष्ट उठाने पडते है—उनकी सामग्रीके जुटानेका फिक्र, जुटाई अथवा एकत्र की हुई सामग्रीकी रक्षाकी चिन्ता, रक्षित सामग्रीके खोए जाने या नष्ट हो जानेका भय और फिर उसके जुदा हो जाने, गिरने पड़ने, फूटने, गलने-सड़ने, बिगड़ने, मैली-कुचैली, बेआब और बेकार हो जानेपर दिलकी बेचैनी, परेशानी, अफसोस, रंज, खेद और शोक, इष्ट सामग्रीके साथ अनिष्टका संयोग हो जानेपर चित्तकी व्याकुलता, घबराहट और उसके वियोगके लिये तड़प, और साथही इन सबके संसर्ग अथवा सम्बंधसे नई-नई चीजोंके मिलने मिलाने या दूसरे साज-सामानके जोड़नेकी इच्छा और तृष्णा। ये सब भी दुखकी ही पर्यायें है—उसीकी जुदागाना शकलें अथवा विभिन्न अवस्थाएँ है। दुःखके विरोधी सुखका लक्षण ही निराकुलता है और वह चिन्ता, भय, शोक, खेद, अफसोस, रंज, बेचैनी, परेशानी, आकुलता घबराहट, इच्छा, तृष्णा, बेताबी और तड़प वगैरह दुःखकी पर्यायोंसे रहित होता है। जहाँ ये नही, वहाँ दुःख नही और जहाँ ये मौजूद है वहाँ सुखका नाम नही। दूसरे शब्दोंमे यों कहिये कि यदि दुःखकी ये पर्यायें—शकलें और हालतें—बनी हुई है, तो कोई मनुष्य बाहरके बहुतसे ठाट-बाट, साज-सामान और वैभवके होते भी सुखी नही हो सकता।

उदाहरणके लिये लीजिये, एक ऐसे मनुष्य को, जिसे १०५ दर्जेसे भी ऊपरका बुखार (ज्वर) है और इसलिये उसकी बेचैनी और परेशानी बढी हुई है, उसको रेशमकी डोरीसे बुने हुए, मखमल बिछे हुए सोने चाँदीके पलंग पर लिटा देने और ऊपरसे कीमख्वाब का जरीदोज़ चँदोवा बाध देनेसे क्या उसके उस दुःखमे कोई कमी हो

सकती है ? कदापि नही। एक दूसरे आदमीके पास खूब धन-दौलत, ज़मीन, जायदाद, जेवर कपड़े, महल मकान, हाट दुकान, बाग-बागीचे, नौकर-चाकर, घोड़ा, गाड़ी, रथ, बहल, सुशीला स्त्री, आज्ञाकारी बच्चे और प्रेमी भाई-बहन वगैरह सब कुछ विभूति मौजूद है। आप कहेंगे कि वह बड़ा सुखी है। परन्तु उसके शरीरमे एक असाध्य रोग होगया है, जो बहुत कुछ उपचार करनेपर भी दूर नही हो सका। उसकी वजहसे वह बहुत ही हैरान और परेशान है, उसको किसी भी चीज़में आनद मालूम नही होता और न किसीका बोल सुहाता है, वह अलग एक चारपाई पर पड़ा रहता है, मूँगकी दालका पानी भी उसको हजम नही होता--नही पचता- दूसरोंको नानाप्रकारके भोजन और तरह तरहकी चीजे खाते पीते देखकर वह झुरता है, अपने भाग्यको कोसता है, और जब उसे ससारसे अपने जल्दी उठ जाने और उस सपूर्ण विभूतिके वियोगका खयाल आ जाता है, तो उसकी वेदना और तड़पका ठिकाना नही रहता, वह शोकके सागरमें डूब जाता है, और तब उसकी वह सारी विभूति मिलकर भी उसे उस दुःखसे निकालनेमे ज़रा भी समर्थ नही होती।

अब एक तीसरे ऐसे शख्शको लीजिये जिसके पास उपर्युक्त संपूर्ण विभूतिके साथ साथ शारीरिक स्वास्थ्यकी - तन्दुरुस्तीकी— भी खास सम्पत्ति मौजूद है और जो खूब हट्टा-कट्टा, हृष्ट-पुष्ट तथा बलवान् और ताकतवर बना हुआ है। उसे तो आप ज़रूर कहेंगे कि वह पूरा सुखिया है। परन्तु उसके पीछे फौजदारीका एक जबरदस्त मुकद्दमा लगा हुआ है, जिसकी वजहसे उसकी जान अजाबमे अथवा सकटापन्न है। वह रात-दिन उसीके फिक्रमे डूबा रहता है। चलते-फिरते, खाते-पीते और सोते-जागते उसीकी एक चिता और उसीकी एक धुन उसके सिरपर सवार है, उसकी मौजूदगीमे अपना सब ठाट-बाट और साज-सामान उसे फीका फीका नजर आता है। रसोईमे छत्तीस प्रकारके भोजन तय्यार है और स्त्री बड़ी विनय-भक्तिके साथ

लघुपुत्र-सहित खड़ी हुई प्रेमभरे शब्दोमे प्रार्थना कर रही है कि 'हे नाथ ! कुछ थोडासा भोजन तो जरूर कर लीजिये'। परन्तु उसे इस सम्पूर्ण आनन्दकी सामग्रीमे कुछ भी आनन्द और रसका अनुभव नही होता, वह बडी उपेक्षा, वेरुखी अथवा झु झलाहटके साथ उत्तर देता है कि तुझे भोजनकी पडी है यहाँ जानको वन रही है, दस बज गये, रेलका वक्त हो गया, मुकद्दमेकी पेशी पर जाना है ! !' इससे साफ जाहिर है कि चिन्ता आदिसे अभिभूत होनेपर—फिक्रात वगैरहके गालिव आने पर—वाहरकी बहुतसी सुन्दर विभूति और उत्तमसे उत्तम सामग्री भी मनुष्यको सुखी नही वना सकती—वह प्राय दु खोसे ही घिरा रहता है। अनेक कवियोने तो चिन्ताको चिताके समान वतलाया है[1]। दोनोमे भेद भी क्या है ? एक नुक्ते या बिन्दीका ही तो भेद है। उर्दूमे लिखिये तो चितापर चितासे एक नुक्ता (˙) ज्यादा आएगा और हिन्दीमे लिखनेसे एक बिंदी अधिक लगानी होगी। परन्तु इस नुक्ते या बिन्दीने ग़ज़ब ढा दिया ! चिता तो मुर्देको जलाती है परन्तु चिंता जीवितको भस्म कर देती है ! ! जिस शरीररूपी वनमे यह चिंता-ज्वाला दावानलकी तरहसे खेल जाती है, उसमे प्रकटरूपसे धुँआ नजर न आते हुए भी भीतर ही भीतर धुँआँधार रहता है, काँचकी भट्टीसी जलती रहती है और उससे शरीरका रक्त-मास सव जल जाता है, सिर्फ हाडोका पजर ही पजर चमड़ेसे लिपटा हुआ शेष रह जाता है। ऐसी हालतमे जीवनका रहना कठिन है, यदि कुछ दिन रहा भी तो उस जीनेको जीना नही कह सकते। इसीसे ऐसे लोगोके जीवनपर आश्चर्य प्रकट करते हुए कविराय गिरधरजी लिखते है—

चिंता ज्वाल शरीर बन दावानल लग जाय।

---

१ चिंता चिता समाख्याता बिन्दुमात्रविशेषत.।
सजीवं दहते चिंता निर्जीवं दहते चिता ॥

प्रगट धुआँ नहि देखिये उर अन्तर धुँधवाय ॥
उर अन्तर धुँधवाय जले ज्यों काँचकी भट्टी ।
रक्त-मांस जर जाय रहे पिंजर को टट्टी ॥
कहें गिरधर कविराय सुनो रे मेरे मिता ।
वे नर कैसे जियें जाहि तन व्यापी चिंता ॥

निःसन्देह, चिता ऐसी ही बुरी चीज़ है, वह मनुष्यको खा जाती है और उसकी जननी जरूरियातकी अफजूनी—आवश्यकताओंकी वृद्धि—है। जितनी जितनी ज़रूरियात बढती जाती है उतनी उतनी चिंताएँ पैदा होती जाती है। इसीसे भगवान महावीर और दूसरे धर्माचार्योंने गृहस्थोंके लिये ज़रूरियातको घटानेकी—परिग्रहको कम करके संतोष धारण करनेकी—बात कही है, परिग्रहको पाप लिखा है और अधिक आरंभी तथा अधिक परिग्रह को नरकका अधिकारी अथवा महमान बतलाया है। अतः सुख प्राप्तिके लिये जरूरियातको कम करना कितना ज़रूरी और लाज़िमी है, इसे बुद्धिमान पुरुष स्वयं समझ सकते हैं।

वास्तवमें सुख कोई ऐसी वस्तु नही है जो कहींपर बिकती हो, किसी दुकान, हाट या बाजारसे किसी भी कीमतपर खरीदी जा सके, किसीकी खुशामद, सिफारिश या प्रेरणासे मिल सके या बदला करके लाई जा सके; बल्कि वह आत्माका निज गुण है—आत्मासे बाहर उसकी कही भी सत्ता नही है। संसारी जीव आत्माको भूल रहे है और इसलिये अपनी आत्मामें सुखकी जो अनुपम तथा अपार निधि गड़ी हुई है, उसे नही पहचानते और न उसकी प्राप्तिके लिये कोई यथेष्ट उपाय ही करते है। वे अपनी आत्मासे भिन्न दूसरे पदार्थोंमे सुखकी कल्पना किये हुए है, उनको ही अपने सुखका एक आधार मान बैठे है—उन्हे ही सब कुछ समझ रहे है—और इसलिये उन्हींके पीछे भटकते और उन्हींकी प्राप्तिके लिये रात दिन हैरान-परेशान और दत्तावधान हुए मारे मारे फिरते है। परन्तु उनको यह ख़बर नही कि

पर-पदार्थ तीन कालमे भी अपना नही हो सकता और न जड़ कभी चेतन बन सकता है, उसे अपना समझकर सुखकी कल्पना कर लेना भूल है, उसके संयोगके साथ वियोग लगा हुआ है—जिसका कभी सयोग होता हे उसका एक न एक दिन वियोग जरूर होता है—चाहे वह हमसे पहले बिछुड जाय और या हम ही उससे पहले चलते बने, गरज वियोग जरूर होता हे। और जिसके संयोगमे सुख मान लिया जाता है अथवा यो कहिये कि माना हुआ होता है, उसके वियोगमें नियमसे दुःख उठाना पडता है। इसलिये ऐसे सब ही परपदार्थ अंतको दुःखके कारण होते है। बीचमे भी किसी चिन्ता आदिके उपस्थित हो जानेपर उनका सारा सुख हवा हो जाता अथवा काफूर बन जाता है। अपनी ही खास स्त्रीकी बावत यदि यह मालूम हो जाय कि वह अब बदचलन या दुःशीला हो गई है—गुप्त व्यभिचार करती है—तो उसके साथ मिलने जुलनेका आनन्द जाता रहे; एक मित्रकी बावत यदि यह पता चल जाय कि वह परोक्षरूपमे अपनेको हानि पहुँचाता है तो मित्रका सारा मजा किरकिरा हो जाय, और यदि एक अच्छे प्यारे सुन्दर तथा सुडौल बने हुए मकानकी बावत बादको यह बात दिलमे बैठ जाय कि वह मनहूस है—अशुभ अथवा अमागलिक हे—तो वह उसी वक्तसे अपनेको काटने लगे और उसमे रहना भारी पड़ जाय। दूसरे चेतन-अचेतन पदार्थोका भी प्रायः ऐसा ही हाल है।

इसी तरह उनको यह भी खबर नहीं कि बाह्य पदार्थोमे जो सुखका अनुभव होता है वह खास उन पदार्थोंका अथवा उनसे उत्पन्न होनेवाला सुख नही, बल्कि उनकी प्राप्तिके लिये हमारे अन्तःकरणमें जो एक प्रकारकी तड़प, वेदना या तृष्णा हो रही थी उसकी यत्किंचित् शान्तिका सुख है। यदि वैसी कोई वेदना, तडप या तृष्णा न हो, तो उन पदार्थोंके सम्बन्धसे कुछ भी सुखका अनुभव नही किया जा सकता, और इसीलिये वह सुखकी अनुभूति प्रायः वेदनाके अनुकूल होती है—वेदनाकी कमी-बेशी आदिकी अवस्था

अनुसार बाह्य पदार्थोंके सम्बन्ध पर आधार रखती है। यदि ऐसा न माना जाय. बल्कि उन बाह्य पदार्थोको ही स्वयं सुखका मूलकारण समझ लिया जाय तो चार रोटी खानेवालेको आठ रोटा खा लेनेसे डबल सुख होना चाहिये और जाड़ोके लिहाफ वगैरह भारी गर्म कपड़ोंको सख्त गर्मीके दिनोमें ओढने-पहननेसे जाड़ो-जैसा आनन्द मिलना चाहिये। परन्तु मामला इससे बिल्कुल उलटा है-- आठ रोटी खा लेनेसे उस आदमीकी जान पर आ बने, पेट फूल जाय, दर्द या कै (वमन) होने लगे अथवा चूर्ण-गोलीकी जरूरत खड़ी हो जाय; और जाड़ोके वे भारी भारी गर्म कपड़े गर्मियोमे पहनने-ओढनेसे चित्त एकदम घबरा उठे और सिरमें चक्कर आने लगे। इससे स्पष्ट है कि बाह्य पदार्थोमें स्वय कोई सुख नही रक्खा है और न वेदनाके पैदा होते रहने और उसका इलाज या उपचार करते रहनेमें ही कोई सुख है, बल्कि उसके पैदा न होने और इलाज तथा उपचारकी ज़रूरत न पडनेमें ही सुख है।

वास्तवमें यदि ध्यानसे देखा जाय तो पर-पदार्थोमें सुख है ही नही, उनमें सुखका आधार एक मात्र हमारी कल्पना है और उस कल्पित सुखको सुख नही कह सकते, वह सुखाभास है - सुखसा दिखलाई देता है—मृगतृष्णा है। और इसलिये पर-पदार्थोमे सुख कल्पित करनेवालोंकी हालत ठीक उन लोगो-जैसी है जो एक पर्वतकी दो चोटियोंके मध्य-स्थित सरोवरमे किसी बहुमूल्य हारके पीछे गोते लगाते और लगवाते हुए बहुत कुछ थक गये थे, उनको पानीमें वह हार दिखलाई तो ज़रूर पड़ता था लेकिन पकडनेपर इधरसे उधर उचक जाता था—हाथमें नही आता था, और इसलिये वे बहुत ही हैरान तथा परेशान थे कि मामला क्या है ? इतनेमें एक जानकार शख्सने आकर उन्हे बतलाया था कि 'हार उस सरोवरमें नही है, और इसलिये कोटि वर्ष-पर्यन्त बराबर गोते लगाते रहने पर भी तुम उसे नही पा सकते, वह इस सरोवरके बहुत

ऊपर पर्वतकी दोनो चोटियोके अग्रभागसे बँधे हुए एक तारके बीचमे लटक रहा है और अपने प्रतिबिम्बसे जलको प्रतिबिम्बित कर रहा है। यदि तुम उसे लेना चाहते हो, तो ऊपर चढ़कर वहाँ तक पहुँचनेकी कोशिश करो, तभी तुम उसे पा सकोगे, अन्यथा नही-- तुम्हारी यह गोताखोरी अथवा जलावगाहनकी क्रिया व्यर्थ है।'

इसमे सन्देह नही कि जो चीज जहाँ मौजूद ही नही वह वहाँ पर कितनी भी ढूढ खोज क्यो न की जाय कदापि नही मिल सकती। कोई चीज ढूढने अथवा तलाश करनेपर वहीसे मिला करती है जहाँपर वह मौजूद होती है। जहाँ उसका अस्तित्व ही नही वहाँसे वह कैसे मिल सकती है ? सुख चूँकि आत्मासे बाहर दूसरे पदर्थोंमे नही है इसलिये उन पदार्थोंमे उसकी तलाश फिजूल है, उसे अपनी आत्मामे ही खोजना चाहिये और यह मालूम करना चाहिये कि वह कैसे कैसे कर्मपटलोके नीचे दबा हुआ है, हमारी कैसी परिणतिरूपी मिट्टी उसके ऊपर आई हुई है और वह कैसे हटाई जा सकती है। परन्तु हम अपनी आत्माकी सुध भूले हुए है, उसकी सुखकी निधिसे बिल्कुल ही अपरिचित्त और अनभिज्ञ है और इसलिये सुखकी तलाश आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थोंमे - विजातीय वस्तुओमे--करते है। सुखकी प्राप्तिके लिये उन्हीके पीछे पडे हुए है-- यहाँसे भी सुख मिलेगा, यह भी हमको सुख दे सकेगा इसी प्रकारके विचारोंसे बँधे हुए हम उन्ही पदार्थोंका सग्रह बढाते जाते है, उन्हीकी जरूरियातको अपने जीवनके साथ चिपटाते रहते है और इस तरह खुद ही अपनेको दुःखोके जालमे फँसाते और दुखी होते है, यह अजब तमाशा है !!

× × ×

अपनी भूल

एक तोता नलिनी पर आकर बैठता है और उसकी नलीके घूम जाने से उलटा होकर उसे पकड़े हुए लटका रहता है, उड़नेकी खुली शक्ति होते हुए भी नही उड़ता, इसका क्या कारण है ? इसका कारण यही है कि वह उस वक्त अपनी आकाश-गतिको भूल जाता है, उड़नेकी शक्तिका उसे ध्यान नही रहता और यह समझने लगता है कि मुझे इस नली ने पकड़ रक्खा है। यद्यपि उस नलीने उसे ज़रा भी नही पकड़ा, उसने खुद ही अपने पजोंसे उसे दबा रक्खा है, वह चाहे तो अपने पंजोंको खोलकर उस नलीको छोड़ सकता है और खुशीके साथ आकाशमें उड़ सकता है। परन्तु अपनी भूल और ना-समझीकी वजहसे वह वैसा न करके उलटा लटका रहता है और फिर शिकारीके हाथमें पड़कर तरह तरहके दु:ख तथा कष्ट उठाता है। ठीक ऐसी ही हालत हमारी है, हम अपने आत्माके स्वरूप और उसके सुखस्वभावको भूले हुए है और यह गलत समझे हुए है कि इन परिग्रहों अथवा जरूरियातने, जिनको हमने ही बढ़ाया और हमने ही अपने पीछे लगाया है, हमारा पिड पकड़ रक्खा है और वे अब हमको छोड़ते नही है । इसीसे उस तोतेकी तरह हम भी नाना प्रकारके बन्धनोमें पड़कर दु:खोमें अपना आत्म-समर्पण कर रहे है—अपनेको दु:खोंकी भेट चढा रहे है। हमारी इस दशा-को ध्यानमें रखते हुए ही कविवर पं० दौलतरामजीने यह वाक्य कहा है :—

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ।
ज्यों शुक नभ चाल विसरि, नलिनी लटकायौ ॥

यह वाक्य हम पर बिल्कुल चरितार्थ होता है । यदि अब भी हम अपनी भूलको सुधारलें और अपने सुख-दुखके साधनों तथा कारणोको ठीक तौरपर समझ जायँ तो हम आज भी अपनी जरूरि-

-यातको घटाकर, परिग्रहको कम करके और रीतिरिवाजको बदलकर बहुत कुछ सुखी हो सकते है। यह सब हमारे ही हाथका खेल है और उसे करनेके लिये हम सब प्रकारसे समर्थ है—सिर्फ भूलका ज्ञान और उसके सुधारके लिये मनोबलकी जरूरत है।

यहाँपर मै इतना और भी बतला देना चाहता हू कि बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धसे यदि हमें सुख मिल सकता है, तो वह तभी मिल सकता है जब कि जगतके सम्पूर्ण पदार्थ हर वक्त हमारी इच्छाके अनुसार प्रवर्त्ता करे—उनके सम्पूर्ण परिवर्तन अथवा अलटन-पलटन और उनकी गति-स्थितिको लिये हुए समस्त क्रियाएँ हमारी मर्जी तथा रुचिके अनुकूल हुआ करे। परन्तु ऐसा हो नही सकता, क्योकि उन पदार्थोंका परिणमन—उनमे किसी परिवर्तन अथवा क्रिया-प्रक्रियादिका होना स्वयं उनके अधीन है—उनके स्वभाव आदिके आश्रित है—हमारे अधीन नही।

जो लोग उनको सब तरहसे अपने अधीन चाहते है और खाली इस प्रकारकी कामनाएँ किया करते है कि—इस वक्त वर्षा हो जाय, क्योकि सख्त गर्मी पड़ रही है या हमारा खेत सूखा जा रहा है, इस समय वर्षा न होवे या बन्द हो जाय, क्योकि हम सफर (यात्रा) मे है या सफरको जा रहे है, हमारे मकान टपके नही, उनमें वर्षाकी बौछार न आवे, जाड़ेमें ठँडी और गर्मियोमें गर्म हवा न घुसे, वे ज्योके त्यो बने रहे, टूटे-फूटे भी नही और न मैले-कुचैले ही हों; हमारे शरीरमे कोई रोग पैदा न हो, कोई बीमारी हमारे पास न आए, हम खूब हृष्ट-पुष्ट, तन्दुरुस्त, बलवान और जवान बने रहें; हमारे बाल भी सफेद न होने पाएँ, हमारे कपड़े जैसे तैसे उजले और नए बने रहे वे फटे भी नही और न उनपर कही कोई दाग धब्बा या खुरे आदिका निशान ही होने पावे, हमारी किसी चीज़को नुकसान न पहुँचे, किसीका रग रूप भी न बिगडे और न कोई घिसे या-घिसावे, हमको किसी भी इष्ट वस्तुका वियोग न सहना पडे, हमारे

कुटुम्बके सब लोग तथा मित्रादिक कुशल-क्षेमसे रहें हमें उनमेंसे एक का भी दु:ख न देखना पड़े, हमारा कोई विरोधी या शत्रु पैदा न हो, किसी अनिष्टका हमारे साथ संयोग न हो सके, हमारी पैदा की हुई इज्जत प्रतिष्ठा या बातमें किसी तरह भी फर्क न आवे—वह ज्यों की त्यों बनी रहे—और हम सब प्रकारके आनंद तथा सुख भोग करते हुए चिरकाल तक जीवित रहें, वगैरह वगैरह। ऐसे लोग फिजूल हैरान तथा परेशान होते है और व्यर्थ ही अपनेको दुखी बनाते है, क्योकि उन कामनाओंका पूरा होना सब तरहसे उनके अधीन नही होता, वे जिन सुखोंको चाहते है वे सब बहुत कुछ पराश्रित और पराधीन है और पराधीनतामें कही भी सुख नही है। सुखका सच्चा उपाय 'स्वाधीन-वृत्ति' है। जितनी जितनी स्वाधीनता—आज़ादी और खुदमुख्तारी—बढती जाती है, दूसरेकी बीचमें जरूरत या अपेक्षा नही रहती, उतनी उतनी ही हमारे सुखमें बढ़वारी होती जाती है; और जितनी जितनी पराधीनता—गुलामी मुहताजी और बेबसी—उन्नति करती जाती है उतनी-उतनी ही हमारे दु:खमें वृद्धि होती जाती है। फिजूलकी जरूरियात-को बढा लेनेसे पराधीनता बढती है और उससे हमारा दुख बढ जाता है। अत: हमको, जहाँ तक बन सके, अपनी जरूरियातको बढाना नही चाहिये, बल्कि घटाना चाहिये और ऐसी तो किसी भी जरूरतका अपनेको आदी, व्यसनी या वशवर्ती न बनाना चाहिये जो फिजूल हो या जिससे वास्तवमें कोई लाभ न पहुँचता हो। ऐसा होनेपर हमारा दु:ख घट जायगा और हमें सुख आसानीसे मिल सकेगा।

× × ×

एक प्रश्न

यहाँ पर यह प्रश्न पैदा हो सकता है कि जरूरियात तो जरूरियात ही होती है उनमे फिजूलियात क्या, जिनको छोड़ा या घटाया जावे ? अत इसकी भी कुछ व्याख्या कर देनी जरूरी और मुनासिब मालूम होती है । यह ठीक है कि जरूरियात जरूरियात ही होती है परन्तु बहुतसी जरूरियात ऐसी भी होती है जो फिजूल पैदा करली जाती है या जिनको पूरा न करनेसे वस्तुत कोई हानि नही पहुँचती । ऐसी सब जरूरियात फिजूलियातमे दाखिल है और वे आसानीसे छोड़ी या घटाई जा सकती है । कल्पना कीजिये, एक मनुष्य क्रोधकी हालतमे अपने पेटमे छुरी या सिरमे ईट मार कर घाव कर लेता है और फिर उस पर मरहम पट्टी करने बैठता है, घावको वह मरहम-पट्टी जरूरी हो सकती है,परन्तु यह ज़रूर कहना होगा कि उसने उसकी जरूरियातको फिजूल अपने आप पैदा किया है और वह आगेको वैसी कुचेष्टाओसे बाज (विमुख) रह सकता है। एक आदमी बहुतसी शराब पीकर अपनी विषयवासनाको भड़काता अथवा उत्तेजित करता है और इससे उसे बेवक्त ही एक स्त्रीकी जरूरत पैदा होती है, यह जरूरत भी फिजूलकी ज़रूरत है—स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक नही है—और उसको पूरा न करनेसे कोई खास नुकसान नही पहुँचता । इस तरहकी न मालूम कितनी जरूरियातको हम पैदा करते रहते है और उनको पूरा करनेमे अपनी शक्तिका व्यर्थ ही नाश तथा दुरुपयोग करते चले जाते है ।

एक छोटेसे बच्चेको, जिसे भले-बुरेकी कुछ भी पहिचान अथवा तमीज़ नही है और जिसे चाहे जिस साँचेमे ढाला जा सकता है, उसके माता पिता यदि बढ़िया बढ़िया रेशम, कीमख्वाब, अतलस, मख़मल और सुनहरी कामके वस्त्र पहनाते है और इस तरह उसमे शौकीनी तथा विलासिताका भाव भरते हैं; जिसकी वजहसे वह बादको साधा-

रण सादे वस्त्र पहनना पसंद नही करता और उसके शौक तथा हठ-को पूरा करनेके लिये फिर वैसे ही या उससे भी अच्छे, बढिया वहु-मूल्य वस्त्रोंकी जरूरत खडी होती है तो क्या यह फिजूलकी ज़रूरत पैदा करना नही है ? अवश्य है। और यदि उसे पैदा न करके या पूरा न करके उस बच्चेको सादा कपड़े ही पहननेको दिये जायँ तो इससे उस बच्चेकी तन्दुरुस्ती या स्वास्थ्य वगैरहको कोई नुकसान नही पहुँच सकता।

खाना-पीना जीवित रहनेके लिये जरूरी ज़रूर है परन्तु बढिया, शौकीनी, चटपटे मसालेदार, अधिक गरिष्ठ, अधिक भारी, देरसे पचनेवाला और खूब उत्तेजक खाना-पीना, परिमाणसे अधिक खाना और हर वक्त या बेवक्त खाना उसके लिये कोई ज़रूरी नही है। ऐसे खाने-पीने तथा आटेके स्थानमें मैदेका ही अधिक व्यवहार करने-की वजहसे यदि पेट खराब हो जाय, पाचन शक्ति जाती रहे, स्वा-स्थ्य बिगड़ जाय और हर वक्त चूर्ण गोली या दवाईके सेवनकी अथवा हकीम डाक्टर या वैद्यके पास जानेकी जरूरत रहने लगे, तो क्या इस व्यर्थकी ज़रूरतकी कभी पीठ ठोकी जा सकती है ? कदापि नही। उसे जहाँ तक बन सके शीघ्रही भोजनमें सुधार और सयमसे काम लेकर दूर कर देना चाहिये। हमारे स्वास्थ्यकी खराबीका अधिकतर आधार इस खाने-पीनेकी गड़बड़ी, असावधानी या जिह्वा-की लोलुपता, शौकीनी और संयमकी कमी पर ही है, और इससे हमारी शक्तियोंका बहुत ही दुरुपयोग हो रहा है और हम अपने बहुतसे कर्तव्योंकी पूर्तिसे वंचित रहते है।

पहनने-ओढ़नेका भी ऐसा ही हाल है। कपडा तन-बदनको ढकने और सर्दी-गर्मीसे बचनेके लिये होता है और उसकी यह गरज़ बहुत सादा तरीकों पर अच्छी तरहसे पूरी की जा सकती है। कोई पचास साठ वर्ष पहले हमारी माताएँ और वहनें अपने काते हुए सूतके कपड़े तय्यार कराती थी और वे गाढेके कपडे घर भरके

लिये काफी हो जाते थे । करीब चालीस पचास रुपयेकी लागतमें एक अच्छे कुटुम्बका खुशीसे पूरा पट जाता था । स्त्रियाँ अपने दावन (लहँगे) ओढने कसूभे आदिके प्राकृतिक रगमे ही रंग लेती थी और प्राय वैसे ही दावन-ओढने विवाह-शादियोमे दुलहनों (बहुओं)को चढाए जाते थे । परन्तु आज नुमाइशका भूत या खब्त हमारे सिर पर कुछ ऐसा सवार है कि उसके पीछे हम हर साल लाखो और करोड़ो रुपये फिजूल खर्च कर डालते हैं,विदेशी कपड़ोकी चमक-दमक और रग-ढगने हमारी आँखे खराब कर रक्खी है और हमे अपने पीछे पागलसा बना रक्खा है । कपड़ोकी भी कोई गिनती नही और न उनकी लागतका ही कोई तखमीना, अन्दाजा अथवा परिमाण पाया जाता है । भला एक छोटेसे बेखबर बच्चेको बीस, तीस, पचास या सौ रुपयेसे भी अधिक मूल्यकी पोशाक पहना देनेसे क्या नतीजा है, जिसको अपने तन बदनका कुछ भी होश नही, जो उस कपडेकी कीमत और कद्रको नही जानता, झटसे उसे मैली या खराब कर देता है और जिसको उसके पहननेमें कुछ भी आनन्दका अनुभव नही होता, बल्कि कभी कभी तो भारसा मालूम पड़ता है ? इसे खब्त नही तो और क्या कह सकते है ? ऐसे बच्चोंके माता पिता सचमुच ही उनके माता पिता अथवा हितैषी नही किन्तु शत्रु होते है, क्योकि वे उनमे शौकीनी तथा नुमाइशका भाव भरकर उनकी आगामी जरूरियातको फिजूल बढ़ाने और उनके जीवनको भाररूप बनानेका आयोजन करते हैं— सामान जोडते अथवा बीड़ा बाँधते हैं । इसी तरह स्त्रियोंकी पोशाक और उनके जेवरातकी हालत समझिये । उनके पीछे समाजका बेहद रुपया फ़िजूल खर्च होता है । जिन स्त्रियोको बोलने तककी तमीज़ नही— विवेक नही—वे भी सिरसे पैर तक बहुमूल्य वस्त्रो तथा जेवरोसे लदी रहती है । मालूम नही, इससे उनको क्या पोप चढता है, उनकी आत्माको क्या लाभ और उनकी तन्दुरुस्तीको क्या फायदा पहुँचता है ?

बाकी रहे विवाह-शादियोके खर्च, उनका तो कोई ठिकाना ही नही । उनके साथमें तो फिजूलियातका एक बडा अध्यायका अध्याय खुला हुआ है—रोपना, सगाई, सजोया, टोपी, चिट्ठी. टेवा.हलद,-मँढा, लगन, भात, जीमन-जोनार, भाजी, नौता, गाना-बजाना, नाचना, सीठना, बेल बासना, घोड़ीका चाव, चढ़त, बढियार, फेरे, सस्कार, बूर, बखेर, पत्तल, परोसा, दात, खैरात, मिलाई, दहेज, बरीपट्टा, रुखसत, बिदा और गौना वगैरहकी न मालूम कितनी और कैसी कैसी रस्में अदा करनी पड़ती है और उनमे कितना खर्च होता है !! एक लाला साहबसे मालूम हुआ कि उनके पहले पुत्रकी शादीमें दुलहनके लिये दावनकी जो तीयल तैय्यार कराई गई थी उसको पाँचसौ रुपयेकी लागत लगती रही थी. दूसरे पुत्रकी शादीमें नौसौ रुपयेकी लागत आई और अब तीसरे पुत्रके विवाहमे पन्द्रहसौ रुपयेसे भी अधिक लागतकी तीयल तैय्यार कराई गई है। एक दावन, ओढने और आगीकी लागतका जब यह हाल है तब विवाहके कुल खर्चोंका तखमीना,जिसमें जेवर भी शामिल है, कितने हजार होगा, इसे पाठक स्वयं ही समझ सकते है।

अब तो टोपियोके साथ चाँदीके बर्तन वगैरहके अतिरिक्त बड़ा ग्रामोफोन बाजा और बर्फ बनानेकी मशीन तक भी खेल-खिलौनोंके तौर पर दी जाने लगी है । इससे ज़ाहिर है कि विवाह-शादियोके खर्च दिनपर दिन बढ़ते जाते है और ये सब फिजूल खर्च हमारे खुदके बढ़ाए हुए है। समझमें नही आता, जब विवाहकी असली गरज और उसका खास काम बहुत थोड़ेसे रुपयोमें भी पूरा हो सकता है. तब उसके लिए हजारो रुपये खर्च करना कौन बुद्धिमत्ता और अक्लमदी की बात है ? और वह फिजूलियात नही तो और क्या है ? क्या एक विवाहमें अधिक खर्च कर देनेसे घरमें एककी जगह दो बहुएँ आजायेगी या लड़कीका सुहाग (सौभाग्य) कुछ बढ़ जायगा ? और क्या स्त्रियाँ यदि बहुमूल्य वस्त्राभूषण न पहनकर सादा लिबासमे

रहने लगे तो इससे उनका स्त्रीपना ही नष्ट-भ्रष्ट अथवा रद्द और अमान्य हो जायगा ? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर फिजूल ज्यादा खर्च करके अपनेको दीन, हीन तथा मुहताज बनाने और मुसीबतोंके जालमें फँसानेकी क्या ज़रूरत है ? इन विवाह-शादियोंके फिजूल खर्चोंने ही लड़कियोंको माता-पिताके लिये भारी बना दिया है और वे अक्सर उनका मरना मनाते रहते हैं! यह कितने दुःख और अफसोसकी बात है!!

इसी तरहकी और भी मरने, जीने, मिलने, बिछुड़ने, उत्सव, त्यौहार, बनावट, सजावट, खेल, तमाशे, शौकीनी, विलासिता और मनोविनोद आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुतसी जरूरियात फिजूल है, जिनको हमने ख्वाहमख्वाह अपने पीछे लगा रक्खा है और यदि हम चाहे तो उनको खुशीसे छोड़ सकते या कम कर सकते हैं। इन सब फिजूलकी ज़रूरियातने ही हमारे दुखको बढा रक्खा है, हमारे जीवनको बहुत ही खर्चीला (expensive) या अधिक धन पर आधार रखनेवाला बनाकर हमको अच्छी तरहसे तबाह और बर्बाद कर रक्खा है, इन्हीकी बदौलत हमारी आदत और प्रकृति बिगड़ गई है और हम धर्म या ईश्वरके उपासक न रहकर खाली धनके उपासक बन गये है, और इन्हीके कृपाकटाक्षका यह फल है जो हमारा धर्म-कर्म सब उठ गया, हममें वे सब बुरे कर्म अथवा पापाचरण घुस गये जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, और हम अपने पूर्वजोंके आदर्शसे बिल्कुल ही गिर गये है।

आदर्शसे गिर जाना

हमारे पूर्वज पहले कितने सादा चालचलनके होते थे और कितना सादा जीवन व्यतीत करते थे, यह बात किसीसे भी गुप्त अथवा छिपी नहीं है। उनका खाना-पीना, पहनना-ओढना, शयन-आसन और रहन-सहनका सब सामान सादा तथा परिमित था, वे

व्यर्थकी टीपटाप, नुमायश अथवा लोक-दिखावेको पसन्द नहीं करते थे और न अपनी शक्तिको व्यर्थ खोना उन्हें अच्छा मालूम होता था। इसीसे फिक्रात उन्हें नहीं सताते थे, भय-विकार उनपर अपना अधिकार जमाने नहीं पाते थे; और वे खूब हृष्ट-पुष्ट, नीरोग, तन्दुरुस्त, बलवान, बहादुर, पराक्रमी, निर्भयप्रकृति, प्रसन्नचित्त, हँसमुख, उदारविचार, वचनके सच्चे प्रणके पक्के, धर्मपर स्थिर, और अपने कर्तव्यका पालन करनेमे बहुत कुछ सावधान तथा कटिबद्ध होते थे। उनके समयमें यदि कोई किसीसे कर्ज लेता था तो उसके लिए आमतौरपर किसी रुक्के, चिट्ठी, प्रामेसरी नोट तमस्सुक या रजिस्टरीकी कोई जरूरत नहीं होती थी; एक अनपढ़ अथवा अशिक्षित व्यक्तिका महज़ कलमको छू देना या उससे कोई तिरछी-बाँकी लकीरसी खींच देना भी रजिस्टरीसे ज्यादा असर रखता था, उस वक्तके कर्जोंमे तमादी आरिज नहीं होती थी—कालकी कोई मर्यादा उन्हे अदेय नहीं ठहराती थी—किसीका लेकर नही भी दिया करते यह बात सिखलाई ही नहीं जाती थी। यदि किसीको कर्जा देते अथवा अपना ऋण चुकाते नही बनता था या उसके भुगतानमे देर हो जाती थी और इसपर साहूकार उससे यह कहता था कि 'भाई! तुमसे क़र्जा देते अथवा ऋण चुकाते नही बनता है, अत मै हिसाब-बहीमे तुम्हारे नामको छेक दूँ, बिदिया दूँ और अपनी रकमको बट्टेखाते डालदूँ' तो इसको सुनकर वह क़र्जदार (ऋणी पुरुष) काँप जाता था और हाथ जोड़कर कहने लगता था कि 'नही, ऐसा कभी मत करना, जब तक मेरे दममे दम और बदनमें जान-प्राण बाकी है, मैने जिन आँखो आपका कर्जा लिया है उन्ही आँखो उसे भुगताऊगा, कौड़ी कौड़ी अदा करूँगा, देर जरूर है मगर अन्धेर नही, और यदि अपने जीवनमे किसी तरहपर मै अदा न कर सका तो मेरे बेटे, पोते पड़पोते, यहाँ तक कि मेरी सात पीढी उसको अदा करेगी, आप उसकी चिन्ता न करे। जब आपसे लिया गया है तब वह आपको दिया

क्यो न जाय ?" कितने मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी उद्गार हैं—दिलको हिला देनेवाले कलाम अथवा वचन है—और इनसे किस दर्जे सचाई तथा ईमानदारीका प्रकाश होता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। सचमुच ही वह ज़माना भी कितना अच्छा और सच्चा था और उसकी बातोसे कितना सुख तथा शातिरस टपकता है।

परन्तु आज नक्शा बिल्कुल ही बदला हुआ है। आज उस कर्ज तथा दूसरे ठहरावोके लिये दस्तावेजात लिखाई जाती हैं, दस्तखत (हस्ताक्षर) होते हैं, अंगूठे लगते है, रजिष्टरी कराई जाती है और रजिष्टरीपर रुपया दिया जाता है; फिर भी बादको ऐसी झूठी उज्रदारियां (आपत्तियाँ) होती है कि दस्तावेज़ जरूर लिखी, दस्तखत किये या अँगूठा लगाया और रजिष्टरीपर रुपया भी वसूल पाया, लेकिन दस्तावेज फर्ज़ी थी, किसी अनुचित दबावके कारण लिखी गई थी, रुपया बादको वापिस दे दिया गया था या किसी योग्य कार्यमे खर्च नही हुआ, और इस लिये मुद्दई (वादी) उसके पानेका या दस्तावेज़के आधारपर किसी दूसरे हक़के दिलाए जानेका मुस्तहक (अधिकारी) नही है! ओह! कितना अधिक पतन और बेईमानीका कितना दौर-दौरा है!!

उस वक्त अदालतोके दर्वाजे शायद ही कभी खटखटाए जाते थे, पंचायतोका बल बढा हुआ था, यदि कोई मामला होता था तो वह प्राय घरके घरम या अपने ही गाँवमे आसानीसे निपट जाया करता था—ज़रा भी बढ़ने नही पाता था। परन्तु आज बात-बातमें लोग अदालतोमे दौड़े जाते हैं, उन्हीकी एक शरण लेते हैं, बस्ता बग़लमें दबाए उन्हीकी परिक्रमा किया करते हैं, उनके पडे पुजारियों—वकील-बैरिष्टर-मुख्तार-अहलकारों—के आगे बुरी तरहसे गिड़गिड़ाते हैं - वह भी प्राय न्यायके लिये नही, बल्कि किसी तरहसे बात रह जाय या उनकी बेईमानीको मदद मिल जाय—और इन्ही अदालती मन्दिरोमे वे अपने धर्मकर्मकी अच्छी खासी बलि दे

जाते है। अदालतोंके न्यायका कोई ठिकाना नही, उन्हें प्राय: 'बूढा मरो या जवान अपनी हत्या अथवा भुगतानसे काम' होता है; गरीबों और बे-पैसे या बे-आदमियोवालोंकी वहाँ कोई पहुँच अथवा पूछ नही होती; एक अदालतके फैसलेको दूसरी दूसरीके निर्णयको तीसरी और तीसरीके हुकमको चौथी अदालत तोड देती है. और कभी कभी एक ही अदालतका एक हाकिम दूसरे हाकिमके हुक्मको या खुद अपने हुकमको भी तोड़ देता अथवा रद्द कर देता है। इस तरह न्यायके नाम पर बड़ा ही अजीब नाटक होता है।

पंचायतोंका कोई बल रहा नही, पंच लोग अपनी बेईमानी और एक दूसरेकी बेजा तरफ़दारीकी वजहसे अपनी सारी प्रतिष्ठा, पद्धति और शक्तिको खो बैठे है, उन पर लोगोका विश्वास नही रहा, इससे चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है। लोग फिर फिरकर अदालतोंकी ही शरणमें जाते है और अपनेको नष्ट तथा बर्बाद करनेके लिये मजदूर होते है। मुकद्दमेबाजीका बेहद खर्चा बढ़ा हुआ है—तीसरी चौथी अदालतके हारनेवाला प्राय: नगा हो जाता है और जीतनेवालेके पास एक लगोटी ही शेष रह जाती है। इससे न्याय यदि कभी मिलता भी है तो वह बहुत ही महँगा पड़ता है।

लोग कहते है कि आजकल जमाना उन्नतिका है। परन्तु मुझे तो इन हालों वह कुछ उन्नतिका ज़माना मालूम नही होता, बल्कि खासा अवनतिका जान पडता है। जब हमारी आत्मिक शक्ति, शारीरिक बल नीति, सभ्यता, शिष्टता, धर्मकर्म और सुखशाँतिका बराबर दिवाला निकलता चला जाता है तब इस ज़मानेको उन्नतिका ज़माना कैसे कह सकते है ? उन्नतिका जमाना तो तब होता जब इन बातोमें कोई आदर्श उन्नति नज़र आती। परन्तु आदर्श उन्नति तो दूर, उलटी अवनति ही अवनति दिखलाई दे रही है। और हम इन सब बातोमें अपने पूर्वपुरुषोसे बहुत ही ज्यादा पिछड़े हुए है और पिछड़ते जाते हैं। हमने अपनी जरूरियातको बढ़ाकर फिजूल

अपने पैरमे आप कुल्हाडी मार रक्खी है और व्यर्थकी मुरौवत अपने ऊपर ले रक्खी है। इन जरूरियातको पूरा करनेकी धुन, फिक्र और चक्करमे हम अपनी आत्माकी, तन-बदनकी और धर्म-कर्मकी सारी सुधि भूले हुए है और हमारी वह सब हालत हो रही है जिसका लेखके आरभमे ही कुछ चित्र खीचकर पाठकोके सामने रक्खा गया है। हमारे सामने हरदम रुपये-पैसे या टकेका ही एक सवाल खडा रहता है रात दिन उसीका चक्कर चलता है और उसीके पीछे हमारे जीवनकी समाप्ति हो जाती है।

जब हमारे पास आमदनी कम और खर्च ज्यादा है और हम अपनी जरूरियातको पूरा करनेके लिए न्यायमार्गसे काफी रुपया पैदा नही कर सकते तब उन्हे पूरा करनेके लिये हम छल, कपट, फरेब, धोखा, दगाबाजी, जालसाजी, चालबाजी, चोरी, सीनाजोरी, घूसखोरी, विश्वासघात, असत्यव्यवहार, न्यासापहार (धरोहर-मारना), हत्या और बेईमानी नही करेगे तो और क्या करेगे? उस वक्त धर्मके पैसे पर, मन्दिरो तीर्थो या दूसरी सस्थाओके रुपये पर यदि हमारी नियत डिग जाय, हम अपनी सुकुमार कन्याओ तकको बेचने लगे और आपसमें खीचातानी बढ़ाकर मुकद्दमेबाजी पर उतर आवे तो इसमे आश्चर्यकी बात ही क्या है?

वास्तवमे हमारी सारी खराबी और गिरावटका कारण ये फिजूलकी जरूरियात ही हैं। इन्हीकी वजहसे हमारी उन्नति रुकी हुई है, हम अपनी आत्माका कल्याण नही कर सकते, आपसमे प्रेम-से नही रह सकते, एक दूसरेकी सहायता नही कर सकते और न सचमुचमे मनुष्य ही बन सकते है। इनकी बढवारीसे ही हमारा दुःख बढा हुआ है। यदि हम उस दुखको घटाना या दूर करना चाहते हैं तो हमे अपनी उन जरूरियातको घटाना या दूर कर देना होगा। बाकी यह खयाल गलत है कि जरूरियातको पूरा करके हम अपने दुख-दर्द एव वेदनाको दूर कर सकेंगे उसमें कोई वास्तविक

अथवा स्थायी कमी ला सकेगे। जरूरियातको पूरा करके दु खोकी शान्तिकी आशा रखना प्राय' ऐसा ही है जैसा कि अग्नि पर ईंधन और तेल डालकर उसकी शांति चाहना । यह जरूरियातकी पूर्ति ऐसी मर्हमपट्टी है जो उस वक्त तो घावमे ज़रासी देरके लिये कुछ चैन डाल देती है परन्तु पीछेसे बिया जाती है और तरह तरहकी वेदनाओं तथा कष्टोंकी जन्मदाता बन जाती है । अत' दु.खोको यदि वास्तवमें दूर करना और सुख-शांति चाहना है तो इस खयाल-के धोखेमें न रहकर हमे सबसे पहले, जितना भी शीघ्र बन सके, इन फिज़ूलकी ज़रूरियातको अलग कर देना चाहिये । यही हमारे हित का साधन और हमारे परलोकके सुधरनेका एक खास मार्ग है। इसीसे हमको वास्तविक सुख-शान्तिकी प्राप्ति हो सकेगी।

आशा है, सुखके सच्चे अभिलाषी और मुतलाशी (खोजी) अपनी उस वेदना और तृष्णारूपी अग्निको, जो बाह्य पदार्थोंके लिये उनके हृदयमें जल रही है, ज्ञान तथा विवेकरूपी जलसे शांत करेंगे, संतोषको अपनाएँगे, सादा जीवन व्यतीत करना सीखेंगे और यह समझकर कि इन फिजूलकी जरूरियातने ही हमारी जान अज़ा-बमें डाल रक्खी है, हमारी मिट्टी खराब कर रक्खी है, ये ही हमारे दुःखोंकी खास कारण है और ये ही हमारी उन्नति तथा प्रगतिमें रोड़ा अटकानेवाली अथवा विघ्नस्वरूप है, इन्हें मन-वचन-कायसे दृढताके साथ दूर करने-करानेकी पूरी कोशिश करेंगे । और इसके लिये उन्हें यदि किसी रीति-रिवाजको तोड़ना या बदलना भी पड़े, तो खुशीसे पूर्ण मनोबलके साथ खुद ही उसके लिये आगे कदम बढ़ाएँगे—अगुआ बनेंगे—और इस तरह अपना एक उदाहरण या नमूना दूसरोके सामने रखकर उनका मार्ग साफ करेंगे और उन्हे भी वैसा करने करानेकी हिम्मत तथा साहस प्रदान करेंगे । देश और जातिके सुधारका भी इसी पर एक आधार है और इसीके सहारे पर सबका बेड़ा पार है ।

२३

जैनी नीति

जिनेन्द्रदेवकी अथवा जैनधर्मकी जो मुख्य नीति है और जिस पर जिनेन्द्रदेवके उपासकों, जैनधर्मके अनुयायियों तथा अपना हित चाहनेवाले सभी सज्जनोंको चलना चाहिये, उसे 'जैनी नीति' कहते है। वह जैनी नीति क्या है अथवा उसका क्या स्वरूप और व्यवहारहै, इस बातको श्रीअमृतचन्द्राचायने अपने एक वाक्यमें अच्छी तरहसे दर्शाया है, जो इस प्रकार है —

एकेनाऽऽकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

इसमे, जैनी नीतिको दूध-दही बिलोनेवाली गोपी (ग्वालिनी)-की उपमा देते हुए. बतलाया है कि—जिस प्रकार ग्वालिनी बिलोते समय मथानीकी रस्सीको दोनो हाथोमे पकड़ कर उसके एक सिरे-(अन्त) को एक हाथसे अपनी ओर खीचती और दूसरे हाथसे पकड़े हुए सिरेको ढीला करती जाती है, एकको खीचनेपर दूसरेको बिल्कुल छोड़ नही देती किन्तु पकड़े रहती है, और इस तरह बिलोनेकी क्रियाका ठीक सम्पादन करके मक्खन निकालने रूप अपना कार्य सिद्ध कर लेती है। ठीक उसी प्रकार जैनी नीतिका व्यवहार है। वह जिस समय अनेकान्तात्मक वस्तुके द्रव्य-पर्याय या सामान्य-विशेषादिरूप एक अन्तको—धर्म या अंशको—अपनी ओर

खीचती है—अपनाती है—उसी समय उसके दूसरे अन्त (धर्म या अश) को ढीला कर देती है—उसके विषयमें उपेक्षाभाव धारण कर लेती है। फिर दूसरे समय उस उपेक्षित अन्तको अपनाती और पहलेसे अपनाए हुए अन्तके साथ उपेक्षाका व्यवहार करती है—एकको अपनाते हुए दूसरेका सर्वथा त्याग नही करती, उसे भी प्रकारान्तरसे ग्रहण किये रहती है। और इस तरह मुख्य-गौणकी व्यवस्थारूप निर्णय-क्रियाको सम्यक् संचालित करके वस्तु-तत्त्वको निकाल लेती है--उसे प्राप्त कर लेती है। किसी एक ही अन्त पर उसका एकान्त आग्रह अथवा कदाग्रह नही रहता—वैसा होने पर वस्तुकी स्वरूपसिद्धि ही नहीं बनती। वह वस्तुके प्रधान-अप्रधान सब अन्तों पर समान दृष्टि रखती है—उनकी पारस्परिक अपेक्षाको जानती है—और इसलिये उसे पूर्णरूपमें पहचानती है तथा उसके साथ पूरा न्याय करती है। उसकी दृष्टिमें एक वस्तु द्रव्यकी अपेक्षासे यदि नित्य है तो पर्यायकी अपेक्षासे वही अनित्य भी है, एक गुणके कारण जो वस्तु बुरी है दूसरे गुणके कारण वह वस्तु अच्छी भी है एक वक्तमे जो वस्तु लाभदायक है दूसरे वक्तमे वही हानिकारक भी है, एक स्थान पर जो वस्तु शुभरूप है दूसरे स्थान पर वही अशुभरूप भी है और एकके लिये जो हेय है दूसरेके लिये वही उपादेय भी है। वह विषको मारनेवाला ही नही किन्तु जीवनप्रद भी जानती है और इसलिये उसे सर्वथा हेय नही समझती।

इस नीतिकी दृष्टिमे नित्यका अनित्यके साथ और अनित्यका नित्यके साथ, विधिका निषेधके साथ और निषेधका विधिके साथ तथा मुख्यका गौणके साथ और गौणका मुख्यके साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है - एकके बिना दूसरेका अस्तित्व बन नही सकता। जिस प्रकार सम-तुलाका एक पल्ला ऊँचा होने पर दूसरा पल्ला स्वयमेव नीचा हो जाता है—ऊँचा पल्ला नीचेके बिना और नीचा पल्ला ऊँचेके बिना बन नही सकता और न कहला सकता है, उसी प्रकार

नित्य-अनित्यकी, विधि-निषेधकी और मुख्य-गौणआदिकी यह सारी व्यवस्था सापेक्ष है— सापेक्षनयवादका विषय है। और इसलिये जो निरपेक्षनयवादका आश्रय लेती है और वस्तुतत्त्वका सर्वथा एकरूपसे प्रतिपादन करती है वह जैनी नीति अथवा सम्यक् नीति न होकर मिथ्या नीति है। उसके द्वारा वस्तुतत्त्वका सम्यग्ग्रहण और प्रतिपादन नहीं बन सकता।

जैनी नीतिका ही दूसरा नाम 'अनेकान्तनीति' है और उसे 'स्याद्वादनीति' भी कहते हैं। यह नीति अपने स्वरूपसे ही सौम्य, उदार, शान्तिप्रिय, विरोधका मथन करनेवाली, वस्तुतत्त्वकी प्रकाशक और सिद्धिकी दाता है। खेद है जैनियोंने अपने इस आराध्य देवता 'अनेकान्त' को बिल्कुल भुला दिया है और वे आज एकान्तके अनन्य उपासक बने हुए हैं। उसीका परिणाम उनका मौजूदा सर्वतोमुखी पतन है, जिसने उनकी सारी विशेषताओं और गुण-गरिमाओं पर पानी फेर कर उन्हें नगण्य बना दिया है!! जैनियोंको फिरसे अपने इस आराध्य देवताका स्मरण कराते हुए उनके जीवनमें इस सन्नीतिकी प्राणप्रतिष्ठा कराने और संसारको भी इस नीतिका परिचय देने तथा इसकी उपयोगिता बतलानेके लिये ही 'अनेकान्त' नामसे पत्र निकाला गया है। लोकको इससे सत्प्रेरणा मिले और यह उसके हितसाधनमें सहायक होवे ऐसी शुभ भावना है।

२४

जैनी कौन हो सकता है ?

जो जीव जैनधर्मको धारणकरता है वह 'जैनी' कहलाता है। परन्तु आजकलके जैनी जैनधर्मको केवल अपनी ही पैतृक संपत्ति (मौरूसी तरका) समझ बैठे है और यही कारण है कि वे जैनधर्म दूसरोंको नही बतलाते और न किसीको जैनी बनाते हैं। शायद उन्हें इस बातका भय हो कि कही दूसरे लोगोके शामिल होजानेसे इस मौरूसी तरकेमें अधिक भागानुभाग होकर हमारे हिस्सेमें बहुत ही थोड़ासा जैनधर्म बाकी न रह जाय ! परन्तु यह सब उनकी बड़ी भारी भूल तथा गलती है और आज इसी भूल तथा गलतीको सुधारनेका यत्न किया जाता है।

हमारे जैनी भाई इस बातको जानते है और शास्त्रोमें भी जगह जगह हमारे परमपूज्य आचार्योंका यही उपदेश है कि, संसारमे दो प्रकारकी वस्तुएँ है—एक चेतन और दूसरी अचेतन। चेतनको जीव और अचेतनको अजीव कहते हैं। जितने जीव है वे सब द्रव्यत्वकी अपेक्षा अथवा द्रव्यदृष्टिसे बराबर है— किसीमें कुछ भेद नही है—सबका असली स्वभाव और गुण एक ही है। परन्तु अनादिकालसे जीवोंके साथ कर्म-मल लगा हुआ है, जिसके कारण उनका असली स्वभाव आच्छादित है, और वे नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नजर आते है। कीडा, मकोडा, कुत्ता, बिल्ली, शेर,

बघेरा, हाथी, घोडा, ऊंट, गाय, बैल, मनुष्य, पशु, देव, और नारकी आदिक समस्त अवस्थाएं उसी कर्ममलके परिणाम हैं और जीवकी इस अवस्थाको 'विभावपरिणति' कहते है।

जब तक जीवोमे यह विभावपरिणति बनी रहती है तब ही तक उनको 'ससारी' कहते है और तभी तक उनको ससारमे नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना होता है। परन्तु जब किसी जीवकी यह विभावपरिणति मिट जाती है और उसका निजस्वभाव सर्वाङ्गरूपसे अथवा पूर्णतया विकसित हो जाता है तब वह जीव मुक्तिको प्राप्त हो जाता है, और इस प्रकार जीवके 'ससारी' तथा 'मुक्त' ऐसे दो भेद कहे जाते हैं।

इस कथनसे स्पष्ट है कि जीवोका जो असली स्वभाव है वही उनका धर्म है, और उसी धर्मको प्राप्त करानेवाला जैनधर्म है। अथवा दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि जैनधर्म ही सब जीवोंका निज धर्म है। इसलिये प्रत्येक जीवको जैनधर्मके धारण करनेका अधिकार प्राप्त है। इसीसे हमारे पूज्य तीर्थंकरो तथा ऋषि-मुनियोने पशु-पक्षियो तकको भी जैनधर्मका उपदेश दिया है और उनको जैनधर्म धारण कराया है, जिनके सैकड़ो ही नही किन्तु हजारो दृष्टान्त प्रथमानुयोगके शास्त्रों (कथाग्रन्थो) को देखनेसे मालूम हो सकते हैं।

हमारे अंतिम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामी जब अपने इस जन्मसे नौ जन्म पहले सिहकी पर्यायमें थे तब उन्हें किसी वनमे एक महात्माके दर्शन करते ही जातिस्मरण हो आया था। उन्होंने उसी समय, उक्त महात्माके उपदेशसे, श्रावकके बारह व्रत धारण किये, केसरीसिह होकर भी किसी जीवको मारना और मांस खाना छोड़ दिया और इस प्रकार जैनधर्मको पालते हुए सिह-पर्यायको छोडकर वे प्रथम स्वर्गमें देव हुए और वहाँसे उन्नति करते करते अन्तमे जैनधर्मके प्रसादसे उन्होने तीर्थंकर-पद प्राप्त किया।

पार्श्वनाथपुराणमें, अरविन्दमुनिके उपदेशसे, एक हाथीके जैन-

धर्म धारण करने और श्रावकके व्रत पालन करनेके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा है—

अत्र हाथी संजम साधै। त्रस जीव न भूल विराधै ॥
समभाव छिमा उर आनै। अरि मित्र बराबर जानै ॥
काया कसि इन्द्री दंडै। साहस धर प्रौषध मंडै ॥
सूखे तृण पल्लव भच्छै। परमर्दित मारग गच्छै ॥
हाथीगण डोह्यो पानी। सो पीवै गजपति ज्ञानी ॥
देखे बिन पाँव न राखै। तन पानी पंक न नाखै ॥
निजशील कभी नहिं खोवै। हथिनी दिश भूल न जोवै ॥
उपसर्ग सहै अति भारी। दुर्ध्यान तजै दुखकारी ॥
अघके भय अंग न हालै। दृढ धीर प्रतिज्ञा पालै ॥
चिरलौं दुद्धर तप कीनो। बलहीन भयो तन छीनो ॥
परमेष्ठि परमपद ध्यावै। ऐसे गज काल गमावै ॥
एकैदिन अधिक तिसायौ। तब वेगवती तट आयौ ॥
जलपीवन उद्यम कीधौ। कादोद्रह कुंजर बीधौ ॥
निश्चय जब मरण विचारौ। सन्यास सुधी तब धारौ ॥

इससे साफ प्रकट है कि अच्छा निमित्त मिल जाने और शुभ कर्मका उदय आ जाने पर पशुओमें भी मनुष्यता आ जाती है और वे मनुष्योंके समान धर्मका पालन करने लगते हैं, क्योंकि द्रव्यत्वकी अपेक्षा सब जीव, चाहे वे किसी भी पर्यायमें क्यों न हों, आपसमें बरावर है। यही हाथीका जीव, जैनधर्मके प्रसादसे, इस पशुपर्याय-को छोड़कर बारहवे स्वर्गमे देव हुआ और फिर उन्नतिके सोपानपर चढता चढ़ता कुछ ही जन्म लेनेके पश्चात् हमारा पूज्य तीर्थंकर 'पार्श्वनाथ' हुआ है।

इसी तरह और बहुतसे पशुओने जैनधर्मको धारण करके अपने आत्माका विकास और कल्याण किया है। जब पशुओं तकने जैनधर्म को धारण किया है, तब फिर मनुष्योका तो कहना ही क्या ? वे

तो सर्व प्रकारसे इसके योग्य और दूसरे जीवोको इस धर्ममे लगाने-वाले ठहरे। सच पूछा जाय तो, किसी भी देश, जाति या वर्णके मनुष्यको इस धर्मके धारण करनेकी कोई मनाही (निषेध) नहीं है। प्रत्येक मनुष्य खुशीसे जैनधर्मको धारण कर सकता है। इसी-से सोमदेवसूरिने कहा है —

'मनोवाक्कायधर्माय मता सर्वेऽपि जन्तव।'

अर्थात्—मन, वचन, तथा कायसे किये जाने वाले धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये सभी जीव अधिकारी है।

जैन-शास्त्रोंसे तथा इतिहास-ग्रन्थोके देखनेसे भी यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है और इसमे कोई सन्देह नही रहता कि प्राय सभी जातियोंके मनुष्य हमेशासे इस पवित्र जैनधर्मको धारण करते आए हैं और उन्होने बडी भक्ति तथा भावके साथ इसका पालन किया है।

देखिये, क्षत्रिय लोग पहले अधिकतर जैनधर्मका ही पालन करते थे। इस धर्मसे उनको विशेष अनुराग और प्रीति थी। वे इसी धर्मको जगतका और अपनी आत्माका कल्याण करनेवाला समझते थे। हजारों राजा ऐसे हो चुके है जो जैनी थे अथवा जिन्होने जैन-धर्मकी दीक्षा धारण की थी। खासकर, हमारे जितने तीर्थंकर हुए है वे सब ही क्षत्रिय थे। इस समय भी जैनियोमे बहुतसे जैनी ऐसे है जो क्षत्रियोकी सन्तानमेसे हैं, परन्तु उन्होने क्षत्रियोका कर्म छोड़ कर वैश्यका कर्म अगीकार कर लिया है, इसलिये वैश्य कहलाते है। इसी प्रकार ब्राह्मण लोग भी पहले जैनधर्मको पालन करते थे और इस समय भी कही कही सैकड़ो ब्राह्मण जैनी पाये जाते है। जिस समय भगवान ऋषभदेवके पुत्र भरत चक्रवर्तीने क्षत्रियो आदिकी परीक्षा लेकर जिनको अधिक धर्मात्मा पाया उनका एक ब्राह्मण वर्ण स्थापित किया था उस समय तो ब्राह्मण लोग गृहस्थ जैनियोके पूज्य समझे जाते थे और बहुत काल तक बराबर पूज्य बने रहे।

परन्तु पीछेसे जब वे स्वच्छंद होकर अपने धर्म-कर्ममें शिथिल हो गये और जैनधर्मसे गिर गये तव जैनियोने आम तौरसे उनका पूजना और मानना छोड़ दिया। परन्तु फिर भी इस ब्राह्मण-वर्णमे बराबर जैनी होते ही रहे। हमारे परमपूज्य गौतम गणधर, भद्रबाहु स्वामी और पात्रकेशरी आदिक बहुतसे आचार्य ब्राह्मण ही थे, जिन्होने चहुँ-ओर जैनधर्मका डंका बजाकर जगतके जीवोका उपकार किया है।-रहे वैश्य लोग, वे जैसे इस वक्त जैनधर्मको पालन करते है वैसे पहले भी पालन करते थे। ऐसी ही हालत शूद्रोकी है, वे भी कभी जैनधर्मको धारण करनेसे नही चूके और ग्यारहवी प्रतिमाके धारक क्षुल्लक तक तो होते ही रहे है। इस वक्त भी जैनियोमे शूद्र, जैनी मौजूद है। बहुतसे जैनी शूद्रोका कर्म (पेशा) करते है। और शूद्र ही क्यो ? हमारे पूर्वज तीर्थंकरों तथा ऋषि-मुनियोने तो चंडालों, भीलो और म्लेच्छो त. को जैनधर्मका उपदेश देकर उन्हे जैनी बनाया है, और न केवल जैनधर्मका श्रद्धान ही उनके हृदयोंमें उत्पन्न किया है बल्कि श्रावकके व्रत भी उनसे पालन कराये है, जिनकी सैकड़ों कथाएँ शास्त्रोंमें मौजूद हैं।

'हरिवंशपुराण' में लिखा है कि, एक 'त्रिपद' नामके धीवर (कहार) की लड़कीको, जिसका नाम 'पूतिगधा' था और जिसके शरीरसे दुर्गंध आती थी, समाधिगुप्त मुनिने श्रावकके व्रत दिये। वह लड़की बहुत दिनो तक आर्यिकाके सा. रही अंतमे सन्यास धारण करके मरी तथा सोलहवे स्वर्गमें जाकर देवी हुई और फिर वहाँसे आकर श्रीकृष्णकी पटरानी 'रुक्मिणी' हुई।

चम्पापुर नगरमें अग्निभूत' मुनिने, अपने गुरु सूर्यमित्र मुनिराजकी आज्ञासे, एक चाडाल-लड़कीको, जो जन्मसे अंधी पैदा हुई थी और जिसकी देहसे इतनी दुर्गंध आती थी कि कोई उसके पास जाना नही चाहता था और इसी कारण वह बहुत दुखी थी, जैनधर्मका उपदेश देकर श्रावकके व्रत धारण कराये थे। इसकी कथा

सुकुमालचारित्रादिक शास्त्रोंमें मौजूद है । यही चांडालीका जीव दो जन्म लेनेके पश्चात् तीसरे जन्ममे 'सुकुमाल' हुआ था।

'पूर्णभद्र' और 'मानभद्र' नामके दो वैश्य भाइयोने एक चाडाल-को श्रावकके व्रत ग्रहण कराए थे और उन व्रतोके कारण वह चाडाल मर कर सोलहवे स्वर्गमे बड़ी ऋद्धिका धारक देव हुआ था, जिसकी कथा पुण्यास्रव-कथाकोशमें पाई जाती है।

'हरिवशपुराण' मे लिखा है कि, गधमादन पर्वत पर एक 'पर-वर्तक' नाम के भीलको श्रीधर आदि दो चारण-मुनियोने श्रावकके व्रत दिये। इसी प्रकार म्लेच्छोके जैनधर्म धारण करनेके सम्बन्धमे भी बहुतसी कथाएँ विद्यमान है, बल्कि जैनी चक्रवर्ती राजाओने तो म्लेच्छोकी कन्याओसे विवाह तक किया है। ऐसे विवाहोसे उत्पन्न हुई सन्तान मुनि-दीक्षा ले सकती थी, इतना ही नही किन्तु म्लेच्छ देशोसे आए हुए म्लेच्छ तक भी मुनिदीक्षाके अधिकारी ठहराये गये हैं[1]।

श्रीनेमिनाथके चचा वसुदेवने भी एक म्लेच्छ राजाकी पुत्रीसे, जिसका नाम 'जरा' था, विवाह किया था, और उससे 'जरत्कुमार' उत्पन्न हुआ था, जो जैनधर्मका बडा भारी श्रद्धानी था और जिसने अतको जैनधर्मकी मुनिदीक्षा धारण की थी। यह कथा भी हरिवश-

---

१. जैसा कि 'लब्धिसार' की टीकाके निम्न अशसे प्रकट है —

म्लेच्छभूमिजमनुष्याणा सकलसंयमग्रहणं कथ भवतीति नाशं-कितव्य। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागताना म्लेच्छ-राजाना चक्रवर्त्यादिभि सह जातवैवाहिकसम्बन्धाना सयमप्रतिपत्तेर-विरोधात्। अथवा चक्रवर्त्यादिपरिणीताना गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षा-पेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाज सयंमसभवात् तथाजातीयकाना दीक्षार्ह-त्वे प्रतिषेधाभावात्।' (गाथा न० १९३ से सम्बद्ध)

पुराणमें लिखी है[1]। और इसी पुराणमें, जहाँ पर श्रीमहावीरस्वामीके समवसरणका वर्णन है वहाँपर, यह भी लिखा है कि समवसरणमे जब श्रीमहावीरस्वामीने मुनिधर्म और श्रावकधर्मका उपदेश दिया तो उसको सुनकर 'बहुतसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य लोग मुनि हो गये और चारों ही वर्णके स्त्री-पुरुषोंने श्रावकके बारह व्रत धारण किये' इतना ही क्यों ? उनकी पवित्र वाणीका प्रभाव यहाँ तक पड़ा कि कुछ जानवरोंने भी अपनी शक्तिके अनुसार श्रावकके व्रत धारण किये। इससे भली भाँति प्रकट है कि, प्रत्येक मनुष्य ही नही बल्कि प्रत्येक जीव अपनी योग्यताके अनुसार जैनधर्मको धारण कर सकता है। इसलिये जैनधर्म सबको बतलाना चाहिये।

इन सब उल्लेखो परसे, यद्यपि, प्रत्येक मनुष्य खुशीसे यह नतीजा निकाल सकता है कि, जैनधर्म आजकलके जैनियोकी खास मीरास नही है, उस पर मनुष्य क्या जीवमात्रको पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त है और प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति अथवा सामर्थ्यके अनुसार उसको धारण और पालन कर सकता है, फिर भी यहाँपर कुछ थोड़ेसे प्रमाण और उपस्थित किये जाते है जिससे इस विषयके सदेह अथवा भ्रमका और भी अच्छी तरह निरसन हो सके :—

(१) 'पूजासार' के श्लोक न० १६ में जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवालेके दो भेद वर्णन किये है—एक नित्य पूजन करनेवाला, जिसको 'पूजक' कहते है और दूसरा प्रतिष्ठादि विधान करनेवाला, जिसको 'पूजकाचार्य' कहते है। इसके पश्चात् दो श्लोकोमे आद्य (प्रथम) भेद, 'पूजक' का स्वरूप दिया है और उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, इन चारों ही वर्णोंके मनुष्योंको पूजा करनेका अधिकारी ठहराया है। यथा:—

---

१. हरिवंशपुराणके उल्लेखोके लिये देखो पं०दौलतरामजी-द्वारा अनुवादित भाषा-हरिवंशपुराण अथवा जिनसेनाचार्यकृत मूलग्रन्थ।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽऽद्यः सुशीलवान् ।
दृढव्रतो दृढाचारः सत्यशौचसमन्वितः ॥ १७ ॥

(२) इसी प्रकार 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' के ६ वे अधिकारके श्लोक नं० १४२ मे श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवालेके उपर्युक्त दोनो भेदोका कथन करनेके अनन्तर ही एक श्लोकमे—'पूजक' के स्वरूप-कथनमें—ब्राह्मणादिक चारो वर्णोंके मनुष्योको पूजा करनेका अधिकारी बतलाया है। वह श्लोक यह है :—

ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः ।
सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः ॥ १४३ ॥

और इसी ६ वे अधिकारके श्लोक नं० २२५ मे ब्राह्मणोंके पूजन करना, पूजन कराना, पढना, पढाना, दान देना और दान लेना, ऐसे छह कर्म वर्णन करके उससे अगले श्लोकमे "यजनाध्ययने दानं परेषां त्रीणि ते पुनः" इस वचनसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके पूजन करना पढना और दान देना, ऐसे तीन कर्म वर्णन किये हैं।

इन दोनो शास्त्रोंके प्रमाणोंसे भली भाति प्रकट है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारो वर्णोंके मनुष्य जैनधर्मको धारण करके जैनी हो सकते है। तब ही तो वे श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेके अधिकारी वर्णन किये गये है।

(३) 'सागारधर्मामृत' मे पं० आशाधरजीने लिखा है —

[1]शूद्रोऽप्युपस्कराचार-वपुःशुध्याऽस्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥
(अ० २ श्लो० २२)

अर्थात्—आसन और वर्त्तन वगैरह जिसके शुद्ध हो, मास और

---

१. इस पद्यसे पहले स्वोपज्ञटीकामे यह प्रतिज्ञावाक्य भी दिया है—
"अथ शूद्रस्याप्याहारादिशुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद्धर्मक्रियाकारित्वं यथोचितमनुमन्यमानः प्राह—"

मदिरा आदिके त्यागसे जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य स्नान आदिके करनेसे जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक वर्णोंके सदृश श्रावक-धर्मका पालन करनेके योग्य है। क्योंकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिक लब्धिको पाकर जैन धर्मका अधिकारी होता है।

इसी तरह श्रीसोमदेव आचार्यने भी, 'नीतिवाक्यामृत' के नीचे लिखे वाक्यमें, उपर्युक्त तीनों शुद्धियोके होनेसे शूद्रोंको धर्म साधनके योग्य बतलाया है:—

"आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातितपस्विपरिकर्मसु योग्यान्।"

(४) रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें स्वामी समन्तभद्राचार्य लिखते हैं कि:—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥ २८॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शनसे युक्त—जैनधर्मके श्रद्धानी—चांडाल पुत्रको भी गणधरादि देवोंने 'देव' कहा है—आराध्य बतलाया है। उस की दशा उस अंगारके सदृश है जो बाह्यमें भस्मसे आच्छादित होने पर भी अंतरंगमें तेज तथा प्रकाशको लिये हुए है और इस लिये कदापि उपेक्षणीय नही होता।

इससे चांडालका जैनी बन सकना भली भाँति प्रकट ही नहीं किन्तु अभिमत जान पड़ता है। इसके सिवाय, सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति तो चौथे गुणस्थानमें ही हो जाती है, चांडाल इससे भी ऊपर जा सकता है और श्रावकके व्रत धारण कर सकता है, जैसा कि ऊपर उल्लेख की हुई कथाओंसे प्रकट है। इसमें किसीको भी आपत्ति नही है। रविषेणाचार्यने तो 'पद्मपुराण' में ऐसे व्रती चाण्डालको 'ब्राह्मण' का दर्जा प्रदान किया है और लिखा है कि कोई भी जाति बुरी अथवा तिरस्कारके योग्य नहीं है—सभी गुणधर्मकी अधिका-

रिणी हैं। यथाः—

न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥११—२०३॥

(५) सोमसेनके त्रैवर्णिकाचारमे भी एक पुरातन श्लोक निम्न प्रकारसे पाया जाता है :—

विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः॥ ७-१४२॥

इसमे लिखा है कि—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारो वर्ण अपने अपने नियत कर्मके विशेषकी अपेक्षासे कहे गये हैं, जैन-धर्मको पालन करनेमे इन चारो वर्णोके मनुष्य परम समर्थ है और उसे पालन करते हुए वे सब आपसमे भाई भाईके समान हैं।'

इन सब प्रमाणोसे सिद्धान्तकी अपेक्षा, प्रवृत्तिकी अपेक्षा और शास्त्राधारकी अपेक्षा सब प्रकारसे यह बात कि 'प्रत्येक मनुष्य जैन-धर्मको धारण कर सकता है' कितनी स्पष्ट और साफ तौर पर सिद्ध है, इसका अनुमान हमारे पाठक स्वय कर सकते है और मालूम कर सकते है कि वर्तमान जैनियोकी यह कितनी भारी ग़लती और वे-समझी है जो केवल अपने आपको ही जैनधर्मका मौरूसी हकदार समझ बैठे है।

अफसोस! जिनके पूज्य पुरुषो, तीर्थंकरो और ऋषि-मुनियों आदिका तो इस धर्मके विषयमे यह खयाल और यह कोशिश कि कोई भी जीव इस धर्मसे वंचित न रहे—यथासाध्य प्रत्येक जीवको इस धर्ममे लगाकर उसका हित साधन करना चाहिये, उन्ही जैनियो-की आज यह हालत कि वे कजूस और कृपणकी तरह जैनधर्मको छिपाते फिरते है। न आप इस धर्मरत्नसे लाभ उठाते है और न दूसरोको ही लाभ उठाने देते हैं। इससे मालूम होता है कि आज-कलके जैनी बहुत ही तगदिल (संकीर्णहृदय) है और इसी तंगदिली ने उन पर संगदिली (पाषाण-हृदयता) की घटा छा रक्खी है।

खुदग़र्ज़ी (स्वार्थपरता) का उनके चारों तरफ राज्य है । यही कारण है कि वे दूसरोंका उपकार करना नही चाहते और न किसीको जैनधर्मका श्रद्धानी बनानेकी कोई खास चेष्टा ही करते है । उनकी तरफसे कोई डूबो या तिरों, उनको इससे कुछ प्रयोजन नही । अपने भाइयोकी इस अवस्थाको देखकर बड़ा ही दुःख होता है ।

प्यारे जैनियो ! आप उन वीरपुरुषोंकी सन्तान हो, जिन्होंने लौकिक स्वार्थ-बुद्धिको कभी अपने पास तक फटकने नही दिया, पौरुषहीनता और भीरुताका कभी स्वप्नमें भी जिनको दर्शन नहीं हुआ, जिनके विचार बड़े ही विशुद्ध, गंभीर तथा हृदय विस्तीर्ण थे और जो संसार भरके सच्चे शुभचिंतक तथा सब जीवोंका हित साधन करनेमें ही अपनेको कृतार्थ समझनेवाले थे । आप उन्हींकी वंशपरम्परामें उत्पन्न है जिनका सारा मनोबल, वचनबल, बुद्धिबल और कायबल निरंतर परोपकारमें ही लगा रहता था, धार्मिक जोश से जिनका मुखमडल (चेहरा) सदा दमकता था, जो अपनी आत्माके समान दूसरे जीवोंकी रक्षा करते थे और इस संसारको असार समझ कर निरंतर अपना तथा दूसरे जीवोका कल्याण करनेमें ही लगे रहते थे; ऐसे ही पूज्य पुरुषोका आप अपने आपको अनुयायी तथा उपासक भी बतलाते है जो ज्ञान-विज्ञानके पूर्ण स्वामी थे, जिनकी सभामें पशु-पक्षी तक भी उपदेश सुननेके लिये आते थे, जिन्होने जैनधर्म धारण कराकर करोडो जीवोका उद्धार किया था और भिन्न धर्मावलम्बियों पर जैनियोके अहिसाधर्मकी छाप जमाई थी। इसलिये आप ही ज़रा विचार कीजिये कि क्या अपनी ऐसी हालत बनाना और दूसरोंका उपकार करनेसे इस प्रकार हाथ खींच लेना अथवा जी चुराना आपके लिये उचित और योग्य है ? कदापि नही ?

प्यारे धर्म बन्धुओ ! हमें अपनी इस हालत पर बहुत ही

लज्जित तथा शोकित होना चाहिये । हमारी इस लापर्वाही (उदासीनता) और खामोशी (मौनवृत्ति) से जैन जातिको वड़ा भारी धक्का और धब्बा लग रहा है । हमने अपने पूज्य पुरुषो—ऋषि-मुनियो—के नामको बट्टा लगा रक्खा है। यह सब हमारी स्वार्थ-परता, निष्पौरुषता, संकीर्णहृदयता और विपरीत-बुद्धिका ही परिणाम है। इसका सारा कलंक हमारे ही ऊपर है। वास्तवमें हम अपनी आँखोके सामने इस बातको देख रहे है कि अज्ञानसे अंधे प्राणी बिल्कुल बेसुध हुए मिथ्यात्वरूपी कुएके सन्मुख जा रहे हैं और उसमे गिर रहे है और फिर भी हम मौनावलम्बी हुए चुपचाप बैठे हैं—न उन बेचारोको उस कुएँसे सूचित करते है, न कुएँमे गिरनेसे बचाते है और न कूएँमे गिरे हुओंको निकालनेका प्रयत्न करते हैं, तो इससे अधिक और क्या अपराध हो सकता है ? अब हमको इस कलंक और अपराधसे मुक्त होनेके लिये अवश्य प्रयत्नशील होना चाहिये ।

सबसे प्रथम हमें अपनेमें इन स्वार्थपरता आदिक दोषोको निकाल डालना चाहिये । फिर उत्साहकी कटि बाँधकर और परोपकार को ही अपना मुख्य धर्म संकल्प करके अपने पूज्य पुरुषों अथवा ऋषि-मुनियोके मार्गका अनुसरण करना चाहिये और दूसरे जीवों पर दया करके उनको मिथ्यात्वरूपी अन्धकारसे निकालकर जिनवाणीके प्रकाशरूप जैनधर्मकी शरणमें लाना चाहिये। यही हमारा इस समय मुख्य कर्तव्य है और इसी कर्तव्यको पूरा करनेसे हम उपर्युक्त कलंकसे विमुक्त हो सकते हैं। अथवा यो कहिये कि अपने मस्तक पर जो कालिमाका टीका लगा हुआ है उसको दूर कर सकते है। हमको चाहिये कि अपने इस कर्तव्यके पालन करनेमे अब कुछ भी विलम्ब न करे। क्योकि इस वक्त कालकी गति जैनियो-के अनुकूल है। अब वह समय नही रहा कि जब अन्यायी और निष्ठुर राजा तथा बादशाहोके अन्याय और अत्याचारोके कारण

जैनी अपनेको जैनी कहते हुए डरते थे और अपने धर्म तथा शास्त्रोंको छिपानेके लिए बाध्य होते थे। अब वह समय आ गया है कि लोगोंकी प्रवृत्ति सत्यताकी खोज और निष्पक्षपातताकी ओर होती जाती है। इसलिये जैनियोंके लिये यह समय बड़ा ही अमूल्य है। ऐसे अवसर पर हमको अवश्य अपने धर्मरत्नका प्रकाश सर्व-साधारणमें फैलाना चाहिये। सर्व मनुष्योंपर जैनधर्मके सिद्धान्त और उनका महत्व प्रकट करना चाहिये और उनको बतलाना चाहिये कि कैसे जैनधर्म ही सब जीवोंका कल्याण कर सकता है और उनको वास्तविक सुखकी प्राप्ति करा सकता है। इस समय हमारे भाइयोंकी सिर्फ़ थोड़ीसी हिम्मत और परोपकारबुद्धिकी जरूरत है। बाकी यह खूबी खुद जैनधर्ममें मौजूद है कि वह दूसरोंको अपनी ओर आकर्षित कर लेवे। परन्तु दूसरोको इस धर्मका परिचय तथा जानकारी कराना मुख्य है और यह जैनियोंका कर्त्तव्य है।

अतः प्यारे जैनियो ! आप कुछ भी न घबराते हुए इस धर्म-रत्नको हाथमें लेकर चौड़े मैदानमें खड़े हो जाइये और जौहरियोंसे पुकार कर कहिये कि वे आकर इस रत्नकी परीक्षा करे। फिर आप देखेगे कि कितने धर्मजौहरी इस धर्मरत्नको देखकर मोहित होते है और इस पर अपना जीवन अर्पण करनेके लिये उद्यमी नजर आते है। अभी हालमें कुछ लोगोंके कानों तक इस धर्मका शुभ समाचार पहुँचा ही था कि वे तुरंत मन-वचन-कायसे इसके अनुयायी और भक्त बन गये है। इसलिये मेरा बार बार यही कहना है कि कोई भी मनुष्य इस पवित्र धर्मसे वंचित न रक्खा जावे, किसी न किसी प्रकारसे प्रत्येक मनुष्यके कानों तक इस धर्मकी आवाज (पुकार) पहुँच जानी चाहिये और इस बातका दिलमें कभी ख़याल भी न लाना चाहिये कि अमुक मनुष्य इस धर्मको धारण करनेके अयोग्य है अथवा इस धर्मका पात्र ही नही है। क्योंकि यह धर्म प्राणीमात्र-का धर्म है। यदि कोई मनुष्य पूरी तौर पर इस धर्मका पालन नही

कर सकता तो भी थोडा बहुत जरूर पालन कर सकता है। कमसे कम यदि उसका श्रद्धान भी ठीक हो जायगा तो उससे बहुत काम निकल जायगा और वह फिर धीरे धीरे यथावत् आचरण करनेमे भी समर्थ हो जायगा। इसी लिये शायद सोमदेवसूरिने 'यशस्तिलक' में लिखा है कि—

'नवैः संदिग्धनिर्वाहैर्विदध्याद् गणवर्धनम्।'

अर्थात्—ऐसे ऐसे नए मनुष्योसे भी अपने समाजकी समूहवृद्धि करनी चाहिये जो सदिग्धनिर्वाह हैं—जिनके विषयमें यह संदेह है कि वे समाजके आचार-विचारका यथेष्ट पालन कर सकेंगे।

दूसरी नीतिका यह वाक्य है कि 'अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः' अर्थात् कोई भी मनुष्य स्वभावसे अयोग्य नही है। परन्तु किसी मनुष्यको योग्यताकी ओर लगाना या किसीकी योग्यतासे काम लेना यही कठिन कार्य है और इसी पर दूसरे मनुष्यकी योग्यताकी परीक्षा निर्भर है। इसलिये यदि हम किसी मनुष्यको जैनधर्म धारण न करावे या किसी मनुष्यको जैनधर्मका श्रद्धानी न बना सके तो समझना चाहिये कि यह हमारी ही अयोग्यता है। इसमे उस मनुष्यका कोई दोष नही है और न इसमें जैनधर्मका ही कोई अपराध हो सकता है। इसलिये इस कच्चे विचार और बालखयालको बिल्कुल हृदयसे निकालकर फेक देना चाहिये कि 'अमुक मनुष्यको तो जैनधर्म बतलाया जावे और अमुकको नही'। प्रत्येक मनुष्यको जैनधर्म बतलाना चाहिये और जैनधर्मका श्रद्धानी बनाना चाहिये; क्योकि यह धर्म प्राणीमात्रका धर्म है– किसी खास जाति या देशसे सम्बद्ध (बंधा हुआ) नही है।

यहाँ पर सब प्रकारके मनुष्योको जैनधर्मका श्रद्धानी अथवा जैनी बनानेसे हमारे किसी भी भाईको यह समझकर भयभीत न होना चाहिये कि ऐसा होनेसे सबका खाना पीना एकदम एक हो जावेगा। खाना पीना और बात है—वह अधिकाशमें अपने ऐच्छिक

व्यवहारपर निर्भर है, लाजिमी नहीं—और धर्म दूसरी वस्तु है। दूसरे लोगोंको जैनधर्ममें दीक्षित करनेके लिये हमें प्राय उसी सनातन मार्गपर चलना होगा जिस पर हमारे पूज्य पूर्वज और आचार्य महानुभाव चलते आये है और जिसका उल्लेख आदिपुराणादि आर्ष ग्रन्थोंमें पाया जाता है[१]। हमारे लिये पहले ही से सब प्रकारकी सुगमताओंका मार्ग खुला हुआ है। उसके लिये व्यर्थ अधिक चिन्ता करने अथवा कष्ट उठाने की जरूरत नही है। अतः हमको बिल्कुल निर्भय होकर, साहस और धैर्यके साथ, सब मनुष्योमें जैनधर्मका प्रचार करना चाहिये। सबसे पहले लोगोका श्रद्धान ठीक करना और फिर उनका आचरण सुधारना चाहिये। जैनी बनने और बनानेके लिए इन्ही दो बातोकी खास जरूरत हैं। इनके बाद सामाजिक व्यवहार है, जो देश कालकी परिस्थितियों—आवश्यकताओं—और परस्परके प्रेममय सद्वर्तन आदि पर विशेष आधार रखता है। उसके लिए कोई एक नियम नही हो सकता। वह जितना ही निर्दोष दृढ तथा प्रेममूलक होगा उतना ही समाज और उसके धर्मकी स्थितिके लिये उपयोगी तथा हितकारी होगा।

---

१ आदिपुराणमे तो म्लेच्छो तकको कुलशुद्धि आदिके द्वारा अपने बना लेनेकी—उन्हे क्रमश. अपनी जातिमे शामिल कर लेनेकी—व्यवस्था की गई है। जैसा कि उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है.—

स्वदेशेऽनक्षरम्लेछान् प्रजाबाधाविधायिन. ।
कुलशुद्धि-प्रदानाद्यै: स्वसात्कुर्यादुपक्रमै. ॥ —पर्व ४२वा

२५

भक्ति-योग-रहस्य

जैनधर्मके अनुसार, सब जीव द्रव्यदृष्टिसे अथवा शुद्ध निश्चय-नयकी अपेक्षा परस्पर समान है – कोई भेद नही, सबका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है । प्रत्येक जोव स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियोका आधार है – पिड है। परन्तु अनादिकालसे जीवोके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल प्रकृतियाँ आठ, उत्तर प्रकृतियाँ एकसौ अड़तालीस और उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असख्य है। इस कर्म-मलके कारण जीवोका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित है और वे परतत्र हुए नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नजर आते है । अनेक अवस्थाओको लिये हुए संसारका जितना भी प्राणिवर्ग है वह सब उसी कर्म-मलका परिणाम है—उसीके भेदसे यह सब जीव-जगत् भेदरूप है, और जीवकी इस अवस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते है। जब तक किसी जीवकी ये विभाव-परिणति बनी रहती है, तब तक वह 'ससारी' कहलाता है और तभी तक उसे ससारमे कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा दु:ख उठाना होता है। जब योग्य साधनोके बलपर यह विभाव-परिणति मिट जाती है—आत्मामे कर्म-मलका सम्बन्ध नही रहता—और उसका निज स्वभाव सर्वाङ्गरूपसे अथवा

पूर्णतया विकसित हो जाता है, तब वह जीवात्मा संसार-परिभ्रमणसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है, जिसकी दो अवस्थाएं है--एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेहमुक्त। इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे जीवोंके संसारी' और 'सिद्ध' ऐसे मुख्य दो भेद कहे जाते है; अथवा अविकसित अल्पविकसित, बहुविकसित और पूर्ण-विकसित ऐसे चार भागोंमें भी उन्हें बाटा जा सकता है। और इसलिये जो अधिकाधिक विकसित है वे स्व-रूपसे ही उनके पूज्य एवं आराध्य है, जो अविकसित या अल्पविक-सित हैं; क्योंकि आत्मगुणोका विकाश सबके लिये इष्ट है।

ऐसी स्थिति होते हुए यह स्पष्ट है कि संसारी जीवोंका हित इसीमें है कि वे अपनी विभाव-परिणतिको छोड़कर स्वभावमे स्थिर होने अर्थात् सिद्धिको प्राप्त करनेका यत्न करे। इसके लिये आत्म-गुणोंका परिचय चाहिये, गुणोंमें वर्द्धमान अनुराग चाहिये और विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धा चाहिये। बिना अनुरागके किसी भी गुण-की प्राप्ति नहीं होती—अननुरागी अथवा अभक्त-हृदय गुणग्रहणका पात्र ही नही, बिना परिचयके अनुराग बढाया नही जा सकता और बिना विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धाके गुणोके विकासकी ओर यथेष्ट प्रवृत्ति ही नहीं बन सकती। और इसलिये अपना हित एव विकास चाहनेवालोंको उन पूज्य महापुरुषों अथवा सिद्धात्माओकी शरणमे जाना चाहिये---उनकी उपासना करनी चाहिये, उनके गुणोमें अनु-राग बढाना चाहिये और उन्हे अपना मार्ग-प्रदर्शक मानकर उनके नक्शे कदम पर चलना चाहिये, अथवा उनकी शिक्षाओ पर अमल करना चाहिये, जिनमे आत्माके गुणोका अधिकाधिकरूपमे अथवा पूर्णरूपमें विकास हुआ हो, यही उनके लिये कल्याणका सुगम मार्ग है।

वास्तवमें, ऐसे महान महात्माओके विकसित आत्मस्वरूपक भजन और कीर्तन ही हम संसारी जीवोके लिये अपने आत्माका अनुभवन और मनन है। हम 'सोऽहं' की भावना-द्वारा उसे अपने

जीवनमें उतार सकते है और उन्हीके—अथवा परमात्मस्वरूपके—आदर्शको सामने रखकर अपने चरित्रका गठन करते हुए अपने आत्मीय गुणोका विकास सिद्ध करके तद्रूप हो सकते है। इस सब अनुष्ठानमे उनकी कुछ भी गरज नही होती और न इसपर उनकी कोई प्रसन्नता ही निर्भर है—यह सब साधना अपने ही उत्थानके लिये की जाती है। इसीसे सिद्धिके साधनोंमें 'भक्ति-योग' को एक मुख्य स्थान प्राप्त है, जिसे भक्ति-मार्ग' भी कहते है।

सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्ति-द्वारा आत्मोत्कर्ष साधने का नाम ही 'भक्ति-योग' अथवा 'भक्ति-मार्ग' है और 'भक्ति' उनके गुणोमे अनुरागको, तदनुकूल वर्त्तनेको अथवा उनके प्रति गुणानुराग-पूर्वक आदर-सत्काररूप प्रवृत्तिको कहते है, जो कि शुद्धात्मवृत्तिकी उत्पत्ति एवं रक्षाका साधन हैं। स्तुति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा, सेवा, श्रद्धा और आराधना ये सब भक्तिके ही रूप अथवा नामान्तर है। स्तुति-पूजा-वन्दनादि रूपसे इस भक्तिक्रियाको 'सम्यक्त्व-वर्द्धिनी क्रिया' बतलाया हैं, शुभोपयोगि चारित्र लिखा है और साथ ही 'कृतिकर्म' भी लिखा है, जिसका अभिप्राय है 'पापकर्म-छेदनका अनुष्ठान'। सद्भक्तिके द्वारा औद्धत्य तथा अहंकारके त्यागपूर्वक गुणानुराग बढ़नेसे प्रशस्त अध्यवसायकी—कुशल परिणामकी—उपलब्धि होती है और प्रशस्त अध्यवसाय अथवा परिणामोकी विशुद्धिसे संचित कर्म उसी तरह नाशको प्राप्त होता है, जिस तरह काष्ठके एक सिरेमें अग्निके लगनेसे वह सारा ही काष्ठ भस्म हो जाता है। इधर संचित कर्मोंके नाशसे अथवा उनकी-शक्तिके शमनसे गुणावरोधक कर्मोकी निर्जरा होती या उनका बल-क्षय होता है तो उधर उन अभिलषित गुणोका उदय होता है,जिनसे आत्माका विकास सधता है। इसीसे स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्योंने परमात्मा-की स्तुतिरूपमें इस भक्तिको कुशल-परिणामकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गको सुलभ और स्वाधीन बतलाया है और अपने

तेजस्वी तथा सुकृती आदि होनेका कारण भी इसीको निर्दिष्ट किया है, और इसीलिये स्तुति-वंदनादिके रूपमें यह भक्ति अनेक नैमित्तिक क्रियाओंमें ही नही, किन्तु नित्यकी षट् आवश्यक-क्रियाओंमें भी शामिल की गई है, जो कि सब आध्यात्मिक क्रियाएँ है और अन्त-र्दृष्टिपुरुषों (मुनियो तथा श्रावकों) के द्वारा आत्मगुणोंके विकासको लक्ष्यमें रखकर ही नित्य की जाती है और तभी वे आत्मोत्कर्षकी साधक होती है। अन्यथा, लौकिक लाभ, पूजा-प्रतिष्ठा, यश, भय, रूढि आदिके वश होकर करनेसे उनके द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय नही बन सकता, और न प्रशस्त अध्यवसायके बिना संचित पापों अथवा कर्मोका नाश होकर आत्मीय गुणोका विकाश ही सिद्ध किया जा सकता है। अतः इस विषयमें लक्ष्यशुद्धि एवं भावशुद्धिपर दृष्टि रखनेकी खास ज़रूरत है, जिनका सम्बन्ध विवेकसे है। विना विवेकके कोई भी क्रिया यथेष्ट फलदायक नही होती, और न विना विवेककी भक्ति सद्भक्ति ही कहलाती है।

२६

महावीरकी तीर्थ-प्रवर्तन-तिथिका महत्व

श्रीवर्द्धमान महावीरकी गर्भ-जन्म-तप (दीक्षा)-ज्ञान-निर्वाण नामकी पंच कल्याणक तिथियाँ खूब प्रसिद्ध है—प्राय नित्यकी पूजामे उनका उच्चारण—स्मरण किया जाता है और उन्हें लक्ष्य करके पच-कल्याणक-व्रतानुष्ठानमे उपवास भी किये जाते है। जन्मतिथि तो 'महावीर जयन्ती' के रूपमें प्रायः सर्वत्र उत्सवादि-पूर्वक मनाई जाती है। परन्तु भ० महावीरके उपासकोमे ऐसे बहुत ही कम—नहींके बराबर—लोग निकलेगे जिन्हे भगवान्की तीर्थ-प्रवर्तन-तिथि अर्थात् वह दिन भी ठीक अवगत हो जिस दिन उन्होने केवलोत्पत्तिके पश्चात् लोक-हितार्थ अपना उपदेश प्रारम्भ किया था और उसके द्वारा धर्म-अधर्मकी यथार्थ परिभाषा बतलाकर तथा तत्त्व-अतत्त्वका ठीक भेद समझाकर अज्ञानान्धकारमे भूले-भटकते हुए प्राणियोको सन्मार्ग दिखलाया था, उनके वहमो—मिथ्याविश्वासो—को दूर भगाकर उनकी कुप्रवृत्तियोको सुधारनेका सातिशय प्रयत्न किया था और अन्याय-अत्याचारोसे पीड़ित एवं आकुलित जनताको सान्त्वना देकर उसके उद्धारका नेतृत्व ग्रहण करते हुए विश्वभरको सुख-शान्तिका सच्चा सन्देश सुनाया था। कृतज्ञता और उपकार-स्मरण आदिकी दृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह तीर्थ-प्रवर्तन-तिथि दूसरी जन्मादि तिथियोंसे कुछ कम महत्वकी नही है, बल्कि कितने ही अंशोमे अधिक महत्व

रखती है। क्योंकि दूसरी तिथिया जब व्यक्तिविशेषके उत्कर्षादिसे सम्बन्ध रखती है तब यह तिथि पीडित, पतित और मार्गच्युत जनताके उत्थान एवं कल्याणके साथ सीधा सम्बन्ध रखती है, और इसलिये अपने हितमें सावधान कृतज्ञ जनताके द्वारा खास तौरसे स्मरण रखने तथा महत्व दिये जाने योग्य है। परन्तु खेद है कि आज हम अपने कल्याणका सूत्रपात करनेवाली उस पावन तिथिको प्राय: बिल्कुल ही भुला बैठे हैं! हमें यह भी मालूम नही कि जिस तीर्थ-प्रवर्तनके कारण हम भ० महावीरको तीर्थंकर मानकर पूजते है वह तीर्थप्रवृत्ति अथवा तीर्थोत्पत्ति किस दिन हुई थी! फिर उसकी स्मृत्तिमें कोई शुभकृत्य करना अथवा किसी उत्सवादिके रूपमें वह पुण्यदिवस मनाना तो दूरकी बात है!! अत: आज इस लेख-द्वारा मैं अपने भाईयोंका ध्यान उनके इस पवित्र कर्तव्यकी ओर आकर्षित करता हूँ।

'धवल' नामक सिद्धान्त ग्रन्थमें, जो अभी तक अलभ्य और दुष्प्राप्य था, उस पुण्यतिथिका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है:—

> वासस्स पढम मासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
> पाडिवद पुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि॥

इस गाथामे साफ़ तौरसे भ०महावीरके तीर्थकी उत्पत्ति श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको पूर्वाण्हके समय अभिजित नक्षत्रमे बतलाई है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि वह श्रावणका महीना वर्षका पहला महीना था और वह कृष्ण पक्ष वर्षका पहला पक्ष था, जिससे एक बड़े ही महत्वका ऐतिहासिक तत्त्व प्रकाशमें आता है, और वह यह कि महावीरके समयमे यहाँ वर्षका आरम्भ श्रावणके महीने तथा कृष्णपक्षसे होता था—विक्रमादि संवतोकी तरह किसी दूसरे महीने अथवा शुक्लपक्षसे नही होता था। और इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि आजसे कोई ढाई हजार वर्ष पहले—निर्वाण

संवत्से २६ वर्ष ३।। महीने पूर्व—हमारे इस कृषि-प्रधान देशमें सावनी-आपाढीके विभागरूप फ़सली साल प्रवृत्त था। तब आजकल फ़सली सालकी जो संख्या बतलाई जाती और प्रवृत्तिमें आ रही है वह किस आधार पर अवलम्बित है और कहाँ तक ठीक है, यह अवश्य ही एक विचारणीय विषय है, जिस पर विद्वानोको खासतौरसे अनु-संधान-पूर्वक प्रकाश डालना चाहिये। अस्तु।

धवल सिद्धान्तमे एक दूसरी गाथा और दी है, जिससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उक्त श्रावरण कृष्ण प्रतिपदाका वह पूर्वाह्णका समय सूर्योदयका समय था, अभिजित नक्षत्रका उस समय योग हुआ ही था और रुद्र नामका प्रथम मुहुर्त वर्त रहा था, उसी समयका यह सब योग जो युगकी आदि—युगारम्भका माना जाता है वही वीरशासनकी उत्पत्तिका समझना चाहिये। वह गाथा इस प्रकार है—

सावणबहुलपडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढमजोए तत्थ जुगादो मुणेयव्वो।।

इस तरह श्रावण कृष्ण प्रतिपदाकी तिथि महावीरकी तीर्थ-प्रवर्तन-तिथि, युगारभ-तिथि अथवा शासन-तिथि है और इससे उसका महत्व स्वत. स्पष्ट है। उस दिन महावीर-शासनके प्रेमियोको खास तौर पर उक्त शासनकी महत्ताका विचार कर उसके अनुसार अपने आचार-विचारको स्थिर करना चाहिये और लोकमे महावीर-शासनके प्रचारका—महावीर सन्देशको सर्वत्र फैलानेका—भरसक उद्योग करना चाहिये अथवा जो लोग शासन-प्रचारके कार्यमे लगे हो उन्हें सच्चा सहयोग एव साहाय्य प्रदान करना चाहिये, जिससे वीरशासनका प्रसार होकर लोकमे सुख-शान्ति-मूलक कल्याणकी अभिवृद्धि होवे। आशा है सहृदय बन्धुजन मेरी इस छोटीसी सूचना एवं प्रेरणा पर अवश्य ही ध्यान देनेकी कृपा करेंगे।

२७

सकाम-धर्मसाधन

लौकिक-फलकी इच्छाओंको लेकर जो धर्मसाधन किया जाता है उसे 'सकाम-धर्मसाधन' कहते है और जो धर्म वैसी इच्छाओको साथमें न लेकर, मात्र आत्मीय-कर्तव्य समझ कर किया जाता है उसका नाम 'निष्काम-धर्मसाधन' है । निष्काम-धर्मसाधन ही वास्तवमें धर्मसाधन है और वही वास्तविक फलको फलता है। सकाम-धर्मसाधन धर्मको विकृत करता है, सदोष बनाता है और उससे यथेष्ट धर्म-फलकी प्राप्ति नही हो सकती । प्रत्युत इसके, अधर्मकी और कभी कभी घोर-पाप-फलकी भी प्राप्ति होती है। जो लोग धर्मके वास्तविक स्वरूप और उसकी शक्तिसे परिचित नही, जिनके अन्दर धैर्य नही, श्रद्धा नही, जो निर्बल है, कमज़ोर है, उतावले है और जिन्हे धर्मके फल पर पूरा विश्वास नही, ऐसे लोग ही फल-प्राप्तिमे अपनी इच्छाकी टागे अड़ा कर धर्मको अपना कार्य करने नही देते—उसे पंगु और बेकार बना देते है, और फिर यह कहते हुए नही लजाते कि धर्म-साधनसे कुछ भी फलकी प्राप्ति नही हुई। ऐसे लोगोंके समाधानार्थ— उन्हे उनकी भूलका परिज्ञान करानेके लिए ही – यह निबन्ध लिखा जाता है, और इसमें आचार्य-वाक्योंके द्वारा ही विषयको स्पष्ट किया जाता है।

श्रीगुणभद्राचार्य अपने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थमें लिखते है—

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिंतामरणेरपि ।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥२२॥

'फलके प्रदानमे कल्पवृक्ष संकल्पकी और चिन्तामरिण चिन्ताकी अपेक्षा रखता है-- कल्पवृक्ष बिना सकल्प किये और चिन्तामरिण बिना चिन्ता किये फल नही देता, परन्तु धर्म वैसी कोई अपेक्षा नही रखता—वह विना सकल्प किये और विना चिन्ता किये ही फल प्रदान करता है।'

जब धर्म स्वय ही फल देता है और फल देनेमे कल्पवृक्ष तथा चिन्तामरिणकी शक्तिको भी मात (परास्त) करता है, तब फल प्राप्तिके लिए इच्छाएँ करके—निदान बाधकर—अपने आत्माको व्यर्थ ही सक्लेशित और आकुलित करनेकी क्या जरूरत है ? ऐसा करनेसे तो उलटा फल-प्राप्तिके मार्गमें काँटे बोए जाते हैं, क्योकि इच्छा फल-प्राप्तिका साधन न होकर उसमें बाधक है ।

इसमें संदेह नही कि धर्म-साधनसे सब सुख प्राप्त होते है; परन्तु तभी तो जब धर्मसाधनमें विवेकसे काम लिया जाय । अन्यथा, क्रियाके—बाह्यधर्माचरणके—समान होने पर भी एकको वन्ध फल, दूसरेको मोक्षफल अथवा एकको पुण्यफल और दूसरेको पाप-फल, क्यों मिलता है ? देखिये, कर्मफलकी इस विचित्रताके विषयमे श्रीशुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें क्या लिखते हैं—

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पंडितः ।
बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद्ध्रुवम् ॥७२१॥

'जिस मार्ग पर अज्ञानी चलता है उसी पर ज्ञानी । दोनोंका धर्माचरण समान होने पर भी अज्ञानी अविवेकके कारण कर्म बाँधता है और ज्ञानी विवेक-द्वारा कर्म-बन्धनसे छूट जाता है।'

ज्ञानार्णवके निम्न श्लोकमें भी इसी बातको पुष्ट किया गया है—

वेष्टयत्यात्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनः ।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्धः समयान्तरे ॥७१७॥

इससे विवेक-पूर्वक आचरणका कितना बड़ा माहात्म्य है उसे बतलानेकी अधिक जरूरत नही रहती।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, अपने प्रवचनसारके चारित्राधिकारमें, इसी विवेकका—सम्यग्ज्ञानका—माहात्म्य वर्णन करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है :—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥३८॥

अर्थात्—अज्ञानी—अविवेकी मनुष्य जिस अथवा जितने ज्ञानावरणादिरूप कर्मसमूहको शत-सहस्र-कोटि-भवोंमें—करोड़ों जन्म लेकर—क्षय करता है उस अथवा उतने कर्म-समूहको ज्ञानी-विवेकी मनुष्य मन-वचन-कायकी क्रियाका निरोध कर अथवा उसे स्वाधीन कर स्वरूपमें लीन हुआ उच्छ्वासमात्रमें—लीलामात्रमें—नाश कर डालता है।

इससे अधिक विवेकका माहात्म्य और क्या हो सकता है? यह विवेक ही चारित्रको 'सम्यक्चारित्र' बनाता है और संसार-परिभ्रमण एवं उसके दुःख-कष्टोसे मुक्ति दिलाता है। विवेकके बिना चारित्र मिथ्याचारित्र है, कोरा कायक्लेश है और वह संसार-परिभ्रमण तथा दुःख-परम्पराका ही कारण है। इसीसे विवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञानके अनन्तर चारित्रका आराधन बतलाया गया है, जैसा कि श्रीअमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे प्रगट है.—

न हि सम्यग्व्यपदेश चारित्रमज्ञानपूर्वक लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्त चारित्राराधनं तस्मात् ॥३८॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात्—अज्ञानपूर्वक—विवेकको साथमे न लेकर—दूसरोकी देखा-देखी अथवा कहने-सुनने मात्रसे—जो चारित्रका अनुष्ठान किया जाता है वह 'सम्यक्चारित्र' नाम नही पाता—उसे 'सम्यक्चारित्र' नही कहते। इसीसे (आगममें) सम्यग्ज्ञानके अनन्तर— विवेक हो

जाने पर—चारित्रके आराधनका—अनुष्ठानका—निर्देश किया गया है—रत्नत्रयधर्मकी आराधनामे, जो मुक्तिका मार्ग है, चारित्रकी आराधनाका इसी क्रमसे विधान किया गया है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, प्रवचनसारमें, 'चारित्तं खलु धम्मो' इत्यादि वाक्यके द्वारा जिस चारित्रको—स्वरूपाचरणको—वस्तु-स्वभाव होनेके कारण धर्म बतलाया है वह भी यही विवेकपूर्वक सम्यक्-चारित्र है, जिसका दूसरा नाम साम्यभाव है और जो मोह-क्षोभ अथवा मिथ्यात्व-राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादिरूप विभावपरिणतिसे रहित आत्माका निज परिणाम होता है[1]।

वास्तवमे यह विवेक ही उस भावका जनक होता है जो धर्माचरणका प्राण कहा गया है। विना भावके तो क्रियाएं फलदायक होती ही नही है। कहा भी है—

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः[2]।

तदनुरूप भावके बिना पूजनादिककी, तप-दान-जपादिककी और यहाँ तक कि दीक्षाग्रहणादिककी सब क्रियाएँ भी ऐसी ही निरर्थक है जैसे कि बकरीके गलेके स्तन (थन), अर्थात् जिस प्रकार बकरीके गलेमे लटकते हुए स्तन देखनेमे स्तनाकार होते है, परन्तु वे स्तनोंका कुछ भी काम नही देते—उनसे दूध नही निकलता—उसी प्रकार बिना तदनुकूल भावके पूजा-तप-दान-जपादिककी उक्त सब क्रियाएँ भी देखनेकी ही क्रियाएँ होती है, पूजादिकका वास्तविक फल उनसे कुछ भी प्राप्त नही हो सकता[3]।

---

१. चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७ ॥

२. देखो, कल्याणमन्दिरस्तोत्रका 'आकर्णितोऽपि' आदि पद्य।

३. भावहीनस्य पूजादि-तपोदान-जपादिकम्।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकठे स्तनाविव ॥

ज्ञानी-विवेकी मनुष्य ही यह ठीक जानता है कि किन भावोंसे पुण्य बँधता है—किनसे पाप और किनसे दोनोंका बन्ध नहीं होता? स्वच्छ, शुभ तथा शुद्ध भाव किसे कहते है? और अस्वच्छ, अशुद्ध तथा अशुभ भाव किसका नाम है? सासारिक विषय-सौख्यकी तृष्णा अथवा तीव्रकषायके वशीभूत होकर जो पुण्य-कर्म करना चाहता है वह वास्तवमें पुण्यकर्मका सम्पादन कर सकता है या कि नही? और ऐसी इच्छा धर्मकी साधक है या बाधक? वह खूब समझता है कि सकामधर्मसाधन मोह-क्षोभादिसे घिरा रहनेके कारण धर्मकी कोटिसे निकल जाता है; धर्म वस्तुका स्वभाव होता है और इसलिये कोई भी विभाव परिणति धर्मका स्थान नही ले सकती। इसीसे वह अपनी धार्मिक क्रियाओंमें तद्रूपभावकी योजना-द्वारा प्राणका संचार करके उन्हें सार्थक और सफल बनाता है। ऐसे ही विवेकी जनोंके द्वारा अनुष्ठित धर्मको सब-सुखका कारण बतलाया है। विवेककी पुट बिना अथवा उसके सहयोगके अभावमें मात्र कुछ क्रियाओंके अनुष्ठानका नाम ही धर्म नही है। ऐसी क्रियाएँ तो जड़ मशीने भी कर सकती है और कुछ करती हुई देखी भी जाती है—फोनोग्राफके कितने ही रिकार्ड खूब भक्ति-रसके भरे हुए गाने तथा भजन गाते है और शास्त्र पढ़ते हुए भी देखनेमें आते हैं। और भी जड़मशीनोसे आप जो चाहें धर्मकी बाह्य क्रियाएँ करा सकते है। इन सब क्रिया-ओंको करके जड़मशीनें जिस प्रकार धर्मात्मा नही बन सकतीं और न धर्मके फलको ही पा सकती है, उसी प्रकार अविवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञानके विना धर्मकी कुछ क्रियाएँ कर लेने मात्रसे ही कोई धर्मा-त्मा नही बन जाता और न धर्मके फलको ही पा सकता है। ऐसे अविवेकी मनुष्यों और जड़मशीनोमे कोई विशेष अन्तर नही होता—उनकी क्रियाओको सम्यक्चारित्र न कहकर 'यान्त्रिक चारित्र' कहना चाहिये। हाँ, जड़ मशीनोंकी अपेक्षा ऐसे मनुष्योंमें मिथ्याज्ञान तथा मोहकी विशेषता होनेके कारण वे उसके द्वारा पाप-बन्ध करके अपना

अहित जरूर कर लेते है—जब कि जडमशीने वैसा नही कर सकती। इसी यात्रिक चारित्रके भुलावेमे पडकर हम अक्सर भूले रहते है और यह समझते रहते है कि हमने धर्मका अनुष्ठान कर लिया! इसी तरह करोड़ो जन्म निकल जाते है और करोड़ो वर्षकी बाल-तपस्यासे भी उन कर्मोंका नाश नही हो पाता, जिन्हें एक ज्ञानी पुरुष त्रियोगके संसाधन-पूर्वक क्षणमात्रमे नाश कर डालता है।

इस विषयमे स्वामी कार्तिकेयने, अपने अनुप्रेक्षा ग्रन्थमें, कितना ही प्रकाश डाला है। उसके निम्न वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य है :—

> कम्मं पुण्णं पावं हेऊ तेसिं च होंति सच्छिदरा।
> मंदकसाया सच्छा तिव्वकसाया असच्छा हु॥
>
> जीवो वि हवइ पाव अइतिव्वकसायपरिणदो णिच्चं।
> जीवो हवेइ पुण्णं उवसमभावेण संजुत्तो॥
>
> जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए।
> दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि॥
>
> पुण्णासएण पुण्णे जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती।
> इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म आयरं कुणह॥
>
> पुण्णं बंधदि जीवो मंदकसाएहि परिणदो संतो।
> तम्हा मंदकसाया हेऊ पुण्णस्स णहि वंछा॥
>
> गाथा ९०, १९०, ४१०—४१२

इन गाथाओमे बतलाया है कि—'पुण्यकर्मका हेतु स्वच्छ (शुभ) परिणाम है और पापकर्मका हेतु अस्वच्छ (अशुभ या अशुद्ध) परिणाम। मदकषायरूप परिणामोको स्वच्छ परिणाम और तीव्रकषायरूप परिणामोको अस्वच्छ परिणाम कहते है। जो जीव अतितीव्र-कषायसे परिणत होता है, वह पापी होता है और जो उपशमभावसे—कषायकी मदतासे—युक्त रहता है वह पुण्या-

त्मा कहलाता है। जो जीव कषायभावसे युक्त हुआ विषयसौख्यकी तृष्णासे—इंद्रियविषयको अधिकाधिक रूपमे प्राप्त करनेकी तीव्र-इच्छासे—पुण्य करना चाहता है—पुण्य क्रियाओंके करनेमें प्रवृत्त होता है—उससे विशुद्धि बहुत दूर रहती है और पुण्य-कर्म विशुद्धिमूलक-चित्तकी शुद्धि पर आधार रखनेवाले होते है। अतः उनके द्वारा पुण्यका सम्पादन नहीं हो सकता—वे अपनी उन धर्मके नामसे अभिहित होनेवाली क्रियाओंको करके पुण्य पैदा नही कर सकते। चूंकि पुण्यफलकी इच्छा रखकर धर्मक्रियाओंके करनेसे—सकाम-धर्मसाधनसे—पुण्यकी सम्प्राप्ति नही होती, बल्कि निष्काम-रूपसे धर्मसाधन करनेवालेके ही पुण्यकी संप्राप्ति होती है, ऐसा जानकर पुण्यमें भी आसक्ति नही रखना चाहिए। वास्तवमे जो जीव मंदकषायसे परिणत होता है वही पुण्य बांधता है, इसलिये मन्दकषाय ही पुण्यका हेतु है, विषयवॉछा पुण्यका हेतु नही—विषयवाछा अथवा विषयासक्ति तीव्रकषायका लक्षण है और उसका करनेवाला पुण्यसे हाथ धो बैठता है।'

इन वाक्योसे स्पष्ट है कि जो मनुष्य धर्म-साधनके द्वारा अपने विषय-कषायोंकी पुष्टि एवं पूर्ति चाहता है उसकी कषाय मन्द नही होती और न वह धर्मके मार्ग पर स्थिर ही होता है, इसलिए उसके द्वारा वीतराग भगवान्‌की पूजा-भक्ति-उपासना तथा स्तुतिपाठ, जप-ध्यान, सामायिक, स्वाध्याय, तप, दान और व्रत-उपवासादिरूपसे जो भी धार्मिक क्रियाएं बनती है वे सब उसके आत्मकल्याणके लिए नही होती—उन्हें एक प्रकारकी सासारिक दुकानदारी ही समझना चाहिए। ऐसे लोग धार्मिक क्रियाएं करके भी पाप उपार्जन करते है और सुखके स्थानमें उलटा दुखको निमन्त्रण देते है। ऐसे लोगोकी इस परिणतिको श्रीशुभचन्द्राचार्यने, ज्ञानार्णवग्रन्थके २५ वे प्रक-रणमें, निदान-जनित आर्त्तध्यान लिखा है और उसे घोर दु:खोका कारण बतलाया है। यथा:—

पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणां,
यद्वा तैरेव वांछत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात् ।
पूजा-सत्कार-लाभ-प्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पै
स्यादार्त्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणा दु खदावोग्रधाम ॥

अर्थात्—अनेक प्रकारके पुण्यानुष्ठानोको—धर्म कृत्योको—करके जो मनुष्य तीर्थंकरपद तथा दूसरे देवोंके किसी पदकी इच्छा करता है अथवा कुपित हुआ उन्ही पुण्याचरणोके द्वारा शत्रुकुल-रूपी वृक्षोके उच्छेदकी वाँछा करता है, अथवा अनेक विकल्पोके साथ उन धर्म-कृत्योको करके अपनी लौकिक पूजा-प्रतिष्ठा तथा लाभादिककी याचना करता है, उसकी यह सव सकाम-प्रवृत्ति 'निदानज' नामका आर्तध्यान है। ऐसा आर्त्तध्यान मनुष्योके लिए दु ख-दावानलका अग्रस्थान होता है—उससे महादु खोकी परम्परा चलती है।

वास्तवमे आर्त्तध्यानका जन्म ही सक्लेश–परिणामोसे होता है, जो पापवन्धके कारण है। ज्ञानार्णवके उक्त प्रकरणान्तर्गत निम्न श्लोकमे भी आर्त्तध्यानको कृष्ण-नील-कापोत ऐसी तीन अशुभ लेश्याओके वल पर ही प्रकट होनेवाला लिखा है और साथ ही यह सूचित्त किया है कि आर्त्तध्यान पापरूपी दावानलको प्रज्वलित करनेके लिए ईन्धनके समान है—

कृष्ण-नीलाद्यसल्लेश्यावलेन प्रविजृम्भते ।
इदं दुरितदावार्चिः प्रसूतेरिन्धनोपमम् ॥४०॥

इससे स्पष्ट है कि लौकिक फलोकी इच्छा रखकर धर्मसाधन करना धर्माचरणको दूषित और निष्फल ही नही वनाता, वल्कि उलटा पापवन्धका कारण भी होता है, और इसलिए हमे इस विषयमे वहुत ही सावधानी रखनेकी जरूरत है। सम्यक्त्वके आठ अंगोमें नि.कांक्षित नामका भी एक अग है, जिसका वर्णन करते हुए श्रीअ-मितगति आचार्य उपासकाचारके तीसरे परिच्छेदमें साफ लिखते है—

विधीयमाना: शम-शील-संयमा: श्रियं ममेमे वितरन्तु चिन्तिताम् ।
सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धिनीं निष्कांक्षितो नेति करोति कांक्षाम् ॥७४

अर्थात्--निःकांक्षित अंगका धारक सम्यग्दृष्टि इस प्रकारकी वांछा नही करता है कि मैने जो शम, शील और संयमका अनुष्ठान किया है वह सब धर्माचरण मुझे उस मनोवांछित लक्ष्मीको प्रदान करे, जो नानाप्रकारके सासारिक सुखोमें वृद्धि करनेके लिए समर्थ होती है--ऐसी वांछा करनेसे उसका सम्यक्त्व दूषित होता है ।

इसी नि.कांक्षित सम्यग्दृष्टिका स्वरूप श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने 'समयसार' में इस प्रकार दिया है--

जो ण करेदि दु कखं कम्मफले तह य सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २४८ ॥

अर्थात्—जो धर्मकर्म करके उसके फलकी—इन्द्रिय-विषय-सुखादिकी - इच्छा नहीं रखता है—यह नही चाहता है कि मेरे अमुककर्मका मुझे अमुकलौकिक फल मिले—और न उस फलसाधनकी दृष्टिसे नाना प्रकारके पुण्यरूप धर्मोंको ही इष्ट करता है—अपनाता है--और इस तरह निष्कामरूपसे धर्मसाधन करता है, उसे 'निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि' समझना चाहिये ।

यहाँपर मै इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि तत्त्वार्थसूत्रमें क्षमादि दश धर्मोके साथमें 'उत्तम' विशेषण लगाया गया है—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दवादिरूपसे दश धर्मोंका निर्देश किया है। यह विशेषण क्यों लगाया गया है ? इसे स्पष्ट करते हुए श्रीपूज्यपाद आचार्य अपनी 'सर्वार्थ-सिद्धि' टीकामें लिखते है—

दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम् ।

अर्थात्—लौकिक प्रयोजनोको टालनेके लिए 'उत्तम' विशेषणका प्रयोग किया गया है ।

इससे यह विशेषणपद यहाँ 'सम्यक्' शब्दका प्रतिनिधि जान पड़ता है और उसकी उक्त व्याख्यासे स्पष्ट है कि किसी लौकिक

प्रयोजनको लेकर—कोई दुनियावी गर्ज साधनेके लिये—यदि क्षमा, मार्दव-आर्जव-सत्य-शौच-सयम-तप-त्याग-आकिंचन्य-ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोंमेसे किसी भी धर्मका अनुष्ठान किया जाता है तो वह अनुष्ठान धर्मकी कोटिसे निकल जाता है। ऐसे सकाम-धर्मसाधनको वास्तवमे धर्मसाधन ही नही कहते। धर्मसाधन तो स्वरूपसिद्धि अथवा आत्मविकासके लिये आत्मीय कर्त्तव्य समझकर किया जाता है, और इसलिये वह निष्काम-धर्मसाधन ही हो सकता है।

इस प्रकार सकामधर्मसाधनके निषेधमें आगमका स्पष्ट विधान और पूज्य आचार्योकी खुली आज्ञाएँ होते हुए भी खेद है कि हम आज-कल अधिकाशमे सकाम-धर्मसाधनकी ओर ही प्रवृत्त हो रहे है। हमारी पूजा-भक्ति उपासना, स्तुति-वन्दना-प्रार्थना, जप-तप-दान और संयमादिकका सारा लक्ष लौकिक फलोकी प्राप्ति ही रहता है—कोई उसे करके धन-धान्यकी वृद्धि चाहता है, तो कोई पुत्रकी संप्राप्ति। कोई रोग दूर करनेकी इच्छा रखता है, तो कोई शरीरमें बल लानेकी। कोई मुकद्दमेमे विजय लाभके लिये उसका अनुष्ठान करता है, तो कोई अपने शत्रुको परास्त करनेके लिये। कोई उसके द्वारा किसी ऋद्धि-सिद्धिकी साधनामे व्यग्र है, तो कोई दूसरे लौकिक कार्योको सफल बनानेकी धुनमे मस्त। कोई इस लोकके सुखोंको चाहता है, तो कोई परलोकमे स्वर्गादिकोंके सुखोकी अभिलाषा रखता है। और कोई-कोई तो तृष्णाके वशीभूत होकर यहाँ तक अपना विवेक खो बैठता है कि श्रीवीतराग भगवानको भी रिश्वत (घूस) देने लगता है—उनसे कहने लगता है कि हे भगवन्! आपकी कृपासे यदि मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जाएगा तो मै आपकी पूजा करूँगा, सिद्धचक्रका पाठ थापूँगा, छत्र-चँवरादि भेट करूँगा, रथ-यात्रा निकलवाऊँगा, गज-रथ चलवाऊँगा अथवा मन्दिर बनवा दूँगा!! ये सब धर्मकी विडम्बनाएँ है! इस प्रकारकी विडम्बनाओंसे अपनेको धर्मका कोई लाभ नही होता और न आत्म-

विकास ही सध सकता है। जो मनुष्य धर्मकी रक्षा करता है—उसके विषयमें विशेष सावधानी रखता हुआ उसे विडम्बित या कलंकित नही होने देता—वही धर्मके वास्तविक फलको पाता है । 'धर्मो रक्षति रक्षितः' की नीतिके अनुसार रक्षा किया हुआ धर्म ही उसकी रक्षा करता है और उसके पूर्ण विकासको सिद्ध करता है।

ऐसी हालतमें सकामधर्मसाधनको हटाने और धर्मकी बिडम्बनाओंको मिटानेके लिये समाजमें पूर्ण आन्दोलन होनेकी जरूरत है; तभी समाज विकसित तथा धर्मके मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा तभी उसकी धार्मिक पोल मिटेगी और तभी वह अपनी पूर्व गौरव-गरिमाको प्राप्त कर सकेगा। इसके लिये समाजके सदाचारनिष्ठ एव धर्मपरायण विद्वानोंको आगे आना चाहिये और ऐसे दूषित धर्माचरणो·की युक्ति-पुरस्सर खरी-खरी आलोचना करके समाजको सजग तथा सावधान करते हुए उसे उसकी भूलोंका परिज्ञान कराना चाहिये तथा भूलोंके सुधारका सातिशय प्रयत्न कराना चाहिये । यह इस समय उनका खास कर्त्तव्य है और बड़ा ही पुण्यकार्य है । ऐसे आन्दोलन-द्वारा सन्मार्ग दिखलानेके लिये समाजके अनेक प्रमुख पत्रोको अपनाना—उनका उपयोग करना चाहिये।

२८

सेवा-धर्म

अहिंसाधर्म, दयाधर्म, दशलक्षणधर्म, रत्नत्रयधर्म, सदाचारधर्म, अथवा हिन्दूधर्म, मुसलमानधर्म, ईसाईधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म इत्यादि धर्मनामोसे हम बहुत कुछ परिचित है; परन्तु 'सेवाधर्म' हमारे लिये अभी तक वहुत ही अपरिचितसा बना हुआ है। हम प्रायः समझते ही नही कि सेवाधर्म भी कोई धर्म है अथवा प्रधान धर्म है। कितनों-ने ही तो सेवाधर्मको सर्वथा शूद्रकर्म मान रक्खा है,वे सेवकको गुलाम समझते है और गुलामीमें धर्म कहाँ ? इसीसे उनकी उस प्रकारके संस्कारोमे पली हुई बुद्धि सेवाधर्मको कोई धर्म अथवा महत्वका धर्म माननेके लिये तैय्यार नही—वे समझ ही नही पाते कि एक भाड़ेके सेवक, अनिच्छापूर्वक मजबूरीसे काम करनेवाले परतन्त्रसेवक और स्वेच्छासे अपना कर्तव्य समझकर सेवाधर्मका अनुष्ठान करनेवाले अथवा लोकसेवामे दत्तचित्त रहनेवाले स्वयसेवकमे कितना बड़ा अन्तर हैं। ऐसे लोग सेवाधर्मको शायद किसी नये धर्मकी ही सृष्टि समझते हो, परन्तु ऐसा समझना ठीक नही है। वास्तवमे सेवाधर्म सब धर्मोमे ओत-प्रोत है और सबमे प्रधान है। विना इस धर्मके सब धर्म निष्प्राण हैं, नि:सत्व है और उनका कुछ भी मूल्य नही है। क्योकि मन-वचन-कायसे स्वेच्छा एवं विवेकपूर्वक ऐसी क्रियाओका छोड़ना जो किसीके लिये हानिकारक हो और ऐसी क्रियाओंका

करना जो उपकारक हो 'सेवा-धर्म' कहलाता है।

'मेरे द्वारा किसी जीवको कष्ट अथवा हानि न पहुंचे, मै सावद्य-योगसे विरक्त होता हूँ,' लोकसेवाकी ऐसी भावनाके विना अहिंसा-धर्म कुछ भी नहीं रहता; और 'मै दूसरोंका दु.ख-कष्ट दूर करनेमें कैसे प्रवृत्त हूँ' इस सेवा-भावनाको यदि दया-धर्मसे निकाल दिया जाय तो फिर वह क्या अवशिष्ट रहेगा ? इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते है। इसी तरह दूसरे धर्मोंका हाल है। सेवाधर्मकी भावनाको निकाल देनेसे वे सब थोथे और निर्जीव हो जाते है। सेवाधर्म ही उन सबमें, अपनी मात्राके अनुसार, प्राणप्रतिष्ठा करने-वाला है। इसलिये सेवाधर्मका महत्व बहुत ही बढा चढ़ा है और वह एक प्रकारसे अवर्णनीय है। अहिंसादिक सब धर्म उसके अंग अथवा प्रकार है और वह सबमें व्यापक है। ईश्वरादिककी पूजा-भक्ति अथवा उपासना भी उसीमे शामिल (गर्भित) है, जो कि अपने पूज्य एवं उपकारी पुरुषोंके प्रति किये जानेवाले अपने कर्तव्यके पालनादि-स्वरूप होती है। इसीसे उसको 'देवसेवा' भी कहा गया है। किसी देव अथवा धर्म-प्रवर्तकके गुणोका कीर्तन करना, उसके शासनको स्वयं मानना, सदुपदेशको अपने जीवनमें उतारना और शासनका प्रचार करना, यह सब उस देव अथवा धर्म-प्रवर्तककी सेवा है और इसके द्वारा अपनी तथा अन्य प्राणियोंकी जो सेवा होती है वह सब इससे भिन्न दूसरी आत्मसेवा अथवा लोकसेवा है। इस तरह एक सेवामें दूसरी सेवाएँ भी शामिल होती है।

स्वामी समन्तभद्रने अपने इष्टदेव भगवान महावीरके विषयमें अपनी सेवाओंका और अपनेको उनकी फलप्राप्तिका जो उल्लेख एक पद्यमें किया है वह पाठकोंके जानने योग्य है और उससे उन्हें देव-सेवाके कुछ प्रकारोंका बोध होगा और साथ ही यह भी मालूम होगा कि सच्चे हृदयसे और पूर्ण तन्मयताके साथ की हुई वीर-प्रभुकी सेवा कैसे उत्तम फलको फलती है। इसीसे उस पद्यको उनके 'स्तुति-

विद्या'नामक ग्रन्थ (जिनशतक) से यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

> सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
> हस्तावञ्जलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।
> सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते
> तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥११४॥

इसमें बतलाया है कि—'हे भगवन् ! आपके मतमे अथवा आपके ही विषयमे मेरी सुश्रद्धा है—अन्धश्रद्धा नही—, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है,मै पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामाजलि करनेके निमित्त है, मेरे कान आपकी ही गुणकथा सुननेमे लीन रहते है, मेरी आँखे आपके ही रूपको देखती हैं, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी ही सुन्दर स्तुतियो[1] के रचनेका है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमे तत्पर रहता है, इस प्रकारकी चूँकि मेरी सेवा है--मैं निरन्तर ही आपका इस तरह पर सेवन किया करता हूँ— इसीलिये हे तेज पते ! (केवलज्ञानस्वामिन् !) मै तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृति (पुण्यवान्) हूँ ।'

यहाँ पर किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि सेवा तो बडो-की–पूज्य पुरुषो एवं महात्माओकी–होती है और उसीसे कुछ फल भी मिलता है, छोटों-असमर्थों अथवा दीन-दुखियों आदिकी सेवामें क्या धरा है ? ऐसा समझना भूल होगा । जितने भी बड़े, पूज्य, महात्मा अथवा महापुरुष हुए है वे सब छोटो, असमर्थो,असहायो एवं दीन-दुखियोकी सेवासे ही हुए है—सेवा ही सेवकोको सेव्य बनाती अथवा ऊँचा उठाती है और इसलिये ऐसे महान लोक-सेवकोकी

---

१. समन्तभद्रकी देवागम युक्त्यनुशासन और स्वयंभूस्तोत्र नामकी स्तुतियाँ बडे ही महत्वकी एव प्रभावशालिनी है और उनमे सूत्ररूपसे जैनागम अथवा वीरशासन भरा हुआ है ।

सेवा अथवा पूजा-भक्तिका यह अभिप्राय नही कि हम उनका कोरा गुणगान किया करे अथवा उनकी ऊपरी (औपचारिक) सेवा-चाकरीमें ही अपनेको लगाये रक्खें—उन्हें तो अपने व्यक्तित्वके लिये हमारी सेवाकी जरूरत भी नहीं है—कृतकृत्योंको उसकी जरूरत भी क्या हो सकती है? इसीसे स्वामी समन्तभद्रने कहा है—'न पूज्यार्थस्त्वयि वीतरागे'—अर्थात् हे भगवन् ! पूजा-भक्तिसे आपका कोई प्रयोजन नही है, क्योंकि आप वीतरागी है—रागका अश भी आपकी आत्मामे विद्यमान नही है, जिसके कारण किसीकी पूजा-सेवासे आप प्रसन्न होते। वास्तवमे ऐसे महान् पुरुषोकी सेवा-उपासनाका मुख्य उद्देश्य उपकार-स्मरण और कृतज्ञता-व्यक्तीकरणके साथ 'तद्गुणलब्धि'—उनके गुणोकी संप्राप्ति—होता है। इसी बातको श्रीपूज्यपादाचार्यने, 'सर्वार्थसिद्धि' के मंगलाचरण ('मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि) में, 'वन्दे तद्गुणलब्धये' पदके द्वारा व्यक्त किया है। तद्गुणलब्धिके लिये तद्रूप आचरणकी जरूरत है और इसलिये जो तद्गुण-लब्धिकी इच्छा करता है वह पहले तद्रूप आचरणको अपनाता है—अपने आराध्यके अनुकूल वर्तन करना अथवा उसके नकशेकदम पर चलना प्रारम्भ करता है। उसके लिये लोकसेवा अनिवार्य हो जाती है—दीनों, दुःखितों, पीड़ितो, पतितों, असहायों, असमर्थों, अज्ञो और पथभ्रष्टोकी सेवा करना उसका पहला कर्त्तव्यकर्म बन जाता है। जो ऐसा न करके अथवा उक्त ध्येयको सामने न रखकर ईश्वर-परमात्मा या पूज्य महात्माओकी भक्तिके कोरे गीत गाता है वह या तो दभी है या ठग है—अपनेको तथा दूसरोको ठगता है—और या उन जड़ मशीनोकी तरह अविवेकी है जिन्हे अपनी क्रियाओं-का कुछ भी रहस्य मालूम नही होता। और इसलिये भक्तिके रूपमे उसकी सारी उछल-कूद तथा जयकारोंका—जय-जयके नारोका—कुछ भी मूल्य नही है। वे सब दभपूर्ण अथवा भावशून्य होनेसे बकरीके गलेमे लटकते हुए स्तनो (थनो) के समान निरर्थक होते है—उनका

कुछ भी वास्तविक फल नही होता ।

महात्मा गाँधीजीने कई बार ऐसे लोगोंको लक्ष्य करके कहा है कि 'वे मेरे मुँह पर थूके तो अच्छा, जो भारतीय होकर भी स्वदेशी वस्त्र नही पहनते और सिरसे पैर तक विदेशी वस्त्रोंको धारण किये हुए मेरी जय बोलते है।' ऐसे लोग जिस प्रकार गाँधीजीके भक्त अथवा सेवक नही कहे जाते बल्कि मजाक उड़ानेवाले समझे जाते है, उसी प्रकार जो लोग अपने पूज्य महापुरुषोके अनुकूल आचरण नही करते—अनुकूल आचरणकी भावना तक नही रखते—खुशीसे विरुद्धाचरण करते हैं और उस कुत्सित आचरणको करते हुए ही पूज्य पुरुषकी वदनादि क्रिया करते तथा जय बोलते हैं, उन्हें उस महापुरुषका सेवक अथवा उपासक नही कहा जा सकता—वे भी उस पूज्य व्यक्तिका उपहास करने-करानेवाले ही होते हैं, अथवा यह कहना होगा कि वे अपने उस आचरणके लिए जड़ मशीनोकी तरह स्वाधीन नही है और ऐसे पराधीनोका कोई धर्म नही होता । सेवा-धर्मके लिये स्वेच्छापूर्वक कार्यका होना आवश्यक है, क्योकि स्व-परहित-साधनकी दृष्टिसे स्वेच्छापूर्वक अपना कर्तव्य समझकर जो निष्काम-कर्म अथवा कर्म त्याग किया जाता है वह सच्चा सेवाधर्म है ।

जब पूज्य महात्माओंकी सेवाके लिये गरीबोकी-दीन-दुखियोकी, पीड़ितो-पतितोकी, असहायो-असमर्थोंकी, अज्ञो और पथभ्रष्टोकी सेवा अनिवार्य है—उस सेवाका प्रधान अंग है, विना इसके वह बनती ही नही—तब यह नही कहा जा सकता और न कहना उचित ही होगा कि "छोटों-असमर्थों अथवा दीन-दुखियों आदिकी सेवामें क्या धरा है ?" यह सेवा तो अहंकारादि दोषोको दूर करके आत्माको ऊँचा उठानेवाली है, तद्गुण-लब्धिके उद्देश्यको पूरा करनेवाली है और हर तरह आत्मविकासमे सहायक है, इसलिये परमधर्म है और सेवाधर्मका प्रधान अग है । जिस धर्मके अनुष्ठानसे अपना कुछ भी आत्मलाभ न होता हो वह तो वास्तवमें धर्म ही नही है ।

इसके सिवाय, अनादिकालसे हम निर्बल, असहाय, दीन, दुःखित पतित, मार्गच्युत और अज्ञ-जैसी अवस्थाओंमें ही अधिकतर रहे हैं और उन अवस्थाओंमें हमने दूसरोंकी खूब सेवाएं ली है तथा सेवा-सहायताकी प्राप्तिके लिये निरन्तर भावनाएं भी की है, और इस-लिये उन अवस्थाओमें पड़े हुए अथवा उनमेंसे गुजरनेवाले प्राणियों-की सेवा करना हमारा और भी ज्यादा कर्त्तव्यकर्म है, जिसके पालनके लिये हमें अपनी शक्तिको ज़रा भी नही छिपाना चाहिये— उसमें जी चुराना अथवा आना-कानी करने जैसी कोई बात न होनी चाहिये। इसीको यथाशक्ति कर्त्तव्यका पालन कहते है।

एक बच्चा पैदा होते ही कितना निर्बल और असहाय होता है और अपनी समस्त आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये कितना अधिक दूसरों पर निर्भर रहता अथवा आधार रखता है। दूसरे जन उसकी खिलाने-पिलाने, उठाने-बिठाने, लिटाने-सुलाने, ओढ़ने-बिछाने, दिल-बहलाने, सर्दी-गर्मी आदिसे रक्षा करने और शिक्षा देने-दिलानेकी जो सेवाएं करते है वे सब उसके लिये प्राणादानके समान है। समर्थ होने पर यदि वह उन सेवाओंको भूल जाता है और घमडमे आकर अपने उन उपकारी सेवकोंकी—माता-पितादिकोंकी – सेवा नही करता-- उनका तिरस्कार तक करने लगता है तो समझना चाहिये कि वह पतनकी ओर जा रहा है। ऐसे लोगोको संसारमे कृतघ्न, गुणमेट और अहसानफरामोश जैसे दुर्नामो से पुकारा जाता है। कृतघ्नता अथवा दूसरोके किये हुए उपकारो और ली हुई सेवाओंको भूल जाना बहुत बड़ा अपराध है और वह विश्वासघातादिकी तरह ऐसा बड़ा पाप है कि उसके भारसे पृथ्वी भी काँपती है। किसी कविने ठीक कहा है :—

> करै विश्वासघात जो कोय, कीया कृतको विसरै जोय।
> आपद पड़े मित्र परिहरै, तासु भार धरणी थरहरै॥

ऐसे ही पापोंका भार बढ जानेसे पृथ्वी अक्सर डोला करती

है--भूकम्प आया करते है। और इसीसे जो साधु पुरुष—भले आदमी—होते है वे दूसरोके किये हुए उपकारों अथवा ली हुई सेवाओको कभी भूलते नही है--'न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति'—बदलेमे अपने उपकारियोकी अथवा उनके आदर्शानुसार दूसरोंकी सेवा करके ऋणमुक्त होते रहते है। उनका सिद्धान्त तो 'परोपकाराय सता विभूतय:' की नीतिका अनुसरण करते हुए प्राय: यह होता है :—

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ?
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥

अर्थात्--अपने उपकारियोके प्रति जो साधुताका—प्रत्युपकारादिरूप सेवाका--व्यवहार करता है उसके उस साधुपनमे कौन वड़ाईकी बात है ?—ऐसा करना तो साधारण-जनोचित मामूलीसी बात है। सत्पुरुषोने उसे सच्चा साधु वतलाया है जो अपना अपकार एव बुरा करनेवालोके प्रति भी साधुताका व्यवहार करता है—उनकी सेवा करके उनके आत्मासे शत्रुताके विषको ही निकाल देना अपना कर्तव्य समझता है ।

ऐसे साधुपुरुषोकी दृष्टिमे उपकारी, अनुपकारी और अपकारी प्राय: सभी समान होते है । उनकी विश्वबन्धुत्वकी भावनामें किसीका अपकार या अप्रिय आचरण कोई बाधा नही डालता । 'अप्रियमपि कुर्वाणो यः प्रिय. प्रिय एव सः' इस उदार भावनासे उनका आत्मा सदा ऊँचा उठा रहता है। वे तो सेवाधर्मके अनुष्ठान-द्वारा अपना विकास सिद्ध किया करते है, और इसीसे सेवाधर्मके पालनमें सव प्रकारसे दत्तचित्त होना अपना परम कर्तव्य समझते है।

वास्तवमे, पैदा होते ही जहाँ हम दूसरोंसे सेवाएँ लेकर उनके ऋणी वनते है वहाँ कुछ समर्थ होने पर अपनी भोगोपभोगकी सामग्री जुटानेमे, अपनी मान-मर्यादाकी रक्षामें, अपनी कषायोंको पुष्ट करनेमे और अपने महत्व या प्रभुत्वको दूसरो पर स्थापित

करनेकी धुनमें अपराध भी कुछ कम नहीं करते हैं। इस तरह हमारा आत्मा परकृत-उपकार-भार और स्वकृत-अपराध-भारसे बराबर दबा रहता है। इन भारोंके हलका होनेके साथ साथ ही आत्माके विकासका सम्बन्ध है। लोकसेवासे यह भार हलका होकर आत्म-विकासकी सिद्धि होती है। इसीसे सेवाको परमधर्म कहा गया है और वह इतना परम-गहन है कि कभी-कभी तो योगियोके द्वारा भी अगम्य हो जाता है—उनकी बुद्धि चकरा जाती है, वे भी उसके सामने घुटने टेक देते है और गहरी समाधिमें उतर कर उसके रहस्य को खोजनेका प्रयत्न करते है। लोकसेवाके लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देने पर भी उन्हें बहुधा यह कहते हुए सुनते है—

"हा दुट्ठकयं ! हा दुट्ठ भासियं ! चिंतियं च हा दुट्ठ !
अंतो अंतो डज्झम्मि पच्छुत्तावेण वेयंतो ॥"

मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिमे जहां थोड़ीसो भी प्रमत्तता, असाव-धानी अथवा त्रुटि लोकहितके विरुद्ध दीख पड़ती है वहाँ उसी समय उक्त प्रकारके उद्गार उनके मुँहसे निकल पड़ते है और वे उनके द्वारा पश्चाताप करते हुए अपने सूक्ष्म अपराधोंका भी नित्य प्राय-श्चित्त किया करते है। इसीसे यह प्रसिद्ध है कि—

'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।"

सेवाधर्मकी साधनामें, निःसन्देह, बड़ी सावधानीकी ज़रूरत है और उसके लिये बहुत कुछ आत्मबलि—अपने लौकिक स्वार्थोंकी आहुति—देनी पड़ती है। पूर्णसावधानी ही पूर्णसिद्धिकी जननी है, धर्मकी पूर्णसिद्धि ही पूर्ण आत्मविकासके लिये गारंटी है और यह आत्मविकास ही सेवाधर्मका प्रधान लक्ष्य है, उद्देश्य है अथवा ध्येय है।

मनुष्यका लक्ष्य जब तक शुद्ध नही होता तब तक सेवाधर्म उसे कुछ कठिन और कष्टकर ज़रूर प्रतीत होता है, वह सेवा करके अपना अहसान जताता है, प्रतिसेवाकी—प्रत्युपकारकी—वाँछा करता है अथवा अपनी तथा दूसरोंकी सेवाकी मापतौल किया करता

है और जब उसकी मापतौल ठीक नही उतरती—अपनी सेवासे दूसरोंकी सेवा कम जान पड़ती है—अथवा उसकी वह वाछा ही पूरी नही होती और न दूसरा आदमी उसका अहसान ही मानता है, तो वह एकदम झुझला उठता है, खेदखिन्न होता है, दुःख मानता है, सेवा करना छोड़ देता है और अनेक प्रकारके राग-द्वेषोंका शिकार बनकर अपनी आत्माका हनन करता है। प्रत्युत इसके, लक्ष्यशुद्धिके होते ही यह सब कुछ भी नही होता, सेवाधर्म एकदम सुगम और सुखसाध्य बन जाता है, उसके करनेमे आनन्द ही आनन्द आने लगता है और उत्साह इतना बढ जाता है कि उसके फलस्वरूप लौकिक स्वार्थोंकी सहजमें ही बलि चढ़ जाती है तथा जरा भी कष्ट-बोध होने नही पाता। इस दशामे जो कुछ भी किया जाता है अपना कर्तव्य समझकर खुशीसे किया जाता है और उसके साथमे प्रतिसेवा, प्रत्युपकार अथवा अपने आदर-सत्कार या अहकारकी कोई भावना न रहनेसे भविष्यमे दुःख, उद्वेग तथा कषाय-भावोकी उत्पत्तिका कोई कारण ही नही रहता; और इसलिये सहजमे ही आत्मविकास सध जाता है। ऐसे लोग यदि किसीको दान भी करते हैं तो नीचे नयन करके करते है। किसीने पूछा 'आप ऐसा क्यो करते हैं?' तो वे उत्तर देते हैं:—

> "देनेवाला और है, मैं समरथ नहिं देन।
> लोग भरम मो करत है, याते नीचे नैन॥"

अर्थात्—देनेवाला कोई और ही है और वह इसका भाग्योदय है—मै खुद कुछ भी देनेके लिये समर्थ नही हूँ। यदि मैं दाता होता तो इसे पहले से क्यों न देता? लोग भ्रमवश मुझे व्यर्थ ही दाता समझते हैं, इससे मुझे शरम आती है और मैं नीचे नयन किये रहता हूँ। देखिये, कितना ऊँचा भाव है। आत्मविकासको अपना लक्ष्य बनानेवाले मानवोंकी ऐसी ही परिणति होती है। अस्तु।

लक्ष्यशुद्धिके साथ इस सेवाधर्मका अनुष्ठान हर कोई अपनी

शक्तिके अनुसार कर सकता है। नौकर अपनी नौकरी, दुकानदार दुकानदारी, वकील वकालत, मुख्तार मुख्तारकारी, मुहर्रिर मुहर्रिरी, ठेकेदार ठेकेदारी, ओहदेदार ओहदेदारी, डाक्टर डाक्टरी, हकीम हिकमत, वैद्य वैद्यक, शिल्पकार शिल्पकारी, किसान खेती तथा दूसरे पेशेवर अपने-अपने उस पेशेका कार्य और मजदूर अपनी मज़दूरी करता हुआ उसीमेंसे सेवाका मार्ग निकल सकता है। सबके कार्योंमें सेवाधर्मके लिये यथेष्ट अवकाश है—गुंजाइश है।

सेवाधर्मके प्रकार और मार्ग

अब मै संक्षेपमें यह बतलाना चाहता हूँ कि सेवा-धर्म कितने प्रकारका है और उसके मुख्य मार्ग कौन-कौन हैं। सेवा-धर्मके मुख्य भेद दो है—एक क्रियात्मक और दूसरा अक्रियात्मक। क्रियात्मकको प्रवृत्तिरूप तथा अक्रियात्मकको निवृत्तिरूप सेवाधर्म कहते है। यह दोनों प्रकारका सेवाधर्म मन, वचन तथा कायके द्वारा चरितार्थ होता है, इसलिये सेवाके मुख्य मार्ग मानसिक, वाचिक और कायिक ऐसे तीन ही हैं—धनादिकका सम्बन्ध कायके साथ होनेसे वह भी कायिकमें ही शामिल है। इन्ही तीनों मार्गोंसे सेवाधर्म अपने कार्यमें परिणत किया जाता है और उसमें आत्म-विकासके लिये सहायक सारे ही धर्म-समूहका समावेश हो जाता है।

निवृत्तिरूप सेवाधर्ममें अहिसा प्रधान है। उसमें हिंसारूप क्रियाका—सावद्य-कर्मका—अथवा प्राणव्यपरोपणमें कारणीभूत मन-वचन-कायकी प्रमत्तावस्थाका तथा संकल्पका त्याग किया जाता है। मन-वचन-कायकी इंद्रिय-विषयोमें स्वेच्छा-प्रवृत्तिका भले प्रकार निरोधरूप 'गुप्ति', गमनादिकमें प्राणि-पीड़ाके परिहाररूप 'समिति', क्रोधकी अनुत्पत्तिरूप 'क्षमा', मानके अभावरूप 'मार्दव', माया अथवा योगवक्रताकी निवृत्तिरूप 'आर्जव', लोभके परित्यागरूप 'शौच', अप्रशस्त एवं असाधु वचनोंके त्यागरूप 'सत्य', प्राणव्यपरोपण और

इन्द्रिय-विषयोंके परिहाररूप 'संयम', इच्छानिरोधरूप 'तप', दुष्ट-विकल्पोके सत्याग अथवा आहारादिक देय-पदार्थोमेंसे ममत्वके परि-वर्जनरूप 'त्याग', बाह्य पदार्थोंमे मूर्छाके अभावरूप 'आकिंचिन्य', अब्रह्म अथवा मैथुनकर्मकी निवृतिरूप 'ब्रह्मचर्य'(ऐसे 'दशलक्षणधर्म), क्षुधादि-वेदनाओके उत्पन्न होने पर चित्तमें उद्वेग तथा अशान्तिको न होने देने रूप 'परिषहजय', रागद्वेषादि-विषमताओंकी निवृत्तिरूप 'सामायिक' और कर्म-ग्रहणकी कारणीभूत-क्रियाओसे विरक्तिरूप 'चारित्र', ये सव भी निवृत्तिरूप सेवाधर्मके ही अंग है, जिनमेंसे कुछ 'हिसा' और कुछ 'हिंसेतर' क्रियाओके निषेधको लिये हुए है।

इस निवृत्ति-प्रधानसे वाधर्मके अनुष्ठानके लिए किसी भी कौड़ी-पैसेकी पासमे ज़रूरत नही है। इसमे तो अपने मन-वचन-कायकी कितनी ही क्रियाओं तकको रोकना होता है – उनका भी व्यय नही किया जाता। हाँ, इस धर्म पर चलनेके लिये नीचे लिखा गुरुमंत्र बड़ा ही उपयोगी है—अच्छा मार्गदर्शक है :—

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।"

'जो जो बाते, क्रियाएँ, चेष्टाएँ तुम्हारे प्रतिकूल है—जिनके दूसरो-द्वारा किए हुए व्यवहारको तुम अपने लिये पसंद नही करते, अहितकर और दुखदाई समझते हो—उनका आचरण तुम दूसरोंके प्रति मत करो।'

यही पापोसे बचनेका गुरुमंत्र है। इसमें संकेतरूपसे जो कुछ कहा गया है व्याख्या-द्वारा उसे बहुत कुछ विस्तृत तथा पल्लवित करके बतलाया जा सकता है।

प्रवृत्तिरूप सेवाधर्ममे 'दया' प्रधान है। दूसरोंके दु.खो-कष्टोका अनुभव करके—उनसे द्रवीभूत होकर—उनके दूर करनेके लिए मन-वचन-कायकी जो प्रवृत्ति है—व्यापार है—उसका नाम 'दया' है। अहिसाधर्मका अनुष्ठाता जहाँ अपनी ओरसे किसीको दुःख-कष्ट नही पहुँचाता, वहा दयाधर्मका अनुष्ठाता दूसरोके द्वारा पहुँचाए

गये दुःख-कष्टोंको भी दूर करनेका प्रयत्न करता है। यही दोनोंमें प्रधान अन्तर है। अहिंसा यदि सुन्दर पुष्प है तो दयाको उसकी सुगंध समझना चाहिए।

दयामें सक्रिय परोपकार, दान, वैय्यावृत्य, धर्मोपदेश और दूसरोंके कल्याणकी भावनाएँ शामिल हैं। अज्ञानसे पीड़ित जनताके हितार्थ विद्यालय-पाठशालाएँ खुलवाना, पुस्तकालय-वाचनालय स्थापित करना, रिसर्च इन्स्टीट्यूटोंका—अनुसन्धान प्रधान संस्थाओं का—जारी कराना, वैज्ञानिक खोजोंको प्रोत्तेजन देना तथा ग्रन्थ-निर्माण और व्याख्यानादिके द्वारा अज्ञानान्धकारको दूर करनेका प्रयत्न करना, रोगसे पीड़ित प्राणियोंके लिए औषधालयो-चिकित्सा-लयोंकी व्यवस्था करना, बेरोजगारी अथवा भूखसे सतप्त मनुष्योंके लिए रोजगार-धन्धेका प्रबन्ध करके उनके रोटीके सवालको हल करना और कुरीतियों, कुसंस्कारों तथा बुरी आदतोंसे जर्जरित एवं पतनोन्मुख मनुष्य-समाजके सुधारार्थ सभा-सोसाइटियोका कायम करना और उन्हे व्यवस्थितरूपसे चलाना, ये सब उसी दया-प्रधान प्रवृत्तिरूप सेवाधर्मके अङ्ग है। पूज्योकी पूजा-भक्ति-उपासनाके द्वारा अथवा भक्तियोग-पूर्वक जो अपने आत्माका उत्कर्ष सिद्ध किया जाता है वह सब भी मुख्यतया प्रवृतिरूप सेवाधर्मका अङ्ग है।

इस प्रवृत्तिरूप सेवाधर्ममें भी जहाँ तक अपने मन, वचन और कायसे सेवाका सम्बन्ध है वहाँ तक किसी कौड़ी-पैसेकी जरूरत नही पड़ती—जहाँ सेवाके लिए दूसरे साधनोसे काम लिया जाता है वहीं ही उसकी जरूरत पड़ती है। और इस तरह यह स्पष्ट है कि अधि-काश सेवाधर्मके अनुष्ठानके लिए मनुष्यको टके-पैसेकी जरूरत नहीं है। जरूरत है अपनी चित्तवृत्ति और लक्ष्यको शुद्ध करनेकी, जिसके बिना सेवाधर्म बनता ही नही।

इस प्रकार सेवाधर्मका यह संक्षिप्तरूप, विवेचन अथवा दिग्दर्शन है, जिसमें सब धर्मोंका समावेश हो जाता है।

२६

होलीका त्यौहार और उसका सुधार

भारतके त्यौहारोमें होली भी एक देश-व्यापी मुख्य त्यौहार है। अनेक धर्म-समाजोमे इसकी जो कथाएँ प्रचलित हैं वे अपनी अपनी साम्प्रदायिक दृष्टिको लेकर भिन्न भिन्न पाई जाती है। यहाँ पर उन सबके विचारका अवसर नही है। होलीकी कथाका मूलरूप कुछ भी क्यो न रहा हो, परन्तु यह त्यौहार अपने स्वरूपपरसे समता और स्वतन्त्रताका एक प्रतीक जान पडता है, अथवा इसे सार्वजनिक हँसी-खुशी एवं प्रसन्न रहनेके अभ्यासका देशव्यापी सक्रिय-अनुष्ठान कहना चाहिये।

इस अवसर पर हर एकको बोलने, मनका भाव व्यक्त करने, स्वाग-तमाशो तथा नृत्य-गानादिके रूपमें यथेष्ट चेष्टाएँ करने, आनन्द मनाने और मानाऽपमानका खयाल छोडकर—बड़ाई-छोटाई अथवा ऊँचता-नीचताकी कल्पना-जन्य व्यर्थका सकोच त्यागकर—एक दूसरे-के सम्पर्कमे आनेकी स्वतन्त्रता होती है। साथ ही, किसीके भी रंग डालने, धूल उडाने, हँसी-मज़ाक करने तथा अप्रिय चेष्टाएँ करने आदिको स्वेच्छापूर्वक खुशीसे सहन किया जाता है—अपनी तौहीन (मानहानि) आदि समझकर उस पर क्रोधका भाव नही लाया जाता, न अपनी पोज़ीशनके बिगडनेका कोई खयाल ही सताता है, और यो एक प्रकारसे समता-सहनशीलताका अभ्यास किया जाता

है। अथवा यों कहिये कि इसके द्वारा राष्ट्रके लिये विघातक ऐसे राग-द्वेषादि-मूलक अनुचित भेद-भावोंको कुछ समयके लिये भुलाया जाता है—उन्हें भुलाने तथा जलाने तकका उपक्रम एव प्रदर्शन किया जाता है—और इस तरह राष्ट्रीय एकताको बनाये रखने अथवा राष्ट्रीय-समुत्थानके मार्गको साफ करनेका यह भी एक कदम अथवा ढंग होता है। 'होलीकी कोई दाद-फर्याद नही' यह लोकोक्ति भी इसी भावको पुष्ट करती है, और इसलिये इस त्यौहारको अपने असली रूपमें समता और स्वतंत्रताका रूपक ही नही, किन्तु एक प्रतीक कहना ज्यादा अच्छा मालूम होता है।

समय भी इसके लिये अच्छा चुना गया है, जो कि वसन्त ऋतु-का मध्यकाल होनेसे प्रकृतिके विकासका यौवन-काल है। प्रकृतिके इस विकाससे पदार्थ-पाठ लेकर हमें उसके साथ साथ अपने देश-राष्ट्र एवं आत्माका विकास अथवा उत्थान सिद्ध करना ही चाहिये। उसी-के प्रयत्न-स्वरूप—उसी लक्ष्यको सामने रखकर—यह त्यौहार मनाया जाता था, और तब इसका मनाना बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता था। परन्तु खेद है कि आज वह बात नही रही! उसका वह लक्ष्य और उद्देश्य ही नही रहा जो उसके मूलमें काम करता था! उसके पीछे जो शुभ भावनाएँ दृष्टिगोचर होती थी और जिन्हें लेकर ही वह लोकमें प्रतिष्ठित हुआ था उन सबका आज अभाव है!! आज तो यह त्यौहार इन्द्रिय-वृत्तियोंको पुष्ट करनेका आधार अथवा चित्तकी जघन्य वृत्तियोंको प्रोत्तेजन देनेका साधन बना हुआ है, जो कि व्यक्ति और राष्ट्र दोनोके पतनका कारण है और त्यौ-हारके रूपमें उसका कोई भी महान ध्येय सामने नही है। इसीसे होलीका वर्तमानरूप विकृत कहा जाता है, उसमे प्राण न होनेसे वह देशके लिये भाररूप है और इसलिये उसे उसके वर्तमान रूपमें मनाना उचित नही है। उसमें शरीक होना उसके विकृत-रूपको पुष्ट करना है।

यदि समता और स्वतत्रताके सिद्धान्तपर अवलम्बित राष्ट्रीय-एकता आदिकी दृष्टिसे, चित्तकी शुद्धिको कायम रखते हुए, यह त्यौहार अपने शुद्धस्वरूपमे मनाया जाय और उससे जनताको उदारता एवं सहनशीलतादिका सक्रिय-सजीव-पाठ पढाया जाय तो इसके द्वारा देशका बहुत कुछ हित-साधन हो सकता है और वह अपने उत्थान एव कल्याणके मार्गपर लग सकता है।

इसके लिये जरूरत है काग्रेस-जैसी राष्ट्रीय सस्थाके आगे आनेकी और इसके शरीरमे घुसे हुए विकारोको दूर करके उसमें फिरसे नई प्राण-प्रतिष्ठा करनेकी। यदि कांग्रेस इस त्यौहारको हिन्दूधर्मकी दलदलसे निकाल कर विशुद्ध राष्ट्रीयताका रूप दे सके, एक राष्ट्रीय सप्ताह आदिके रूपमे इसके मनानेका विशाल आयोजन कर सके और मनानेके लिये ऐसी मर्यादाएँ स्थिर करके दृढताके साथ उनका पालन करानेमे समर्थ हो सके जिनसे अभ्यासादिके वश कोई भी किसीका अनिष्ट न कर सके और जो व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनोके उत्थानमे सहायक हो, तो वह इस बहाने समता और स्वतंत्रताका अच्छा वातावरण पैदा करके देशका बहुत कुछ हित-साधन कर सकेगी और सच्चे स्वराज्यको बहुत निकट ला सकेगी। यदि काग्रेस ऐसा करनेके लिये तैयार न हो तो फिर हिन्दू-महासभादि देशकी दूसरी सस्थाओ तथा ग्राम-पंचायतोको इस त्यौहारके सुधारका भारी प्रयत्न करना चाहिये।

क्या ही अच्छा हो यदि देशके प्रमुख-विद्वान, समाज-सेवक, नेता, मंत्रीगण और पंचजन इस त्यौहारके सुधार-विषयमे अपने अपने विचार प्रकट करनेकी कृपा करे और सुधार-विषयक अपनी अपनी योजनाएँ राष्ट्रके सामने रखकर उसे सुधारके लिये प्रेरित करे।

होली-पर्वके सुधार-विषयमें मेरी दस-सूत्री योजना इस प्रकार है :—

(१) इस पर्वके दिन अशुभ राग तथा द्वेष-मूलक कार्य न किये

जाने चाहियें। ऐसी कोशिश होनी चाहिये कि हम अपने कार्यो तथा चेष्टाओंसे दूसरोंको कितना प्रसन्न, प्रमुदित अथवा आनंदित कर सकते हैं।

(२) ऐसे किसी भी पदार्थका रंगादिके रूपमें प्रयोग न करना चाहिये जो दूसरोंके स्वास्थ्यमें बाधक हो अथवा भारी-अरुचिका विषय हो; जैसे नालियोंका चोडा-कीचड, गन्दा पानी, गोबर, तारकोल, वार्निश रोगन, स्याही तथा दूसरे भद्दे और पक्के रंग।

(३) रंगोमें प्रायः केसरिया, गुलाबी, टेसू जैसे हल्के सुन्दर तथा कच्चे रंगोंका और गुलाल, अबीर तथा रोली-जैसे कोमल पदार्थोंका प्रयोग होना चाहिये।

(४) किसी अपरिचित व्यक्ति या ऐसे व्यक्ति पर जो होलीके आपके आनंदमें शरीक होना नही चाहता—साफ इनकार कर रहा है—जबरन रंग डालना या मलना न चाहिये; खासकर ऐसे पैदल या कि सवारी पर जाते हुए यात्रियों पर जो पहलेसे होलीके रंगमें रगे हुए भी नहों।

(५) गालियां बकना, अश्लील गीत गाना, भद्दे मज़ाक और असभ्यतामूलक कुचेष्टाएँ न होनी चाहिये, जो सब अशुभ रागकी घोतक हैं। उनके स्थान पर अच्छे शिक्षाप्रद तथा मांगलिक लोकगीतोंको अपनाना चाहिये।

(६) सबको इस दिन जाति-पाति, ऊँच-नीच और स्पृश्य-अस्पृश्यके असद्भेदभावको भुलाकर बिना किसी सकोचके परस्परमें मिल बैठकर पर्वके समता-कार्यको सम्पन्न करना चाहिए।

(७) होलीके दिन मदिरा तथा दूसरे ऐसे मादक पदार्थोंका सेवन न किया जाना चाहिये जिससे हम अपना विवेक खो बैठे।

(८) होलिका-दहनको दोष-दहनका रूप दिया जाना चाहिये। वर्षभरके अपने दोषों, वैर-विरोधों तथा बुराइयोंको स्थिर न रखकर उन्हें संकल्पपूर्वक त्याग देना अथवा कागज-काष्ठादि पर लिख

कर होलिकाग्निमें उनकी आहुति दे देनी चाहिये और फिर स्वच्छ-हृदयसे प्रेमपूर्वक एक दूसरेसे मिलना चाहिये। ऐसी होली घर-घर जलाई जा सकती है।

(९) किसीका भी कोई काष्ठ, इंधन आदि बिना उसकी इजाज़तके चोरीसे या जबरन न लेना चाहिये। इस प्रकारसे ग्रहण किया हुआ पदार्थ होलिकाग्निको दूषित करता है।

(१०) इस पर्वकी आड़में किसीको भी अपनी पुरानी दुश्मनी निकालने या बदला लेनेकी भावनासे अथवा किसीका अनिष्ट करनेकी दृष्टिसे कोई काम न करना चाहिये। ऐसे सब काम द्वेष-मूलक कार्योंमें शामिल है, जो पर्वकी पवित्रताको नष्ट करते है।

३०

स्व-पर-वैरी कौन ?

स्व-पर-वैरी—अपना और दूसरोका शत्रु—कौन ? इस प्रश्नका उत्तर संसारमें अनेक प्रकारसे दिया जाता है और दिया जा सकता है। उदाहरणके लिये—

१. स्वपरवैरी वह है जो अपने बालकोंको शिक्षा नही देता, जिससे उनका जीवन खराब होता है, और उनके जीवनकी खराबीसे उसको भी दु:ख-कष्ट उठाना पड़ता है, अपमान-तिरस्कार भोगना पड़ता है और सत्संततिके लाभोंसे भी वंचित रहना होता है।

२. स्वपरवैरी वह है जो अपने बच्चोंकी छोटी उम्रमें शादी करता है, जिससे उनकी शिक्षामे बाधा पड़ती है और वे सदा ही दुर्बल, रोगी तथा पुरुषार्थहीन–उत्साहविहीन बने रहते है अथवा अकालमें ही कालके गालमें चले जाते है। और उनकी इन अवस्थाओसे उसको भी बराबर दु.ख-कष्ट भोगना पड़ता है।

३. स्वपरबैरी वह है जो धनका ठीक साधन पासमें न होने पर भी प्रमादादिके वशीभूत हुआ रोजगार-धंधा छोड़ बैठता है – कुटुम्बके प्रति अपनी जिम्मेदारीको भुलाकर आजीविकाके लिये कोई पुरुषार्थ नही करता, और इस तरह अपनेको चिन्ताओमे डालकर दु:खित रखता है और अपने आश्रितजनों–बालबच्चों आदिको भी,

उनकी आवश्यकताएँ पूरी न करके, संकटमें डालता तथा कष्ट पहुँचाता है।

४. स्वपरवैरी वह है जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलादि दुष्कर्म करता है; क्योंकि ऐसे आचरणोंके द्वारा वह दूसरोंको ही कष्ट तथा हानि नही पहुँचाता बल्कि अपने आत्माको भी पतित करता है और पापोंसे बाँधता है, जिनका दुखदाई अशुभ फल उसे इसी जन्म अथवा अगले जन्ममें भोगना पड़ता है।

इसी तरहके और भी बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु स्वामी समन्तभद्र इस प्रश्न पर एक दूसरे ही ढंगसे विचार करते हैं और वह ऐसा व्यापक विचार है जिसमें दूसरे सब विचार समा जाते हैं। आपकी दृष्टिमे वे सभी जन स्व-पर-वैरी है जो 'एकान्तग्रहरक्त' हैं (एकान्तग्रहरक्ताः स्वपरवैरिणः)। अर्थात् जो लोग एकान्तके ग्रहणमे आसक्त हैं – सर्वथा एकान्तपक्षके पक्षपाती अथवा उपासक हैं – और अनेकान्तको नही मानते – वस्तुमे अनेक गुण-धर्मोंके होते हुए भी उसे एक ही गुण-धर्मरूप अंगीकार करते हैं, वे अपने और परके वैरी हैं। आपका यह विचार देवागमकी निम्नकारिकाके 'एकान्तग्रहरक्तेषु' 'स्वपरवैरिषु' इन दो पदो परसे उपलब्ध होता है.—

> कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् ।
> एकान्त-ग्रह-रक्तेषु नाथ ! स्व-पर वैरिषु ॥ ८ ॥

इस कारिकामें इतना और भी बतलाया गया है कि ऐसी एकान्त-मान्यतावाले व्यक्तियोमेसे किसीके यहाँ भी—किसीके भी मतमे—शुभ-अशुभ-कर्मकी, अन्य जन्मकी और 'चकार' से इस जन्मकी, कर्मफलकी तथा बन्ध-मोक्षादिककी कोई व्यवस्था नही बन सकती। और यह सब इस कारिकाका सामान्य अर्थ है। विशेष अर्थकी दृष्टिसे इसमे साकेतिकरूपसे यह भी संनिहित है कि ऐसे एकान्त-पक्षपातीजन स्वपरवैरी कैसे है और क्योंकर उनके शुभ-

अशुभकर्मों, लोक-परलोक तथा बन्ध-मोक्षादिककी व्यवस्था नही बन सकती। इस अर्थको अष्टसहस्री-जैसे टीका-ग्रन्थोंमें कुछ विस्तारके साथ खोला गया है। बाकी एकान्तवादियोंकी मुख्य मुख्य कोटियोंका वर्णन करते हुए उनके सिद्धान्तोंको दूषित ठहराकर उन्हें स्व-पर-वैरी सिद्ध करने और अनेकान्तको स्व-पर-हितकारी सम्यक् सिद्धान्तके रूपमें प्रतिष्ठित करनेका कार्य स्वयं स्वामी समन्तभद्रने ग्रन्थकी अगली कारिकाओंमें सूत्ररूपसे किया है। ग्रन्थकी कुल कारिकाएँ (श्लोक) ११४ है, जिनपर आचार्य श्री अकलंकदेवने 'अष्टशती' नामकी आठसौ श्लोक-जितनी वृत्ति लिखी है, जो बहुत ही गूढ-सूत्रोंमें है; और फिर इस वृत्तिको साथमें लेकर श्री विद्यानन्दाचार्यने 'अष्टसहस्री' टीका लिखी है, जो आठ हजार श्लोक-परिमाण है और जिसमें मूलग्रन्थके आशयको खोलनेका भारी प्रयत्न किया गया है। यह अष्टसहस्री भी बहुत कठिन है, इसके कठिन पदोंको समझनेके लिये इसपर आठ हजार श्लोक-जितना एक संस्कृत टिप्पण भी बना हुआ है; फिर भी अपने विषयको पूरी तौरसे समझनेके लिये यह अभी तक 'कष्टसहस्री' ही बनी हुई है। और शायद यही वजह है कि इसका अब तक हिन्दी अनुवाद नहीं हो सका। ऐसी हालतमें पाठक समझ सकते है कि स्वामी समन्तभद्रका मूल 'देवागम' ग्रन्थ कितना अधिक अर्थगौरवको लिये हुए है। अकलंकदेवने तो उसे 'सम्पूर्ण पदार्थतत्त्वोंको अपना विषय करनेवाला स्याद्वादरूपी पुण्योदधितीर्थ' लिखा है। इसलिये मेरे जैसे अल्पज्ञों-द्वारा समन्तभद्रके विचारोंकी व्याख्या उनको स्पर्श करनेके सिवाय और क्या हो सकती है ? इसीसे मेरा यह प्रयत्न भी साधारण पाठकोंके लिये है—विशेसज्ञोंके लिये नही। अस्तु; इस प्रासंगिक निवेदनके बाद अब मैं पुनः प्रकृत विषय पर आता हूँ और उसको संक्षेपमें ही साधारण जनताके लिये कुछ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

वास्तवमें प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसमें अनेक अन्त-

धर्म, गुण-स्वभाव, अंग अथवा अंश हैं। जो मनुष्य किसी भी वस्तु-को एक तरफसे देखता है—उसके एक ही अन्त-धर्म अथवा गुण-स्वभाव पर दृष्टि डालता है—वह उसका सम्यग्दृष्टा (उसे ठीक तौरसे देखने-पहचाननेवाला) नही कहला सकता। सम्यग्दृष्टा होनेके लिये उसे उस वस्तुको सब ओरसे देखना चाहिये और उसके सब अन्तो–अंगों-धर्मो अथवा स्वभावो पर नजर डालनी चाहिये। सिक्केके एक ही मुखको देखकर सिक्केका निर्णय करनेवाला उस सिक्केको दूसरे मुखसे पड़ा देखकर वह सिक्का नही समझता और इसलिये धोखा खाता है। इसीसे अनेकान्तदृष्टिको सम्यग्दृष्टि और एकान्तदृष्टिको मिथ्यादृष्टि कहा है[1]।

जो मनुष्य किसी वस्तुके एक ही अन्त, अग, धर्म अथवा गुण-स्वभावको देखकर उसे उस ही स्वरूप मानता है—दूसरे रूप स्वीकार नही करता—और इस तरह अपनी एकान्तधारणा बना लेता है और उसे ही जैसे-तैसे पुष्ट किया करता है, उसको 'एकान्त-ग्रहरक्त', एकातपक्षपाती अथवा सर्वथा एकान्तवादी कहते हैं। ऐसे मनुष्य हाथीके स्वरूपका विधान करनेवाले जन्मान्ध-पुरुषों की तरह आपसमें लड़ते-झगड़ते हैं और एक दूसरेसे शत्रुता धारण करके जहाँ परके वैरी बनते हैं वहाँ अपनेको हाथीके विषयमे अज्ञानी रखकर अपना भी अहित साधन करनेवाले तथा कभी भी हाथीसे हाथीका काम लेनेमें समर्थ न हो सकनेवाले उन जन्मान्धों-की तरह, अपनेको वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ रखकर, अपना भी अहित साधन करते है और अपनी मान्यताको छोड़े अथवा उसकी उपेक्षा किये बिना कभी भी उस वस्तुसे उस वस्तुका ठीक काम लेनेमें

---

१. अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥
—स्वयम्भूस्तोत्रे, समन्तभद्रः

समर्थ नही हो सकते, और ठीक काम लेनेके लिये मान्यताको छोड़ने अथवा उसकी उपेक्षा करने पर स्वसिद्धांत-विरोधी ठहरते है, इस तरह दोनों ही प्रकारसे वे अपने भी वैरी होते है । नीचे एक उदाहरण-द्वारा इस बातको और भी स्पष्ट करके बतलाया जाता है—

एक मनुष्य किसी वैद्यको एक रोगी पर कुचलेका प्रयोग करता हुआ देखता है और यह कहते हुए भी सुनता है कि 'कुचला जीवन-दाता है, रोगको नशाता है और जीवनी शक्तिको बढाता है। साथ ही, वह यह भी अनुभव करता है कि वह रोगी कुचलेके खाने-से अच्छा तन्दुरुस्त तथा हृष्ट-पुष्ट हो गया। इस परसे वह अपनी यह एकान्त धारणा बना लेता है कि 'कुचला जीवनदाता है, रोग नशाता है और जीवनी शक्तिको बढ़ाकर मनुष्यको हृष्ट-पुष्ट बनाता है'। उसे मालूम नही कि कुचलेमें मारनेका—जीवनको नष्ट कर देनेका—भी गुण है और उसका प्रयोग सब रोगो तथा सब अवस्थाओमें समानरूपसे नही किया जा सकता, न उसे मात्राकी ठीक खबर है, और न यही पता है कि वह वैद्य भी कुचलेके दूसरे मारक गुणसे परिचित था, और इसलिये जब वह उसे जीवनी शक्तिको बढ़ानेके काममें लाता था तब वह दूसरी दवाइयोंके साथमें उसका प्रयोग करके उसकी मारक शक्तिको दबा देता था अथवा उसे उन जीव-जन्तुओके घातके काममें लेता था जो रोगीके शरीरमें जीवनी शक्तिको नष्ट कर रहे हों। और इसलिये वह मनुष्य अपनी उस एकान्त-धारणाके अनुसार अनेक रोगियोको कुचला देता है तथा जल्दी अच्छा करनेकी धुनमे अधिक मात्रामें भी दे देता है। नतीजा यह होता है कि वे रोगी मर जाते हैं या अधिक कष्ट तथा वेदना उठाते हैं और वह मनुष्य कुचलेका ठीक प्रयोग न जानकर उसका मिथ्या प्रयोग करनेके कारण दंड पाता है, तथा कभी स्वयं कुचला खाकर अपनी प्राण-हानि भी कर डालता है। इस तरह कुचलेके विषयमें एकान्त आग्रह रखनेवाला जिस प्रकार

स्व-पर-वैरी होता है उसी प्रकार दूसरी वस्तुओंके विषयमे भी एकान्त हठ पकड़नेवालोंको स्व-पर-वैरी समझना चाहिये ।

सच पूछिये तो जो अनेकान्तके द्वेषी हैं वे अपने एकान्तके भी द्वेषी हैं, क्योंकि अनेकान्तके बिना वे एकान्तको प्रतिष्ठित नही कर सकते—अनेकान्तके बिना एकान्तका अस्तित्व उसी तरह नही बन सकता जिस तरह कि सामान्यके बिना विशेषका या द्रव्यके बिना पर्यायका अस्तित्व नही बनता । सामान्य और विशेष, अस्तित्व और नास्तित्व तथा नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म जिस प्रकार परस्परमें अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए हैं—एकके बिना दूसरेका सद्भाव नही बनता—उसी प्रकार एकान्त और अनेकान्तमें भी परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है । ये सब सप्रतिपक्षधर्म एक ही वस्तुमें परस्पर अपेक्षाको लिए हुए होते है । उदाहरणके तौर पर अनामिका अगुली छोटी भी है और बड़ी भी—कनिष्टासे वह बड़ी है और मध्यमासे छोटी है। इस तरह अनामिकामें छोटापन और बड़ापन दोनो धर्म सापेक्ष हैं, अथवा छोटी है और छोटी नही है ऐसे छोटेपनके अस्तित्व और नास्तित्वरूप दो अविनाभावी धर्म भी उसमें सापेक्षरूपसे पाये जाते हैं—अपेक्षाको छोड़ देने पर दोनोंमेंसे कोई भी धर्म नही बनता । इसी प्रकार नदीके प्रत्येक तटमें इस पारपन और उस पारपनके दोनो धर्म होते हैं और वे सापेक्ष होनेसे ही अविरोधरूप रहते है ।

जो धर्म एक ही वस्तुमें परस्पर अपेक्षाको लिये हुए होते हैं वे अपने और दूसरेके उपकारी (मित्र) होते हैं और अपनी तथा दूसरेकी सत्ताको बनाये रखते हैं । और जो धर्म परस्पर अपेक्षाको लिये हुए नही होते वे अपने और दूसरेके अपकारी (शत्रु) होते हैं—स्व पर-प्रणाशक होते हैं, और इसलिये न अपनी सत्ताको कायम रख सकते है और न दूसरेकी । इसीसे स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयंभूस्तोत्रमें भी—

'मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः'
'परस्परेक्षाः स्व-परोपकारिण.'

इन वाक्योंके द्वारा इसी सिद्धान्तकी स्पष्ट घोषणा की है। आप निरपेक्षनयोंको मिथ्या और सापेक्षनयोको सम्यक् बतलाते है। आपके विचारसे निरपेक्षनयोंका विषय अर्थक्रियाकारी न होनेसे अवस्तु है और सापेक्षनयोंका विषय अर्थकृत (प्रयोजनसाधक) होनेसे वस्तुतत्त्व है[1]। इस विषयकी विशेष चर्चा एवं व्याख्या समन्तभद्र-विचारदीपक-में अन्यत्र की जायगी। यहाँ पर सिर्फ इतना ही जान लेना चाहिये कि निरपेक्षनयोंका विषय 'मिथ्या एकान्त' और सापेक्षनयोंका विषय 'सम्यक् एकान्त' है। और यह सम्यक् एकात ही प्रस्तुत अनेकान्तके साथ अविनाभावसम्बन्धको लिये हुए है। जो मिथ्या एकान्तके उपासक होते है उन्हें ही 'एकान्त-ग्रहरक्त' कहा गया है, वे ही 'सर्वथा-एकान्तवादी' कहलाते है और उन्हें ही यहाँ 'स्व-पर-वैरी' समझना चाहिये। जो सम्यक् एकान्तके उपासक होते है उन्हें 'एकान्तग्रहरक्त' नहीं कहते, उनका नेता 'स्यात्' पद होता है, वे उस एकान्तको कथंचित् रूपसे स्वीकार करते है; इसलिये उसमें सर्वथा आसक्त नही होते और न प्रतिपक्ष-धर्मका विरोध अथव निराकरण ही करते हैं—सापेक्षावस्थामें विचारके समय प्रतिपक्ष-धर्मकी अपेक्षा न होनेसे उसके प्रति एक प्रकारकी उपेक्षा तो होती है किन्तु उसका विरोध अथवा निराकरण नही होता। और इसीसे वे 'स्व-पर-वैरी' नही कहे जा सकते। अत स्वामी समन्तभद्रका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'जो एकान्तग्रहरक्त होते है वे स्व-पर-वैरी होते है।'

अब देखना यह है कि ऐसे स्वपरवैरी एकान्तवादियोके मतमे शुभ-अशुभ-कर्म, कर्मफल, सुख-दुख, जन्म-जन्मान्तर (लोक-परलोक) और बन्ध-मोक्षादिकी व्यवस्था कैसे नही बन सकती।

---

१. निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्। —देवागम १०८

बात बिल्कुल स्पष्ट है, ये सब अवस्थाएं चूँकि अनेकान्ताश्रित है—अनेकान्तके आश्रय बिना इन परस्पर विरुद्ध मालूम पड़नेवाली सापेक्ष अवस्थाओकी कोई स्वतन्त्र सत्ता अथवा व्यवस्था नही बन सकती। इसलिये जो अनेकान्तके वैरी हैं—अनेकान्त-सिद्धान्तसे द्वेष रखते हैं—उनके यहाँ ये सब व्यवस्थाए सुघटित नही हो सकतीं। अनेकान्तके प्रतिषेधसे क्रम-अक्रमका प्रतिषेध हो जाता है; क्योंकि क्रम-अक्रमकी अनेकान्तके साथ व्याप्ति है। जब अनेकान्त ही नही तब क्रम-अक्रमकी व्यवस्था कैसे बन सकती है ? अर्थात् द्रव्यके अभावमे जिस प्रकार गुण-पर्यायकी और वृक्षके अभावमे शीशम, जामन, नीम, आम्रादिकी कोई व्यवस्था नही बन सकती उसी प्रकार अनेकान्तके अभावमे क्रम-अक्रमकी भी व्यवस्था नही बन सकती। क्रम-अक्रमकी व्यवस्था न बननेसे अर्थक्रियाका निषेध हो जाता है; क्योंकि अर्थक्रियाकी क्रम-अक्रमके साथ व्याप्ति है। और अर्थक्रियाके अभावमे कर्मादिक नही बन सकते—कर्मादिककी अर्थक्रियाके साथ व्याप्ति है। जब शुभ-अशुभ-कर्म ही नही बन सकते तब उनका फल सुख-दुख, फल-भोगका क्षेत्र, जन्मान्तर (लोक-परलोक) और कर्मोसे बधने तथा छूटनेकी बात तो कैसे बन सकती है? साराश यह कि अनेकांतके आश्रय बिना ये सब शुभाऽशुभ-कर्मादिक निराश्रित होजाते है, और इसलिए सर्वथा नित्यादि एकातवादियोंके मतमे इनकी कोई ठीक व्यवस्था नही बन सकती। वे यदि इन्हें मानते है और तपश्चरणादिके अनुष्ठान-द्वारा सत्कर्मोका अर्जन करके उनका सत्फल लेना चाहते हैं अथवा कर्मोंसे मुक्त होना चाहते हैं तो वे अपने इष्टको अनेकातका विरोध करके बाधा पहुँचाते है, और इस तरह भी अपनेको स्व-पर-वैरी सिद्ध करते है।

वस्तुत अनेकान्त, भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि एकान्तनयोके विरोधको मिटाकर, वस्तुतत्त्वकी सम्यक्-व्यवस्था करनेवाला है; इसीसे लोक-व्यवहारका सम्यक् प्रवर्तक है—

बिना अनेकांतका आश्रय लिये लोकका व्यवहार ठीक बनता ही नही, और न परस्परका वैर-विरोध ही मिट सकता है । इसीलिये अनेकांतको परमागमका बीज ,और लोकका अद्वितीय गुरु कहा गया है—वह सबोंके लिये सन्मार्ग-प्रदर्शक है[1] । जैनी नीतिका भी वही मूलाधार है । जो लोग अनेकातका सचमुच आश्रय लेते हैं वे कभी स्व-पर-वैरी नहीं होते उनसे पाप नही बनते, उन्हें आपदाएँ नहीं सतातीं और वे लोकमें सदा ही उन्नत उदार तथा जयशील बने रहते हैं ।

---

१. नीति-विरोध-ध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

३१

वीतरागकी पूजा क्यों ?

जिसकी पूजा की जाती है वह यदि उस पूजासे प्रसन्न होता है, और प्रसन्नताके फलस्वरूप पूजा करनेवालेका कोई काम बना देता अथवा सुधार देता है तो लोकमें उसकी पूजा सार्थक समझी जाती है। और पूजासे किसीका प्रसन्न होना भी तभी कहा जा सकता है जब या तो वह उसके बिना अप्रसन्न रहता हो, या उससे उसकी प्रसन्नतामे कुछ वृद्धि होती हो अथवा उससे उसको कोई दूसरे प्रकारका लाभ पहुँचता हो, परन्तु वीतरागदेवके विषयमें यह सब कुछ भी नही कहा जा सकता—वे न किसी पर प्रसन्न होते है, न अप्रसन्न और न किसी प्रकारकी कोई इच्छा ही रखते हैं, जिसकी पूर्ति-अपूर्तिपर उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता निर्भर हो। वे सदा ही पूर्ण प्रसन्न रहते है—उनकी प्रसन्नतामे किसी भी कारणसे कोई कमी या वृद्धि नहीं हो सकती। और जब पूजा-अपूजासे वीतरागदेव की प्रसन्नता या अप्रसन्नताका कोई सम्बन्ध नही—वह उसके द्वारा संभाव्य ही नही—तब यह तो प्रश्न ही पैदा नही होता कि पूजा कैसे की जाय, कब की जाय, किन द्रव्योसे की जाय, किन मन्त्रोंसे की जाय और उसे कौन करे—कौन न करे ? और न यह शंका ही की जा सकती है कि अविधिसे पूजा करनेपर कोई अनिष्ट घटित हो जायगा अथवा किसी अधम-अशोभन-अपावन मनुष्यके पूजा कर-

लेने पर वह देव नाराज हो जायगा और उसकी नाराजगीसे उस मनुष्य तथा समूचे समाजको किसी दैवी कोपका भाजन बनना पड़ेगा; क्योंकि ऐसी शंका करने पर वह देव वीतराग ही नही ठहरेगा--उसके वीतराग होनेसे इनकार करना होगा और उसे भी दूसरे देवी-देवताओंकी तरह रागी-द्वेषी मानना पड़ेगा। इसीसे अक्सर लोग जैनियोंसे कहा करते हैं कि--"जब तुम्हारा देव परम वीतराग है, उसे पूजा-उपासनाकी कोई जरूरत नही, कर्ता हर्ता न होनेसे वह किसीको कुछ देता-लेता भी नही, तब उसकी पूजा-वन्दना क्यों की जाती है और उससे क्या नतीजा है ?"

इन सब बातोंको लक्ष्यमें रखकर स्वामी समन्तभद्र, जो कि वीतरागदेवोंको सबसे अधिक पूजाके योग्य समझते थे और स्वयं भी अनेक स्तुति-स्तोत्रों आदिके द्वारा उनकी पूजामे सदा सावधान एवं तत्पर रहते थे, अपने स्वयंभूस्तोत्र में लिखते है.--

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्त-वैरे।
तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताऽञ्जनेभ्यः॥

अर्थात्--हे भगवन्! पूजा-वन्दनासे आपका कोई प्रयोजन नही है; क्योंकि आप वीतरागी है--रागका अंश भी आपके आत्मामें विद्यमान नही है, जिसके कारण किसीकी पूजा-वन्दनासे आप प्रसन्न होते। इसी तरह निन्दासे भी आपका कोई प्रयोजन नही है--कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उस पर आपको जरा भी क्षोभ नही आ सकता, क्योंकि आपके आत्मासे वैरभाव-द्वेषांश बिल्कुल निकल गया है--वह उसमे विद्यमान ही नही है--जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्योंका उद्भव हो सकता। ऐसी हालतमें निन्दा और स्तुति दोनो ही आपके लिये समान हैं--उनसे आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नही है। यह सब कुछ ठीक है; परन्तु फिर भी हम जो आपकी पूजा-वदनादि करते है उसका दूसरा ही कारण है, वह पूजा-वंदनादि आपके लिये

नही—आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना या उसके द्वारा आपको कोई लाभ पहुँचाना, यह सब उसका ध्येय ही नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्य-गुणोंका स्मरण—भावपूर्वक अनुचिन्तन—, जो हमारे चित्तको—चिद्रूप आत्माको—पापमलोंसे छुड़ाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है, और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्माके विकासकी साधना करते है। इसीसे पद्यके उत्तरार्धमे यह सैद्धातिक घोषणा की गई है कि 'आपके पुण्य-गुणोका स्मरण हमारे पापमलसे मलिन आत्माको निर्मल करता है'—उसके विकासमे सचमुच सहायक होता है।

यहाँ वीतराग-भगवानके पुण्य-गुणोके स्मरणसे पापमलसे मलिन आत्माके निर्मल (पवित्र) होनेकी जो बात कही गई है वह बड़ी ही रहस्यपूर्ण है, और उसमे जैनधर्मके आत्मवाद, कर्मवाद, विकासवाद और उपासनावाद-जैसे सिद्धान्तोका बहुत कुछ रहस्य सूक्ष्मरूपमे सनिहित है। इस विषयमे मैंने कितना ही स्पष्टीकरण अपनी 'उपासनातत्त्व' और 'सिद्धिसोपान' जैसी पुस्तकोमे किया है—स्वयम्भूस्तोत्रकी प्रस्तावनाके 'भक्तियोग और स्तुति-प्रार्थनादि-रहस्य' नामक प्रकरणसे भी पाठक उसे जान सकते है। यहाँ पर मै सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्रने वीतरागदेवके जिन पुण्य-गुणोंके स्मरणकी बात कही है वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि आत्माके असाधारण गुण हैं, जो द्रव्यदृष्टिसे सब आत्माओके समान होने पर सबकी समान-सम्पत्ति है और सभी भव्यजीव उन्हे प्राप्त कर सकते है। जिन पापमलोने उन गुणोको आच्छादित कर रक्खा है वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म है, योगबलसे जिन महात्माओने उन कर्ममलोको दग्ध करके आत्मगुणोंका पूर्ण विकास किया है वे ही पूर्ण विकसित सिद्धात्मा एवं वीतराग कहे जाते हैं—शेष सब संसारी जीव अविकसित अथवा अल्पविकसितादि दशाओमे है; और वे अपनी

आत्मनिधिको प्रायः भूले हुए हैं । सिद्धात्माओंके विकसित गुणों परसे वे आत्मगुणोंका परिचय प्राप्त करते है और फिर उनमें अनुराग बढ़ाकर उन्ही साधनों-द्वारा उन गुणोकी प्राप्तिका यत्न करते है जिनके द्वारा उन सिद्धात्माओंने किया था । और इसलिये वे सिद्धात्मा वीतरागदेव आत्म-विकासके इच्छुक संसारी आत्माओके लिये 'आदर्शरूप' होते है, आत्मगुणोंके परिचयादिमें सहायक होनेसे उनके 'उपकारी' होते है और उस वक्त तक उनके 'आराध्य' रहते है जबतक कि उनके आत्मगुण पूर्णरूपसे बिकसित न हो जॉय । इसीसे स्वामी समन्तभद्रने "ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिनशीतलेड्यसे (स्व० ५०)" इस वाक्यके द्वारा उन बुधजन-श्रेष्ठो तकके लिये वीतरागदेवकी पूजाको आवश्यक बतलाया है जो अपने निःश्रेयसकी—आत्मबिकासकी—भावनामें सदा सावधान रहते है । और एक दूसरे पद्य 'स्तुतिः स्तोतुः साधोः (स्व० ११६) में वीतरागदेवकी इस पूजा-भक्तिको कुशलपरिणामोंकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गका सुलभ तथा स्वाधीन होना तक लिखा है । साथ ही उसी स्तोत्रगत नीचेके एक पद्यमें वे, योगबलसे आठों पापमलोंको दूर करके ससारमे न पाये जानेवाले ऐसे परमसौख्यको प्राप्त हुए सिद्धात्माओका स्मरण करते हुए, अपने लिये तद्रूप होनेकी स्पष्ट भावना भी करते है, जो कि वीतरागदेवकी पूजा-उपासनाका सच्चा रूप है :—

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान्भवन्तु ममाऽपि भवोपशान्तये ॥

स्वामी समन्तभद्रके इन सब विचारोसे यह भले प्रकार स्पष्ट होजाता है कि वीतरागदेवकी उपासना क्यो की जाती है और उसका करना कितना अधिक आवश्यक है ।

३२

वीतरागसे प्रार्थना क्यों ?

जब वीतराग अर्हन्तदेव परम उदासीन एवं कृतकृत्य होनेसे कुछ करते-धरते नही तब पूजा-उपासनादिके अवसरोपर उनसे बहुधा प्रार्थनाएँ क्यो की जाती है और क्यो उनमें व्यर्थ ही कर्तृत्व-विषयका आरोप किया जाता है ?—जिसे स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योंने भी अपनाया है। यह प्रश्न बड़ा ही सुन्दर है और सभीके लिये इसका उत्तर वाँछनीय एवं जाननेके योग्य है। अत इसीके समाधानका यहाँ प्रयत्न किया जाता है।

सबसे पहली बात इस विषयमे यह जान लेनेकी है कि इच्छा-पूर्वक अथवा बुद्धिपूर्वक किसी कामको करनेवाला हीउसका कर्ता नही होता बल्कि अनिच्छापूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक कार्यका करने-वाला भी कर्ता होता है। वह भी कार्यका कर्ता होता है जिसमें इच्छा-बुद्धिका प्रयोग ही नही किन्तु सद्भाव (अस्तित्व) भी नहीं अथवा किसी समय उसका संभव भी नही है। ऐसे इच्छाशून्य तथा बुद्धिहीन कर्ता कार्योंके प्रायः निमित्तकारण ही होते है और प्रत्यक्ष-रूपमे तथा अप्रत्यक्षरूपमे उनके कर्ता जड और चेतन दोनों ही प्रकारके पदार्थ हुआ करते हैं। इस विषयके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं, उन पर ज़रा ध्यान दीजिये —

(१) 'यह दवाई अमुक रोगको हरनेवाली है'। यहा दवाईमें कोई इच्छा नही और न बुद्धि है, फिर भी वह रोगको हरनेवाली

है—रोगहरण-कार्यकी कर्ता कही जाती है; क्योंकि उसके निमित्तसे रोग दूर होता है।

(२) 'इस रसायनके प्रसादसे मुझे नीरोगताकी प्राप्ति हुई।' यहाँ 'रसायन' जड औषधियोका समूह होनेसे एक जड पदार्थ है, उसमें न इच्छा है, न बुद्धि और न कोई प्रसन्नता, फिर भी एक रोगी प्रसन्नचित्तसे उस रसायनका सेवन करके उसके निमित्तसे आरोग्य-लाभ करता है और उस रसायनमें प्रसन्नताका आरोप करता हुआ उक्त वाक्य कहता है। यह सब लोक-व्यवहार है अथवा अलंकारकी भाषामें कहनेका एक प्रकार है। इसी तरह यह भी कहा जाता है कि 'मुझे इस रसायन या दवाईने अच्छा कर दिया' जब कि उसने बुद्धिपूर्वक या इच्छापूर्वक उसके शरीरमें कोई काम नही किया। हाँ उसके निमित्तसे शरीरमें रोगनाशक तथा आरोग्यवर्धक कार्य जरूर हुआ है और इसलिये वह उसका कार्य कहा जाता है।

(३) एक मनुष्य छत्री लिये जा रहा था और दूसरा मनुष्य बिना छत्रीकेसामनेसे आ रहा था। सामनेवाले मनुष्यकी दृष्टि जब छत्री पर पड़ी तो उसे अपनी छत्रीकी याद आ गई और यह स्मरण हो आया कि 'मैं अपनी छत्री अमुक दुकान पर भूल आया हूँ'; चुनाँचे वह तुरन्त वहाँ गया, अपनी छत्री ले आया और आकर कहने लगा—'तुम्हारी इस छत्रीका मैं बहुत आभारी हूँ; इसने मुझे मेरी भूली हुई छत्रीकी याद दिलाई है।' यहाँ छत्री एक जडवस्तु है, उसमें बोलनेकी शक्ति नही, वह कुछ बोली भी नही और न उसने बुद्धिपूर्वक छत्री भूलनेकी वह बात ही सुझाई है; फिर भी चूंकि उसके निमित्तसे भूली हुई छत्रीकी स्मृति आदिरूप यह सब कार्य हुआ है इसीसे अलंकृत भाषामें उसका आभार माना गया है।

(४) एक मनुष्य किसी रूपवती स्त्रीको देखते ही उसपर आसक्त हो गया, तरह-तरहकी कल्पनाएँ करके दीवाना बन गया और कहने लगा—'उस स्त्रीने मेरा मन हर लिया, मेरा चित्त चुरा

लिया, मेरे ऊपर जादू कर दिया ! मुझे पागल वना दिया ! अव मैं बेकार हूँ और मुझसे उसके विना कुछ भी करते-धरते नहीं वनता।' परन्तु उस वेचारी स्त्रीको इसकी कुछ भी खवर नही—किसी बातका पता तक नही और न उसने उस पुरुषके प्रति बुद्धि-पूर्वक कोई कार्य ही किया है--उस पुरुषने ही कही जाते हुए उसे देख लिया है, फिर भी उस स्त्रीके निमित्तको पाकर उस मनुष्यके आत्म दोषोको उत्तेजना मिली और उसकी यह सब दुर्दशा हुई। इसीसे वह उसका सारा दोष उस स्त्रीके मत्थे मढ रहा है, जव कि वह उसमें अज्ञातभावसे एक छोटासा निमित्तकारण बनी है, बड़ा कारण तो उस मनुष्यका ही आत्मदोप था।

(५) एक दुखित और पीड़ित गरीव मनुष्य एक संतके आश्रयमें चला गया और बडे भक्ति-भावके साथ उस सतकी सेवा-सुश्रूषा करने लगा। वह सत संसार-देह-भोगोसे विरक्त है—वैराग्यसम्पन्न है—किसीसे कुछ बोलता या कहता नही—सदा मौनसे रहता है। उस मनुष्यकी अपूर्व भक्तिको देखकर पिछले भक्त लोग सब दग रह गये ! अपनी भक्तिको उसकी भक्तिके आगे नगण्य गिनने लगे और बड़े आदर-सत्कारके साथ उस नवागन्तुक भक्तहृदय मनुष्यको अपने-अपने घर भोजन कराने लगे और उसकी दूसरी भी अनेक आवश्य-कताओकी पूर्ति बड़े प्रेमके साथ करने लगे, जिससे वह सुखसे अपना जीवन व्यतीत करने लगा और उसका भक्ति-भाव और भी दिन पर दिन वढने लगा। कभी-कभी वह भक्तिमें विह्वल होकर सन्तके चरणोमे गिर पड़ता और बड़े ही कम्पित स्वरमे गिड़गिड़ाता हुआ कहने लगता—'हे नाथ ! आप ही मुझ दीन-हीनके रक्षक हैं, आप ही मेरे अन्नदाता है, आपने मुझे वह भोजन दिया है जिससे मेरी जन्म-जन्मान्तरकी भूख मिट गई है। आपके चरण-शरणमे आनेसे ही मै सुखी बन गया हूँ, आपने मेरे सारे दुख मिटा दिये हैं और मुझे वह दृष्टि प्रदान की है जिससे मै अपनेको और जगत्को भले

प्रकार देख सकता हूँ। अब दयाकर इतना अनुग्रह और कीजिये कि मैं जल्दी ही इस संसारके पार हो जाऊँ।'

यहाँ भक्त-द्वारा सन्तके विषयमें जो कुछ कहा गया है वैसा उस सन्तने स्वेच्छासे कुछ भी नहीं किया। उसने तो भक्तके भोजनादिकी व्यवस्थाके लिये किसीसे संकेत तक भी नहीं किया और न अपने भोजनमेंसे कभी कोई ग्रास ही उठाकर उसे दिया है, फिर भी उसके भोजनादिकी सब व्यवस्था हो गई। दूसरे भक्तजन स्वयं ही बिना किसीकी प्रेरणाके उसके भोजनादिकी सुव्यवस्था करनेमें प्रवृत्त हो गये और वैसा करके अपना अहोभाग्य समझने लगे। इसी तरह सन्तने उस भक्तको लक्ष्य करके कोई खास उपदेश भी नहीं दिया, फिर भी वह भक्त उस सन्तकी दिनचर्या और अवाग्विसर्ग (मौनोपदेशरूप) मुख-मुद्रादिक परसे स्वयं ही उपदेश ग्रहण करता रहा और प्रबोधको प्राप्त होगया। परन्तु यह सब कुछ घटित होनेमें उस सन्तपुरुषका व्यक्तित्व ही प्रधान निमित्तकारण रहा है— भले ही वह कितना ही उदासीन क्यों न हो। इसीसे भक्त-द्वारा उसका सारा श्रेय उक्त सन्तपुरुषको ही दिया गया है।

इन सब उदाहरणों परसे यह बात सहज ही समझमें आ जाती है कि किसी कार्यका कर्ता या कारण होनेके लिये यह लाजिमी (अनिवार्य) अथवा जरूरी नहीं है कि उसके साथमें इच्छा, बुद्धि तथा प्रेरणादिक भी हों, वह उसके बिना भी हो सकता है और होता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तुको अपने हाथसे उठाकर देने या किसीको उसके देनेकी प्रेरणा करके अथवा आदेश देकर दिला देनेसे ही कोई मनुष्य दाता नहीं होता बल्कि ऐसा न करते हुए भी दाता होता है, जब कि उसके निमित्तसे, प्रभावसे, आश्रयमें रहनेसे, सम्पर्कमें आनेसे, कारणका कारण बननेसे कोई वस्तु किसीको प्राप्त हो जाती है। ऐसी स्थितिमें परमवीतराग श्रीअर्हन्तादिदेवोंमें कर्तृत्वादि-विषयका आरोप

व्यर्थ नही कहा जा सकता—भले ही वे अपने हाथसे सीधा किसीका कोई कार्य न करते हो, मोहनीय कर्मके अभावसे उनमे इच्छाका अस्तित्व तक न हो और न किसीको उस कार्यकी प्रेरणा या आज्ञा देना ही उनसे बनता हो; क्योंकि उनके पुण्यस्मरण, चिन्तन, पूजन, भजन, कीर्तन, स्तवन और आराधनसे जब पापकर्मोंका नाश होता है, पुण्यकी वृद्धि और आत्माकी विशुद्धि होती है—जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है– तब फिर कौन कार्य है जो अटका रह जाय ? सभी कार्य सिद्धिको प्राप्त होते है, भक्तजनोंकी मनोकामनाएँ पूरी होती है और इसलिये उन्हे यही कहना पडता है कि 'हे भगवन् ! आपके प्रसादसे मेरा यह कार्य सिद्ध हो गया'; जैसे कि रसायनके प्रसादसे आरोग्यका प्राप्त होना कहा जाता है ।

रसायन औषधि जिस प्रकार अपना सेवन करनेवाले पर प्रसन्न नही होती और न इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य ही सिद्ध करती है उसी तरह वीतराग भगवान् भी अपने सेवक पर प्रसन्न नही होते और न प्रसन्नताके फलस्वरूप इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य सिद्ध करनेका प्रयत्न ही करते है । प्रसन्नतापूर्वक सेवन–आराधनके कारण ही रसायन और वीतरागदेवमे प्रसन्नताका आरोप किया जाता है और यह अलकृत भाषाका कथन है । अन्यथा दोनोंका कार्य वस्तु-स्वभावके वशवर्ती, सयोगोकी अनुकूलताको लिये हुए, स्वतः होता है—उसमे किसीकी इच्छा-प्रसन्नतादिकी कोई बात नही है ।

यहाँ पर कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे एक बात और प्रकट कर देने की है और वह यह कि, संसारी जीव मनसे, वचनसे व कायसे जो क्रिया करता है उससे आत्म प्रदेशोमे कम्पन (हलन-चलन) होकर द्रव्यकर्मरूप परिणत हुए पुद्गल परमाणुओका आत्म-प्रवेश होता है, जिसे 'आस्रव' कहते है । मन-वचन कायकी यह क्रिया यदि शुभ होती है तो उससे शुभकर्मका और अशुभ होती है तो अशुभकर्मका आस्रव होता है । तदनुसार ही बंध होता है । इस तरह कर्म शुभ-अशुभ-

के भेदसे दो भागोंमें बँटा रहता है। शुभ कार्य करनेकी जिसमें प्रकृति (स्वभाव-शीलता) होती है उसे शुभकर्म अथवा पुण्यप्रकृति और अशुभ कार्य करनेकी जिसमें प्रकृति होती है उसे अशुभकर्म अथवा पापप्रकृति कहते हैं। शुभाऽशुभ भावोंकी तरतमता और कषायादि परिणामोंकी तीव्रता-मंदतादिके कारण इन कर्मप्रकृतियोंमें बराबर परिवर्तन (उलटफेर) अथवा संक्रमण हुआ करता है। जिस समय जिस प्रकारकी कर्मप्रकृतियोंके उदयका प्राबल्य होता है उस समय कार्य प्रायः उन्हीके अनुरूप निष्पन्न होता है। वीतराग-देवकी उपासनाके समय उनके पुण्यगुणोंका प्रेमपूर्वक स्मरण एव चिंतन करने और उनमें अनुराग बढानेसे शुभभावों (कुशलपरिणामों) की उत्पत्ति होती है, जिससे इस मनुष्यकी पापपरिणति छूटती और पुण्यपरिणति उसका स्थान लेती है। नतीजा इसका यह होता है कि हमारी पापप्रकृतियोंका रस (अनुभाग) सूखता और पुण्यप्रकृतियोंका रस बढता है। पापप्रकृतियोंका रस सूखने और पुण्यप्रकृतियोंमें रस बढ़नेसे 'अन्तरायकर्म' नामकी प्रकृति, जो कि एक मूल पापप्रकृति है और हमारे दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य (शक्ति-बल) में विघ्नरूप रहा करती है—उन्हें होने नही देती—वह भग्नरस होकर निर्बल पड़ जाती है और हमारे इष्ट-कार्यको बाधा पहुँचानेमें समर्थ नही रहती। तब हमारे बहुतसे लौकिक प्रयोजन अनायास ही सिद्ध हो जाते है, बिगड़े हुए काम भी सुधर जाते है और उन सबका श्रेय उक्त उपासनाको ही प्राप्त होता है। इसीसे स्तुति-वन्दनादिको इष्टफलकी दाता कहा है; जैसा कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकादिमें उद्धृत किसी आचार्यमहोदयके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

> नेष्टं विहन्तुं शुभभाव-भग्न-रसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः।
> तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकदाऽर्हदादेः॥

जब भले प्रकार सम्पन्न हुए स्तुति-वन्दनादि कार्य इष्ट फलको

देनेवाले हैं और वीतरागदेवमें कर्तृत्व-विषयका आरोप सर्वथा असंगत तथा व्यर्थ नही है, बल्कि ऊपरके निर्देशानुसार सगत और सुघटित है—वे स्वेच्छा-बुद्धि-प्रयत्नादिकी दृष्टिसे कर्ता न होते हुए भी निमित्तादिकी दृष्टिसे कर्ता जरूर है और इसलिये उनके विषयमें अकर्तापनका सर्वथा एकान्तपक्ष घटित नही होता; तब उनसे तद्विषयक अथवा ऐसी प्रार्थनाओंका किया जाना भी असंगत नही कहा जा सकता, जो उनके सम्पर्क तथा शरणमे आनेसे स्वय सफल होजाती हैं अथवा उपासना एव भक्तिके द्वारा सहज-साध्य होती हैं ।

इस विषयमे स्वामी समन्तभद्रका स्वयंभूस्तोत्रगत निम्न वाक्य खास तौरसे ध्यानमे लेने योग्य है—

स्वदोष-शान्त्या विहितात्म-शान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।
भूयाद्भव-क्लेश-भयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्य ॥

इसमें बतलाया है कि वे 'भगवान शान्तिजिन मेरे शरण्य है—मै उनकी शरण लेता हूँ—जिन्होंने अपने दोषोंकी—अज्ञान, मोह तथा राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकारोंकी शान्ति करके आत्मामें परमशान्ति स्थापित की है—पूर्ण सुख-स्वरूप स्वाभाविकी स्थिति प्राप्त की है—और इसलिये जो शरणागतोको शान्तिके विधाता हैं—उनमे अपने आत्मप्रभावसे दोषोकी शान्ति करके शान्ति-सुखका संचार करने अथवा उन्हें शान्ति-सुखरूप परिणत करनेमें सहायक एवं निमित्तभूत है । अत. (इस शरणागतिके फलस्वरूप) शान्ति-जिन मेरे संसार-परिभ्रमणका अन्त और सासारिक क्लेशों तथा भयोकी समाप्तिमे कारणीभूत होवे ।'

यहाँ शान्ति-जिनको शरणागतोकी शान्तिका जो विधाता (कर्ता) कहा है उसके लिये उनमे किसी इच्छा या तदनुकूल प्रयत्नके आरोप की जरूरत नहीं है, वह कार्य उनके 'विहितात्मशान्ति' होनेसे स्वयं ही उस प्रकार हो जाता है जिस प्रकार कि अग्निके पास जानेसे गर्मीका और हिमालय या शीतप्रधान प्रदेशके पास पहुँचनेसे

सर्दीका संचार अथवा तद्रूप परिणमन स्वयं हुआ करता है और उसमें उस अग्नि या हिममय पदार्थकी इच्छादिक-जैसा कोई कारण नहीं पड़ता। इच्छा तो स्वयं एक दोष है और वह उस मोहका परिणाम है जिसे स्वयं स्वामीजीने उक्त स्तोत्रमें 'अनन्तदोषाशय-विग्रह' बतलाया है। दोषोकी शान्ति होजानेसे उसका अस्तित्व ही नही बनता। इसलिये अर्हन्तदेवमे बिना इच्छा तथा प्रयत्नवाला कर्तृत्व सुघटित है। इसी कर्तृत्वको लक्ष्यमें रखकर उन्हें 'शान्तिके विधाता' कहा गया है—इच्छा तथा प्रयत्नवाले कर्तृत्वकी दृष्टिसे वे उसके विधाता नहीं हैं। इस तरह कर्तृत्व-विषयमे अनेकांत चलता है—सर्वथा एकातपक्ष जैनशासनमें ग्राह्य ही नहीं है।

यहां प्रसंगवश इतना और भी बतला देना उचित जान पड़ता है कि उक्त पद्यके तृतीय चरणमें सांसारिक क्लेशों तथा भयोकी शांतिमें कारणीभूत होनेकी जो प्रार्थना की गई है वह जैनी प्रार्थनाका मूलरूप है, जिसका और भी स्पष्ट दर्शन नित्यकी प्रार्थनामे प्रयुक्त निम्न प्राचीनतम गाथामें पाया जाता है—

> दुक्ख-खओ कम्म-क्खओ समाहिमरणं च बोहि-लाहो य।
> मम होउ तिजगबंधव ! तव जिणवर चरण-सरणेण ॥

इसमें जो प्रार्थना की गई है उसका रूप यह है कि—हे त्रिजगतके (निर्निमित्त) बन्धु जिनदेव ! आपके चरण-शरणके प्रसादसे मेरे दुःखोंका क्षय, कर्मोका क्षय, समाधिपूर्वक मरण और सम्यग्दर्शनादिकका लाभ होवे। इससे यह प्रार्थना एक प्रकारसे आत्मोत्कर्षकी भावना है और इस बातको सूचित करती है कि जिनदेवकी शरण प्राप्त होनेसे—प्रसन्नतापूर्वक जिनदेवके चरणोका आराधन करनेसे—दुःखोंका क्षय और कर्मोंका क्षयादिक सुख-साध्य होता है। यही भाव समन्तभद्रकी उक्त प्रार्थनाका है। इसी भावको लेकर 'मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ !'(२५) 'भवतु ममाऽपि भवोपशान्तये' (११५) जैसी दूसरी भी अनेक प्रार्थनाएँ की गई है। परन्तु ये ही

प्रार्थनाएँ जब जिनेन्द्रदेवको साक्षात् रूपमें कुछ करने-करानेके लिये प्रेरित करती हुई जान पड़ती है तो वे अलंकृत रूपको धारण किये हुए होती है। ऐसी अलंकृतरूपधारिणी प्रार्थनाओंके स्वयंभूस्तोत्रगत कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

१. पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनः (५)
२. जिन-श्रियं मे भगवान् विधत्ताम् (१०)
३. ममार्य ! देयाः शिवतातिमुच्चैः (१५)
४, पूयात्पवित्रो भगवान् मनो मे (४०)
५ श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः (७५)

ये सब प्रार्थनाएँ चित्तको पवित्र करने,जिनश्री तथा शिवसंतति-को देने और कल्याण करनेकी याचनाको लिये हुए हैं, आत्मोत्कर्ष एवं आत्मविकासको लक्ष्य करके की गई है। इनमें असगतता तथा असंभाव्य-जैसी कोई बात नही है—सभी जिनेन्द्रदेवके सम्पर्क, प्रभाव तथा शरणमें आनेसे स्वय सफल होनेवाली अथवा भक्ति-उपासनाके द्वारा सहज-साध्य है—और इसलिये अलंकारकी भाषामें की गई एक प्रकारकी भावनाएँ ही है।

वास्तवमें परमवीतरागदेवसे विवेकीजनकी प्रार्थनाका अर्थ देव-के समक्ष अपनी भावनाको व्यक्त करना है अथवा यों कहिये कि अलंकारकी भाषामे मन.कामनाको व्यक्त करके यह प्रकट करना है कि 'वह आपके चरण-शरण एवं प्रभावमें रहकर और उससे कुछ पदार्थ पाठ लेकर आत्मशक्तिको जागृत एवं विकसित करता हुआ अपनी उस इच्छा कामना या भावनाको पूरा करनेमें समर्थ होना चाहता है। उसका यह आशय कदापि नही होता कि वीतरागदेव भक्तकी प्रार्थनासे द्रवीभूत होकर अपनी इच्छाशक्ति एवं प्रयत्नादि-को काममें लाते हुए स्वयं उसका कोई काम कर देंगे अथवा दूसरो-से प्रेरणादिके द्वारा करा देंगे। ऐसा आशय असंभाव्यको संभाव्य बनाने जैसा है और देवके स्वरूपसे अनभिज्ञता व्यक्त करता है।

३३

पुण्य-पापकी व्यवस्था कैसे ?

पुण्य-पापका उपार्जन कैसे होता है—कैसे किसीको पुण्य लगता, पाप चढ़ता अथवा पाप-पुण्यका उसके साथ सम्बन्ध होता है; यह एक भारी समस्या है, जिसको हल करनेका बहुतोने प्रयत्न किया है। अधिकाश विचारकजन इस निश्चय पर पहुँचे है और उनकी यह एकान्त धारणा है कि–'दूसरोको दुख देने, दुख पहुँचाने, दुखके साधन जुटाने अथवा उनके लिये किसी भी तरह दुखका कारण बननेसे नियमतः पाप होता है—पापका आस्रव-बन्ध होता है; प्रत्युत इसके दूसरोंको सुख देने, सुख पहुँचाने, सुखके साधन जुटाने अथवा उनके लिये किसी भी तरह सुखका कारण बननेसे नियमत. पुण्य होता है—पुण्यका आस्रव-बन्ध होता है। अपनेको दुख-सुख देने आदिसे पाप-पुण्यके वन्धका कोई सम्बन्ध नही है।'

दूसरोंका इस विषयमें यह निश्चय और यह एकान्त धारणा है कि—'अपनेको दुख देने–पहुँचाने आदिसे नियमतः पुण्योपार्जन और सुख देने आदिसे नियमतः पापोपार्जन होता है–दूसरोके दुख-सुखका पुण्य-पापके बन्धसे कोई सम्बन्ध नही है।'

स्वामी समन्तभद्रकी दृष्टिमें ये दोनों ही विचार एव पक्ष निरे ऐकान्तिक होनेसे वस्तुतत्त्व नही हैं, और इसलिये उन्होने इन दोनोंको सदोष ठहराते हुए पुण्य-पापकी जो व्यवस्था सूत्ररूपसे

अपने 'देवागम' मे (कारिका ९२ से ९५ तक) दी है वह बड़ी ही मार्मिक तथा रहस्यपूर्ण है। आज वह सब ही यहाँ पाठकोके सामने रक्खी जाती है।

प्रथम पक्षको सदोष ठहराते हुए स्वामीजी लिखते हैं :—

पापं ध्रुवं परे दुःखात्पुण्यं च सुखतो यदि ।
अचेतनाऽकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥ ९२ ॥

'यदि परमे दुःखोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका होना निश्चित है—ऐसा एकान्त माना जाय—तो फिर अचेतन पदार्थ और अकषायी (वीतराग) जीव भी पुण्य-पापसे बँधने चाहिये, क्योकि वे भी दूसरोमे सुख-दुखकी उत्पत्तिके निमित्त-कारण होते हैं।'

भावार्थ – जब परमे सुख-दुखका उत्पादन ही पुण्य-पापका एक-मात्र कारण है तो फिर दूध-मलाई तथा विष-कण्टकादिक अचेतन पदार्थ, जो दूसरोके सुख-दुखके कारण बनते हैं, पुण्य-पापके बन्ध-कर्ता क्यो नही ? परन्तु इन्हे कोई भी पुण्य-पापके बधकर्ता नही मानता – काँटा पैरमे चुभकर दूसरेको दुख उत्पन्न करता है, इतने मात्रसे उसे कोई पापी नही कहता और न पाप-फलदायक कर्मपर-माणु ही उससे आकर चिपटते अथवा बंधको प्राप्त होते है। इसी तरह दूध-मलाई बहुतोको आनद प्रदान करते है, परतु उनके इस आनदसे दूध-मलाई पुण्यात्मा नही कहे जाते और न उनमे पुण्य-फलदायक कर्म-परमाणुओका ऐसा कोई प्रवेश अथवा संयोग ही होता है जिसका फल उन्हे (दूध-मलाईको) बादको भोगना पड़े। इससे उक्त एकान्त सिद्धांत स्पष्ट सदोष जान पड़ता है।

यदि यह कहा जाय कि चेतन ही बधके योग्य होते हैं अचेतन नही, तो फिर कषाय-रहित वीतरागियोके विषयमे आपत्तिको कैसे टाला जायगा? वे भी अनेक प्रकारसे दूसरोंके दुख-सुखके कारण बनते

हैं। उदाहरणके तौर पर—किसी मुमुक्षुको मुनिदीक्षा देते हैं तो उसके अनेक सम्बन्धियोको दुख पहुँचता है। शिष्यों तथा जनताको शिक्षा देते हैं तो उससे उन लोगोंको सुख मिलता है। पूर्ण सावधानीके साथ ईर्यापथ शोधकर चलते हुए भी कभी कभी दृष्टिपथसे बाहरका कोई जीव अचानक कूदकर पैर तले आ जाता है और उनके उस पैरसे दबकर मर जाता है। कायोत्सर्गपूर्वक ध्यानावस्थामें स्थित होने पर भी यदि कोई जीव तेजीसे उड़ा-चला आकर उनके शरीरसे टकरा जाता है और मर जाता है तो इस तरह भी उस जीवके मार्गमें बाधक होनेसे वे उसके दुखके कारण बनते हैं। अनेक निर्जितकषाय ऋद्धिधारी वीतरागी साधुओके शरीरके स्पर्शमात्रसे अथवा उनके शरीरको स्पर्श की हुई वायुके लगनेसे ही रोगीजन नीरोग होजाते है और यथेष्ट सुखका अनुभव करते है। ऐसे और भी बहुतसे प्रकार है जिनमे वे दूसरोंके सुख-दुखके कारण बनते है। यदि दूसरोके सुख-दुखका निमित्त कारण बननेसे ही आत्मामें पुण्य-पापका आस्रव-बन्ध होता है तो फिर ऐसी हालतमें वे कषाय-रहित साधु कैसे पुण्य-पापके बन्धनसे बच सकते है ? यदि वे भी पुण्य-पापके बन्धनसे पड़ते हैं तो फिर निर्बन्ध अथवा मोक्षकी कोई व्यवस्था नही बन सकती, क्योकि बन्धका मूलकारण कषाय है। कहा भी है—

"कषायमूलं सकलं हि बन्धनम्।"

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।"

और इसलिये अकषायभाव मोक्षका कारण है। जब अकषायभाव भी बन्धका कारण हो गया तब मोक्षके लिए कोई कारण नही रहता। कारणके अभावमें कार्यका अभाव हो जानेसे मोक्षका अभाव ठहरता है। और मोक्षके अभावमे बन्धकी भी कोई व्यवस्था नही बन सकती; क्योंकि बन्ध और मोक्ष जैसे सप्रतिपक्ष धर्म परस्परमें अविनाभाव सम्बन्धको लिये होते है—एकके बिना दूसरेका अस्तित्व

बन नही सकता, यह बात इस स्तम्भके प्रथम निबन्धमे भले प्रकार स्पष्ट की जा चुकी है। जब बन्धकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती तब पुण्य-पापके बन्धकी कथा ही प्रलापमात्र हो जाती है। अत. चेतन-प्राणियोकी दृष्टिसे भी पुण्य-पापकी उक्त एकान्त-व्यवस्था सदोष है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि उन अकषाय जीवोके दूसरोको सुख-दुख पहुँचानेका कोई संकल्प या अभिप्राय नही होता, उस प्रकारकी कोई इच्छा नही होती और न उस विषयमे उनकी कोई आसक्ति ही होती है, इसलिये दूसरोके सुख-दुखकी उत्पत्तिमें निमित्त-कारण होनेसे वे बन्धको प्राप्त नही होते, तो फिर दूसरोंमें दु.खोत्पादन पापका और सुखोत्पादन पुण्यका हेतु है, यह एकान्तसिद्धान्त कैसे बन सकता है?—अभिप्रायाभावके कारण अन्यत्र भी दु खोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका बन्ध नही हो सकेगा, प्रत्युत इसके विरोधी अभिप्रायके कारण दुःखोत्पत्तिसे पुण्यका और सुखोत्पत्तिसे पापका बन्ध भी हो सकेगा। जैसे एक डाक्टर सुख पहुँचानेके अभिप्रायसे पूर्णसावधानीके साथ फोड़ेका ऑपरेशन करता है परन्तु फोडेको चीरते समय रोगीको कुछ अनिवार्य दु ख भी पहुँचता है, इस दुखके पहुँचानेसे डाक्टरको पापका बन्ध नही होगा इतना ही नही. बल्कि उसकी दु खविरोधिनी भावनाके कारण यह दुःख भी पुण्य-बन्धका कारण होगा। इसी तरह एक मनुष्य कषायभावके वशवर्ती होकर दुःख पहुँचानेके अभिप्रायसे किसी कुबड़ेको लात मारता है, लातके लगते ही अचानक उसका कुबडापन मिट जाता है और वह सुखका अनुभव करने लगता है, कहावत भी है—"कुबड़े गुण लात लग गई"—तो कुबड़ेके इस सुखानुभवसे लात मारनेवालेको पुण्यफलकी प्राप्ति नही हो सकती —उसे तो अपनी सुखविरोधिनी भावनाके कारण पाप ही लगेगा। अतः प्रथमपक्षवालोंका यह एकान्त सिद्धान्त कि 'परमें सुख-दुखका

उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है' पूर्णतया सदोष है, और इसलिये उसे किसी तरह भी वस्तुतत्त्व नही कह सकते।

अब दूसरे पक्षको दूषित ठहराते हुए आचार्यमहोदय लिखते है :—

> पुण्य ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि ।
> वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥९३॥

'यदि अपनेमें दुःखोत्पादनसे पुण्यका और सुखोत्पादनसे पापका बन्ध ध्रुव है—निश्चितरूपसे होता है ऐसा एकान्त माना जाय, तो फिर वीतराग (कषायरहित) और विद्वान् मुनिजन भी पुण्य-पापसे बँधने चाहिये; क्योंकि ये भी अपने सुख-दुखकी उत्पत्तिके निमित्त-कारण होते है।'

भावार्थ—वीतराग और विद्वान् मुनिके त्रिकाल-योगादिके अनुष्ठान-द्वारा कायक्लेशादिरूप—दुःखकी और तत्त्वज्ञानजन्य—संतोष-लक्षणरूप सुखकी उत्पत्ति होती है। जब अपनेमें दुःख-सुखके उत्पादनसे ही पुण्य-पाप बँधता है तो फिर ये अकषाय जीव पुण्य-पापके बन्धनसे कैसे मुक्त रह सकते हैं ? यदि इनके भी पुण्य-पापका ध्रुव बन्ध होता है तो फिर पुण्य-पापके अभावको कभी अवसर नहीं मिल सकता, और न कोई मुक्त होनेके योग्य हो सकता है—पुण्य-पापरूप दोनों बन्धोंके अभावके बिना मुक्ति होती ही नही। और मुक्तिके बिना बन्धनादिककी भी कोई व्यवस्था स्थिर नही रह सकती; जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। यदि पुण्य-पापके अभाव-बिना भी मुक्ति मानी जायगी तो संसृतिके—संसार अथवा सासारिक जीवनके—अभावका प्रसंग आएगा, जो पुण्य-पापकी व्यवस्था माननेवालोमेंसे किसीको भी इष्ट नही है। ऐसी हालतमें आत्म-सुख-दुःखके द्वारा पाप-पुण्यके बन्धनका यह एकान्त-सिद्धान्त भी सदोष है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि अपनेमें दुःख-सुखकी उत्पत्ति

होने पर भी तत्त्वज्ञानी वीतरागियोंके पुण्य-पापका बन्ध इसलिये नही होता कि उनके दुख-सुखके उत्पादनका अभिप्राय नही होता, वैसी कोई इच्छा नही होती और न उस विषयमे आसक्ति ही होती है, तो फिर इससे तो अनेकान्त-सिद्धान्तकी ही सिद्धि होती है— उक्त एकान्तकी नही। अर्थात् यह नतीजा निकलता है कि अभिप्रायको लिये हुए दुख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है, अभिप्रायविहीन दु ख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु नही है।

अत. उक्त दोनो एकान्त सिद्धान्त प्रमाणसे बाधित है, इष्टके भी विरुद्ध पड़ते है और इसलिये ठीक नही कहे जा सकते।

इन आपत्तियोसे बचने आदिके कारण जो लोग दोनों एकान्तोको अगीकार करते है, परंतु स्याद्वादके सिद्धातको नही मानते— अपेक्षा-अनपेक्षाको स्वीकार नही करते—अथवा अवाच्यतैकान्तका अवलम्बन लेकर पुण्य-पापकी व्यवस्थाको 'अवक्तव्य' बतलाते है उनकी मान्यतामे—

"विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते॥"

इस कारिका (नं० ९४) के द्वारा विरोधादि दूषण देनेके अनन्तर, स्वामी समन्तभद्रने स्व-परस्थ सुख-दु.खादिकी दृष्टिसे पुण्य-पापकी जो सम्यक् व्यवस्था अर्हन्मतानुसार बतलाई है उसकी प्रतिपादक-कारिका इस प्रकार है —

विशुद्धि-सक्लेशाङ्ग चेत्स्व-परस्थं सुखाऽसुखम्।
पुण्य-पापास्रवौ युक्तौ न चेद् व्यर्थस्तवाऽर्हतः॥९५॥

इसमे बतलाया है कि—'अर्हन्तके मतमे सुख-दु ख आत्मस्थ हो या परस्थ—अपनेको हो या दूसरेको—वह यदि विशुद्धिका अग है तो उस पुण्यास्रवका, संक्लेशका अग है तो उस पापास्रवका हेतु है, जो युक्त है—सार्थक अथवा बन्धकर है—और यदि विशुद्धि तथा सक्लेश दोनोमेसे किसीका अग नही है तो पुण्य-पापमेसे किसीके

भी युक्त आस्रवका—बन्धव्यवस्थापक साम्परायिक आस्रवका—हेतु नही है। (बन्धाऽभावके कारण) वह व्यर्थ होता है—उसका कोई फल नही ।

यहाँ 'संक्लेश' का अभिप्राय आर्त-रौद्रध्यानके परिणामसे है—'आर्त-रौद्र-ध्यानपरिणाम: संक्लेश:' ऐसा अकलंकदेवने 'अष्टशती' टीकामें स्पष्ट लिखा है और श्रीविद्यानन्दने भी उसे 'अष्टसहस्री' में अपनाया है। 'संक्लेश' शब्दके साथ प्रतिपक्षरूपसे प्रयुक्त होनेके कारण 'विशुद्धि' शब्दका अभिप्राय 'संक्लेशाऽभाव' है ('तदभाव: विशुद्धि:' इत्यकलंक:)—उस क्षायिकलक्षणा तथा अविनश्वरी परमशुद्धिका अभिप्राय नही है जो निरवशेष-रागादिके अभावरूप होती है। उस विशुद्धिमें तो पुण्य-पापबंधके लिये कोई स्थान ही नही है। और इसलिये विशुद्धिका आशय यहाँ आर्त-रौद्रध्यानसे रहित शुभपरिणतिका है । वह परिणति धर्म्यध्यान तथा शुक्ल-ध्यानके स्वभावको लिये हुए होती है । ऐसी परिणतिके होने पर ही आत्मा स्वात्मामें—स्वस्वरूपमे—स्थितिको प्राप्त होता है, चाहे वह कितने ही अंशोमे क्यो न हो । इसीसे अकलंकदेवने अपनी व्याख्यामें, इस संक्लेशाभावरूप विशुद्धिको 'आत्मन' स्वात्मन्यव-स्थानम्' रूपसे उल्लिखित किया है । और इससे यह नतीजा निकलता है कि उक्त पुण्य-प्रसाधिका विशुद्धि आत्माके विकासमें सहायक होती है, जब कि संक्लेशपरिणतिमे आत्माका विकास नही बन सकता—वह पाप-प्रसाधिका होनेसे आत्माके अध:पतनका कारण बनती है। इसीलिये पुण्यको प्रशस्त और पापको अप्रशस्त कर्म कहा गया है ।

विशुद्धिके कारण, विशुद्धिके कार्य और विशुद्धिके स्वभावको 'विशुद्धिअंग' कहते है। इसी तरह संक्लेशके कारण, संक्लेशके कार्य तथा स्वभावको 'संक्लेशाङ्ग' कहते है। स्व-पर-सुख-दु:ख यदि विशु-द्धिअंगको लिये हुए होता है तो वह पुण्य-रूप शुभ-बन्धका और

संक्लेशागको लिए हुए होता है तो पाप-रूप अशुभबन्धका कारण होता है, अन्यथा नहीं। तत्त्वार्थसूत्रमें, "मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव.' इस सूत्रके द्वारा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूपसे बन्धके जिन कारणोंका निर्देश किया है वे सब संक्लेशपरिणाम ही है, क्योंकि आर्त-रौद्रध्यानरूप परिणामोंके कारण होनेसे 'सक्लेशाङ्ग'मे शामिल हैं, जैसे कि हिंसादि-क्रिया संक्लेशकार्य होनेसे सक्लेशाङ्गमे गर्भित है। अत स्वामी समन्तभद्रके इस कथनसे उक्त सूत्रका कोई विरोध नहीं है। इसी तरह 'कायवाङ्मन कर्म योग:', 'स आस्रव:', 'शुभ. पुण्यस्याऽशुभ. पापस्य' इन तीन सूत्रोके द्वारा शुभकायादि-व्यापारको पुण्यास्रवका और अशुभकायादि-व्यापारको पापास्रवका जो हेतु प्रतिपादित किया है वह कथन भी इसके विरुद्ध नही पड़ता; क्योंकि कायादि-योगके भी विशुद्धि और सक्लेशके कारण-कार्य-स्वभावके द्वारा विशुद्धित्व-संक्लेशत्वकी व्यवस्थिति है। सवलेशके कारण-कार्य-स्वभाव ऊपर बतलाए जा चुके हैं, विशुद्धिके कारण सम्यग्दर्शनादिक है, धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान उसके स्वभाव है और विशुद्धिपरिणाम उसका कार्य है। ऐसी हालतमे स्वपर-दु खकी हेतुभूत कायादि-क्रियाएँ यदि संक्लेश-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती हैं तो वे सक्लेशाङ्गत्वके कारण, विषभक्षणादिरूप कायादिक्रियाओंकी तरह, प्राणियोंको अशुभफलदायक पुद्गलोके सम्बन्धका कारण बनती हैं; और यदि विशुद्धि-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती हैं तो विशुद्धयङ्गत्वके कारण, पथ्य आहारादिरूप कायादिक्रियाओंकी तरह, प्राणियोंके शुभफलदायक पुद्गलोके सम्बन्धका कारण होती हैं। जो शुभफलदायक पुद्गल है वे पुण्यकर्म है, जो अशुभफलदायक पुद्गल हैं वे पापकर्म हैं, और इन पुण्य-पाप-कर्मोंके अनेक भेद हैं। इस प्रकार संक्षेपसे इस कारिकामें संपूर्ण शुभाऽशुभरूप पुण्य-पाप-कर्मोंके आस्रव-बन्धका कारण सूचित किया है। इससे पुण्य-पापकी व्यवस्था

बतलानेके लिये यह कारिका कितनी रहस्यपूर्ण है, इसे विज्ञ-पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

सारांश इस सब कथनका इतना ही है कि—सुख और दुःख दोनों ही, चाहे स्वस्थ हो या परस्थ—अपनेको हो या दूसरोको—कथंचित् पुण्यरूप आस्रव-बन्धके कारण है, विशुद्धिके अंग होनेसे, कथंचित् पापरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, सक्लेशके अंग होनेसे, कथंचित् पुण्य-पाप उभयरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, क्रमार्पित विशुद्धि-संक्लेशके अंग होनेसे; कथंचित् अवक्तव्यरूप हैं, सहार्पित-विशुद्धि-संक्लेशके अंग होनेसे। और विशुद्धि-संक्लेशका अंग न होने पर दोनों ही बन्धके कारण नही हैं। इस प्रकार नय-विवक्षाको लिए हुए अनेकान्तमार्गसे ही पुण्य-पापकी व्यवस्था ठीक बैठती है—सर्वथा एकान्तपक्षका आश्रय लेनेसे नही। एकान्तपक्ष सदोष है; जैसा कि ऊपर बतलाया जाचुका है और इसलिये वह पुण्य-पापका सम्यक् व्यवस्थापक नही हो सकता।

३४

परिग्रहका प्रायश्चित्त

'प्रायश्चित्त' एक प्रकारका दण्ड अथवा तपोविधान है जो अपनी इच्छासे किया तथा लिया जाता है, और उसका उद्देश्य एवं लक्ष्य होता है आत्मशुद्धि तथा लौकिक जनोकी चित्तशुद्धि। आत्माकी अशुद्धिका कारण पापमल है—अपराधरूप आचरण है। प्रायश्चित्तके द्वारा पापका परिमार्जन और अपराधका शमन होता है, इसीसे प्रायश्चित्तको पापछेदन, मलापनयन, विशोधन और अपराधविशुद्धि जैसे नामोसे भी उल्लेखित किया जाता है[1]। इस दृष्टिसे 'प्राय' का अर्थ पाप-अपराध, और 'चित्त' का अर्थ शुद्धि है। पाप तथा अपराध करनेवाला जनताकी नज़रमे गिर जाता है—जनता उसे घृणाकी दृष्टिसे—हिकारतकी नज़रसे—देखने लगती है और उसके हृदयमे उसका जैसा चाहिए वैसा गौरव नही रहता। परन्तु जब वह प्रायश्चित्त कर लेता है—अपने अपराधका दड ले लेता है—तो जनताका हृदय भी वदल जाता है और वह उसे ऊँची, प्रेम-

---

१. "रहस्य छेदन दण्डो मलापनयन तपः।
प्रायश्चित्ताभिधानानि व्यवहारो विशोवनम् ॥ ६ ॥"
"प्रायश्चित्त तप. श्लाघ्य येन पाप विशुध्यति ॥ १८३ ॥"
——प्रायश्चित्तसमुच्चय

"प्रायाच्चिति चित्तयोरिति सुट् अपराधो प्राय., चित्तं शुद्धिः। प्रायस्य चित्त प्रायश्चित्त—अपरावविशुद्धिरित्यर्थः।" (राजवार्तिक).

की तथा गौरव-भरी दृष्टिसे देखने लगती है। इस दृष्टिसे प्रायः का अर्थ 'लोक' तथा 'लोकमानस' है और चित्तका अर्थ वही 'शुद्धि' अथवा 'चित्तग्राहककर्म' समझना चाहिये[1]।

परिग्रहको शास्त्रकारोने, यद्यपि, पाप बतलाया है और हिंसादि पंच प्रधान-पापोमें उसकी गणना की है; फिरभी लोकमें वह आम-तौरसे कोई पाप नहीं समझा जाता—हिंसा, झूठ, चोरी और पर-स्त्री-सेवनादिरूप कुशीलको जिस प्रकार पाप समझा जाता है और अपराध माना जाता है उस प्रकार धन-धान्यादिरूप परिग्रहके संचयको—उसमें रचेपचे रहनेको कोई पाप नही समझता और न अपराध ही मानता है। इसीसे लोकमें परिग्रहके लिए कोई दंड-व्यवस्था नही—जो जितना चाहे परिग्रह रख सकता है। भारतीय दंडविधान (Indian penal code) में भी ऐसी कोई धारा नही, जिससे किसी भी परिग्रहीको अथवा अधिक धन-दौलत एकत्र करने-वाले तथा ससारकी अधिक सम्पत्ति-विभूति पर अपना अधिकार रखनेवाले गृहस्थको अपराधी एव दंडका पात्र समझा जा सके। प्रत्युत इसके, जो लोग मिलो, कल-कारखानों और व्यापारादिके द्वारा विपुल धन एकत्र करके बहुविभूतिके स्वामी बनते है उन्हे लोकमे प्रतिष्ठित समझा जाता है, पुण्याधिकारी माना जाता है और आदरकी दृष्टिसे देखा जाता है। ऐसी हालतमे उनके पापी तथा अपराधी होनेकी कोई कल्पना तक भी नही कर सकता—उन्हें वैसा कहने-सुननेकी तो बात ही कहाँ? तब फिर 'परिग्रहका प्राय-श्चित्त' कैसा? और उसे पाप बतलाना भी कैसा?

यह ठीक है कि परिग्रहको लोकमें हिंसादिक पापोंकी दृष्टिसे नहीं

---

१. 'प्रायो लोकस्य चित्त मानस। उक्त च—
प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्त मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहक कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृत ॥" (प्रायश्चित्तसमु०)

देखा जाता, सभी उसकी चकाचौंधमें फँसे हैं, सभी उसके इच्छुक हैं और सभी अधिकाधिक रूपसे परिग्रहधारी बनना चाहते है। ऐसे अपरिग्रही सच्चे साधु भी प्राय. नही हैं जो अपने आचरण-वल और सातिशय-वाणीसे अपरिग्रहके महत्वको लोक-हृदयोपर भले प्रकार अंकित कर सकते—उन्हे उनकी भूल सुझा सकते, परिग्रहसे उनकी लालसा, गृद्धता एवं आसक्तताको हटा सकते, अनासक्त रहकर उसके उपभोग करने तथा लोकहितार्थ वितरण करते रहनेका सच्चा सजीव पाठ पढा सकते। कितने ही साधु तो स्वयं महापरिग्रहके धारी हैं—मठाधीश, महन्त–भट्टारक वने हुए है, और वहुतसे परिग्रहभक्त सेठ-साहूकारोकी केवल हाँ मे हाँ मिलानेवाले है, उनकी कृपाके भिखारी है, उनकी असत् प्रवृत्तियोको देखते हुए भी सदैव उनकी प्रशंसाके गीत गाया करते हैं—उनकी लक्ष्मी, विभूति एवं परिग्रहकी कोरी सराहना किया करते हैं। उनमे इतना आत्मवल नही, आत्मतेज नही, हिम्मत नही, जो ऐसे महापरिग्रही धनिकोकी आलोचना कर सकें—उनकी त्याग-शून्य निरर्गल धन-दौलतके संग्रहकी प्रवृत्तिको पाप या अपराध वतलासके। इस प्रकार जब सभी परिग्रहकी कीचमे थोडे वहुत धँसे हुए या सने हुए हैं तव फिर कौन किसीकी तरफ अगुली उठावे और उसे अपराधी-पापी ठहरावे ? ऐसी हालतमे परिग्रहको आमतौर पर यदि पाप नही समझा जाता और न अपराध ही माना जाता है तो इसमे कुछ भी आश्चर्य नही है।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी परिग्रह पापकी—अपराधकी —कोटिसे निकल नही जाता। उसे पाप या अपराध न मानना अथवा तद्रूप न देखना दृष्टिविकारका ही एकमात्र परिणाम जान पड़ता है। धतूरा खाकर दृष्टिविकारको प्राप्त हुआ मनुष्य अथवा पीलियारोगका रोगी यदि सफेद शंखको भी पीला देखता है तो उससे वह शख पीला नही हो जाता और न उसका शुक्ल गुण ही नष्ट हो जाता है। अथवा ठगोंका समाज यदि झूठ वोलने और

चोरी करनेको पाप नही समझता तो उससे झूठ और चोरी पापकी कोटिसे नहीं निकल जाते। ठीक इसी तरह मोह-मदिरा पीकर दृष्टि-विकारको प्राप्त हुआ संसार यदि परिग्रहको पापरूपमें नहीं देखता और न उसे कोई अपराध ही समझता है तो सिर्फ इतनेसे ही यह नही कहा जा सकता कि परिग्रह कोई पाप या अपराध ही नही रहा, और इसलिए उसका प्रायश्चित्त भी न होना चाहिए। वास्तवमे मूर्छा, ममत्व-परिणाम अथवा 'ममेदं' (यह मेरा) के भावको लिए हुए परिग्रह एक बहुत बड़ा पाप है, जो आत्माको सब ओरसे पकड़े-जकड़े रहता है और उसका विकास नही होने देता। इसीसे श्रीपूज्य-पाद और अकलंकदेव जैसे महान् आचार्योंने सर्वार्थसिद्धि तथा राज-वार्तिक आदि ग्रन्थोमें 'तन्मूलाः सर्वे दोषा', 'तन्मूला सर्वदोषा-नुषंगाः' इत्यादि वाक्योके द्वारा परिग्रहको सर्वदोषोंका मूल बतलाया है[1]। और यह बिल्कुल ठीक है—परिग्रहके होनेपर उसके संरक्षण-अभिवर्धनादिकी ओर प्रवृत्ति होती है, संरक्षणादि करनेके लिये अथवा उसमें योग देते हुए हिसा करनी पड़ती है, झूठ बोलना पड़ता है, चोरी करनी होती है, मैथुनकर्ममें चित्त देना पड़ता है, चित्त विक्षिप्त रहता है, क्रोधादिक कषायें जाग उठती है, राग-द्वेषा-दिक सताते है, भय सदा घेरे रहता है, रौद्रध्यान बना रहता है, तृष्णा बढ जाती है, आरम्भ बढ जाते है, नष्ट होने अथवा क्षति पहुँचनेपर शोक-संताप आ दबाते है, चिन्ताओंका ताँता लगा रहता है और निराकुलता कभी पास नही फटकती। नतीजा इस सबका होता है अन्तमें नरकका वास, जहाँ नाना प्रकारके दारुण दुःखोंसे पाला पड़ता है और कोई भी रक्षक एवं शरण नजर नही आता।

---

१. ज्ञानार्णवमे शुभचन्द्राचार्यने बाह्य परिग्रहको 'निःशेषानर्थ-मन्दिर' लिखा है; क्योंकि उसके कारण अविद्यमान होते हुए भी रागा-दिक शत्रु क्षणमात्रमे उत्पन्न होकर अनिष्ट अथवा अनर्थ कर डालते है।

इसीसे परमागममें वहुआरम्भी – बहुपरिग्रहीको नरकका अधिकारी बतलाया है, क्योंकि वहुआरम्भ (प्राणिपीडा-हेतु-व्यापार) और बहुपरिग्रह दोनो ही सिद्धान्तमे नरकायुके आस्रवके कारण कहे गये हैं[1]। ऐसी हालतमे परिग्रहको पाप न मान कर उसका प्रायश्चित्त न करना और उसे भविष्यकी ओरसे आँखे बन्द करके बराबर बढ़ाते रहना, नि सन्देह, बड़ी भारी भूल है—आत्म-वंचना है। इस भूलके वश परिग्रह-पापकी पोट बढ़ते बढ़ते मनुष्यको घोर श्वभ्र-सागर अथवा दुःखसागरमें ले डूबती है, जहाँसे उद्धार पाना फिर

---

१ इस विषयमे पुरातन आचार्योंके निम्न वाक्य भी ध्यानमे रखने योग्य हैं, जिनसे इस विषयकी कितनी ही पुष्टि होती है .—

“के पुनस्ते सर्वदोषानुषङ्गा. ? ममेदमिति हि सति सकल्पे सरक्षणादयः सजायन्ते। तत्र च हिंसाऽवश्यभाविनी, तदर्थमनृत जल्पति, चौर्य चाचरति, मैथुने च कर्मणि प्रयतते। तत्प्रभवा नरकादिषु दु.खप्रकारा। इहाऽपि अनुपरतव्यसनमहार्णवाऽवगाहनम्।”

—राजवार्तिक-भाष्ये, अकलंकः

“परिग्रहवता सता भयमवश्यमापद्यते,
प्रकोप-परिहिंसने च परुषाऽनृत-व्याहृती।
ममत्वमथ चोरतो स्वमनसश्च विभ्रान्तता,
कुतो हि कलुपात्मना परमशुक्ल-सद्ध्यानता॥४२॥–पात्रकेसरिस्तोत्र

“बह्वारम्भ परिग्रहत्व नारकस्यायुष.” (तत्त्वार्थसूत्र ६-१५)

‘एतदुक्त भवति—परिग्रहप्रणिधानप्रयुक्ताः तीव्रतरपरिणामा हिंसापरा बहुशो विज्ञप्ताश्चानुमताः भाविताश्च तत्कृतकर्मात्मसात्करणात् तप्ताय पिण्डवत् अहितक्रोधाद्यर्था नारकस्यायुषः आस्रव इति सक्षेपः। तद्विस्तरस्तु…… ।” (राजवार्तिक-भाष्य)

‘आरम्भो जन्तुघातश्च कषायश्च परिग्रहात्।
जायन्तेऽत्र तत. पातः प्राणिना श्वभ्रसागरे॥” (ज्ञानार्णव)

बहुत ही कठिन, गुरुतर-कष्टसाध्य तथा असंख्य वर्षोका कार्य हो जाता है। और इसलिए वे ही मनुष्य विवेकी हैं, वे ही बुद्धिमान हैं और वे ही आत्महितैषी एवं धर्मात्मा हैं जो इस भूल तथा आत्म-वंचनाके चक्करमें न पड़कर अनासक्तिके द्वारा परिग्रहका अधिकभार अपने आत्मा पर पड़ने नही देते, और प्रायश्चित्तादिके द्वारा बराबर उसकी काट-छांट करके अपने आत्माको सदैव हलका रखते हैं।

अब देखना यह है कि परिग्रहका प्रायश्चित्त क्या है? परिग्रह-का समुचित प्रायश्चित्त अनासक्तिके साथ साथ उसका त्याग है, जो ग्रहणकी विपरीत दिशाको लिए हुए होनेसे यथार्थ जान पड़ता है। शीतका प्रतिकार जिस प्रकार उष्णसे और उष्णका प्रतिकार शीत-से होता है, उसी प्रकार ग्रहणरूप परिग्रहका प्रतिकार उसके त्याग-से ही ठीक बनता है। प्रायश्चित्तके दस अथवा नव भेदोमे 'त्याग' नामका भी एक प्रायश्चित्त है, जिसे 'विवेक' भी कहते है[1]। त्याग-का दूसरा नाम 'दान' है,और इसलिए परिग्रहसे मोह हटाकर अथवा अपनी धन-सम्पत्तिसे ममत्वपरिणामको दूर करके लोक-सेवाके कामोमें उसका वितरण करना— दे डालना, यह परिग्रहका समुचित प्रायश्चित्त है। परन्तु यह दान अथवा त्याग ख्याति-लाभ-पूजादिककी दृष्टिसे न होना चाहिये और न इसमें दूसरो पर अनुग्रह और कृपाकी कोई अहंभावना ही रहनी चाहिये। जो दान ख्याति-लाभ-पूजादिक-की दृष्टिसे दिया जाता है अथवा जिसमे दूसरो पर अनुग्रह और कृपाकी अहंभावना रहती है वह प्रायश्चित्तकी कोटिमे नही आता— वह दूसरे प्रकारका साधारण दान है। प्रायश्चित्तकी दृष्टि तो अपने पापका संशोधन अथवा अपराधका परिमार्जन करके आत्मशुद्धि

---

१. आलोचना प्रतिक्रान्तिद्वयं त्यागो विमर्जन।
तप:छेदोऽपि मूल च परिहारोऽभिरोचनम्॥ (प्रायश्चित्तसमु० १८५)
"आलोचन-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग०" (तत्त्वार्थसूत्र ९-२०)

करनेकी ओर होती है। और इसलिए उसका करनेवाला दान करके किसी पर कोई अहसान-अनुग्रह नही बतलाता और न उससे अपना कोई लौकिक लाभ ही लेना चाहता है। वह तो समझता है कि—मैने अपनी जरूरतसे अधिक परिग्रहका संचय करके दूसरोको उसके भोग-उपभोगसे वंचित रखनेका अपराध किया है, उसके अर्जन वर्द्धन-रक्षणादिमे मुझे कितने ही पाप करने पड़े हैं, उसका निरर्गल बढ़ते रहना पापका—आत्माके पतनका—कारण है।' और इसलिये वह विवेकको अपनाकर तथा ममत्वको घटाकर अपनेको पाप-भारसे हलका रखनेकी दृष्टिसे उसका लोक-हितार्थ त्याग करता है—दान करता है। दानके इन दोनों प्रकारोमें परस्पर कितना बडा अन्तर है, इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं।]

नि.सन्देह, परिग्रहमें पापबुद्धिका होना, उसके प्रायश्चित्तकी बराबर भावना रखना और समय-समयपर उसे करते रहना विवेकका—अनासक्तिका सूचक है और साथ ही आत्माकी जागृतिका—उत्थानका द्योतक है। यदि समाजमें दानके पीछे प्रायश्चित्त-जैसी सद्भावनाएँ काम करने लगे तो उसका शीघ्र ही उत्थान हो सकता है और वह ठीक अर्थमें सचमुच ही एक आदर्श धार्मिक-समाज बन सकता है। सद्गृहस्थोकी नित्य-नियमसे की जानेवाली देवपूजादि षट् आवश्यक क्रियाओमे जो दानका विधान (समावेश) किया गया है उसका आशय संभवतः यही जान पड़ता है कि नित्यके आरम्भ-परिग्रह-जनित पापका नित्य ही थोड़ा-बहुत प्रायश्चित्त होता रहे, जिससे पापका बोझा अधिक बढ़ने न पावे और गृहस्थजन निरा-कुलता-पूर्वक धर्मका साधन कर सकें—उसमें बाधा न आवे।

हार्दिक भावना है कि देश तथा समाजमें बहुलतासे ऐसे आदर्श त्यागी एव दानी पैदा हो, जो परिग्रहको पाप समझते हुए उसमें आसक्ति न रखते हों और प्रायश्चित्तके रूपमें अपनी धन-सम्पत्तिका सदा लोकसेवाके कार्योंमें समुचित विनियोग करते रहें।

३५

छोटापन और बड़ापन

एक दिन अध्यापक वीरभद्रने, अपने विद्यार्थियोको नया पाठ पढ़ानेके लिये. बोर्डपर तीन-इंचकी ______ एक लाइन खीचकर विद्यार्थीसे पूछा—

'बतलाओ यह लाइन छोटी है या बड़ी ?'

विद्यार्थीने चटसे उत्तर दिया—'यह तो छोटी है।'

इसपर अध्यापकने उस लाइनके नीचे एक-इचकी दूसरी लाइन बनाकर फिरसे पूछा—

______ १

'अब ठीक देखकर बतलाओ कि

__ २

ऊपरकी लाइन नं० १ बड़ी है या छोटी ?'

विद्यार्थी देखते ही बोल उठा—'यह तो साफ बडी नजर आती है।'

अध्यापक—अभी तुमने इसे छोटी बतलाया था ?

विद्यार्थी—हाँ, बतलाया था, वह मेरी भूल थी।

इसके बाद अध्यापकने, प्रथम लाइन नं० १ के ऊपर पाँच-इच-की लाइन बनाकर और नीचेवाली एक-इंची लाइनको मिटाकर फिरसे पूछा—

__________ ३

'अच्छा, अब बतलाओ,

______ १

नीचेकी लाइन नं० १ छोटी है या बड़ी ?'

विद्यार्थी कुछ असमंजसमें पड़ गया और आखिर तुरत ही कह उठा—'यह तो अब छोटी हो गई है।'

'छोटी कैसे हो गई ? क्या किसीने इसमेसे कोई टुकड़ा तोड़ा है या इसके किसी अशको मिटाया है ?—हमने तो इसे छुआ तक भी नही। अथवा तुमने इसे जो पहले 'बड़ी' कहा था वह कहना भी तुम्हारा गलत था?' अध्यापक ने पूछा।

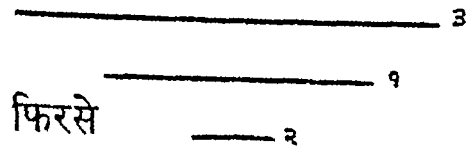
'पहले जो मैंने इसे 'बड़ी' कहा था वह कहना मेरा गलत नहीं था और न उस लाइनमेंसे किसीने कोई टुकड़ा तोड़ा है या उसके किसी अशको मिटाया है—वह तो ज्योकी त्यो अपने तीन-इचीके रूपमे स्थित है। पहले आपने इसके नीचे एक-इंचकी लाइन बनाई थी, इससे यह बड़ी नजर आती थी और इसीलिये मैने इसे बड़ी कहा था, अब आपने उस एक-इचकी लाइनको मिटाकर इसके ऊपर पाँच इचकी लाइन बना दी है, इससे यह तीन-इंचकी लाइन छोटी हो पडी—छोटी नजर आने लगी, और इसीसे मुझे कहना पड़ा कि 'यह तो अब छोटी हो गई है।' विद्यार्थीने उत्तर दिया।

अध्यापक—अच्छा, सबसे पहिले तुमने इस तीन-इंची लाइनको जो छोटी कहा था उसका क्या कारण था ?

विद्यार्थी—उस समय मैंने यह देखकर कि बोर्ड बहुत बड़ा है और यह लाइन उसके एक बहुत छोटेसे हिस्सेमे आई है, इसे 'छोटी' कह दिया था।

अध्यापक—फिर इसमे तुम्हारी भूल क्या हुई ? यह तो ठीक ही है—यह लाइन बोर्डसे छोटी है, इतना ही क्यों? यह तो टेबिलसे भी छोटी है, कुर्सीसे भी छोटी है, इस कमरेके किवाड़से भी छोटी है, दीवारसे भी छोटी है, और तुम्हारी-मेरी लम्बाईसे भी छोटी है।

विद्यार्थी—इस तरह तो मेरे कहनेमें भूल नही थी—भूल मान लेना ही भूल थी।



अब अध्यापकने उस मिटाई हुई एक-इची लाइनको फिरसे नीचे बना दिया और सवाल किया कि—

'तीनों लाइनोंकी इस स्थितिमें तुम बीचकी उसी नम्बर १ वाली लाइनको छोटी कहोगे या बड़ी ?'

विद्यार्थी—मै तो अब यूँ कहूँगा कि यह ऊपरवाली लाइन नं० ३ से छोटी और नीचेवाली लाइन नं० २ से बड़ी है।

अध्यापक—अर्थात् इसमें छोटापन और बड़ापन दोनो है और दोनो गुण एक साथ है ?

विद्यार्थी—हाँ, इसमें दोनों गुण एक साथ है।

अध्यापक—एक ही चीजको छोटी और बड़ी कहनेमे क्या तुम्हें कुछ विरोध मालूम नही होता ? जो वस्तु छोटी है वह बड़ी नही कहलाती और जो बड़ी है वह छोटी नही कही जाती। एक ही वस्तुको 'छोटी' कहकर फिर यह कहना कि 'छोटी नही, बड़ी है' यह कथन तो लोक-व्यवहारसे विरुद्ध जान पड़ेगा। लोकव्यवहारमें जिस प्रकार 'हाँ' कहकर 'ना' कहना अथवा विधान करके निषेध करना परस्पर विरुद्ध, असंगत और अप्रामाणिक समझा जाता है उसी प्रकार तुम्हारा यह एक चीज़को छोटी कहकर बड़ी कहना अथवा एक ही वस्तुमें छोटेपनका विधान करके फिर उसका निषेध कर डालना—उसे बड़ी बतलाने लगना—क्या परस्पर विरुद्ध, असंगत और अप्रामाणिक नही समझा जायगा ? और जिस प्रकार अन्धकार तथा प्रकाश दोनों एक साथ नही रहते उसी प्रकार छोटापन और बड़ापन दोनों गुणों (धर्मो) के एक साथ रहनेमे क्या विरोध नही आएगा ?

यह सब सुनकर विद्यार्थी कुछ सोच-सीमें पड़ गया और मन-ही-मन उत्तरकी खोज करने लगा; इतनेमें अध्यापकजी उसकी

विचार-समाधिको भग करते हुए बोल उठे—

'इसमे अधिक सोचने-विचारनेकी बात क्या है ? एक ही चीजको छोटी-बड़ी दोनो कहनेमे विरोध तो तब आता है जब जिस दृष्टि अथवा अपेक्षासे किसी चीजको छोटा कहा जाय उसी दृष्टि अथवा अपेक्षासे उसे बड़ा बतलाया जाय। तुमने मध्यकी तीन-इची लाइनको ऊपरकी पाँच-इची लाइनसे छोटी बतलाया है, यदि पाँच-इंचवाली लाइनकी अपेक्षा ही उसे बड़ी बतला देते तो विरोध आ जाता, परन्तु तुमने ऐसा न करके उसे नीचेकी एक इच-वाली लाइनसे ही बड़ा बतलाया है, फिर विरोधका क्या काम ? विरोध वही आता है जहाँ एक ही दृष्टि (अपेक्षा) को लेकर विभिन्न प्रकारके कथन किए जायँ, जहाँ विभिन्न प्रकारके कथनोके लिये विभिन्न दृष्टियो—अपेक्षाओका आश्रय लिया जाय वहाँ विरोधके लिये कोई अवकाश नही रहता। एक ही मनुष्य अपने पिताकी दृष्टिसे पुत्र है और अपने पुत्रकी दृष्टिसे पिता है—उसमे पुत्रपन और पितापनके दोनो धर्म एक साथ रहते हुए भी जिस प्रकार दृष्टिभेद होनेसे विरोधको प्राप्त नही होते उसी प्रकार एक दृष्टिसे किसी वस्तुका विधान करने और दूसरी दृष्टिसे निषेध करने अथवा एक अपेक्षासे 'हाँ' और दूसरी अपेक्षासे 'ना' करनेमे भी विरोधकी कोई बात नही है। ऐसे ऊपरी अथवा शब्दोमे ही दिखाई पडनेवाले विरोधको 'विरोधाभास' कहते है—वह वास्तविक अथवा अर्थकी दृष्टिसे विरोध नही होता, और इसलिये पूर्वापरविरोध तथा प्रकाश-अन्धकार-जैसे विरोधके साथ उसकी कोई तुलना नही की जा सकती। और इसीलिये तुमने जो बात कही वह ठीक है। तुम्हारे कथनमें दृढता लानेके लिए ही मुझे यह सब स्पष्टीकरण करना पड़ा है। आशा है अब तुम छोटे-बड़ेके तत्त्वको खूब समझ गये होगे।

विद्यार्थी—हाँ, खूब समझ गया, अब नही भूलूँगा।

अध्यापक—अच्छा, तो इतना और बतलाओ—'इन ऊपर-

नीचेकी दोनो बड़ी-छोटी लाइनोंको यदि मिटा दिया जाय और मध्यकी उस न० १ वाली लाइनको ही स्वतन्त्र रूपमें स्थिर रक्खा जाय—दूसरी किसी भी बड़ी-छोटी चीजके साथ उसकी तुलना या अपेक्षा न की जाय, तो ऐसी हालतमे तुम इस लाइन नं० १ को स्वतन्त्रभावसे—कोई भी अपेक्षा अथवा दृष्टि साथमें न लगाते हुए—छोटी कहोगे या बड़ी ?'

विद्यार्थी—ऐसी हालतमें तो मै इसे न छोटी कह सकता हूँ और न बड़ी ।

अध्यापक—अभी तुमने कहा था 'इसमे दोनों (छोटापन और बड़ापन) गुण एक साथ है' फिर तुम इसे छोटी या बड़ी क्यो नही कह सकते ? दोनों गुणोंको एक साथ कहनेकी वचनमे शक्ति न होनेसे यदि युगपत् नही कह सकते तो क्रमसे तो कह सकते हो ? वे दोनो गुण कही चले तो नही गये ? गुणोंका तो अभाव नहीं हुआ करता—भले ही तिरोभाव (आच्छादन) हो जाय, कुछ समयके लिये उनपर पर्दा पड़ जाय और वे स्पष्ट दिखलाई न पड़े ।

विद्यार्थी फिर कुछ रुका और सोचने लगा ! अन्तको उसे यही कहते हुए बन पड़ा—'बिना अपेक्षाके किसीको छोटा या बड़ा कैसे कहा जासकता है ? पहले जो मैने इस लाइनको 'छोटी' तथा 'बड़ी' कहा था वह अपेक्षासे ही कहा था, अब आप अपेक्षाको बिल्कुल ही अलग करके पूछ रहे है तब मै इसे छोटी या बड़ी कैसे कह सकता हूँ, यह मेरी कुछ भी समझमे नहीं आता । आप ही समझाकर बतलाइये ।'

अध्यापक—तुम्हारा यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'बिना अपेक्षाके किसीको छोटा या बड़ा कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् नही कहा जासकता । अपेक्षा ही छोटेपन या बड़ेपनका मापदण्ड है—मापनेका गज है ? जिस अपेक्षा-गजसे किसी वस्तुविशेषको मापा जाता है वह गज यदि उस वस्तुके एक अंशमे आजाता है—उसमें

समा जाता है—तो वह वस्तु 'बड़ी' कहलाती है । और यदि उस वस्तुसे बढा रहता—बाहरको निकला रहता—है तो वह 'छोटी' कही जाती है । वास्तवमें कोई भी वस्तु स्वतन्त्ररूपसे अथवा स्वभावसे छोटी या बड़ी नही है—स्वतन्त्ररूपसे अथवा स्वभावसे छोटी या बड़ी होने पर वह सदा छोटी या बड़ी रहेगी, क्योकि स्वभावका कभी अभाव नही होता। और इसलिये किसी भी वस्तुमें छोटापन और बड़ापन ये दोनो गुण परतन्त्र, पराश्रित, परिकल्पित, आरोपित, सापेक्ष अथवा परापेक्षिक ही होते हैं, स्वाभाविक नही। छोटेके अस्तित्व-बिना बड़ापन और बड़ेके अस्तित्व-बिना छोटापन कही होता ही नही। एक अपेक्षासे जो वस्तु छोटी है वही दूसरी अपेक्षासे बड़ी है और जो एक अपेक्षासे बडी है वही दूसरी अपेक्षासे छोटी है। इसीलिये कोई भी वस्तु सर्वथा (बिना अपेक्षाके) छोटी या बड़ी न तो होती है और न कही जा सकती है। किसीको सर्वथा छोटा या बड़ा कहना 'एकान्त' है। जो मनुष्य किसीको सर्वथा छोटा या बड़ा कहता है वह उसको सब ओरसे अवलोकन नही करता—उसके सब पहलुओ अथवा अंगोपर दृष्टि नही डालता—न सब ओरसे उसकी तुलना ही करता है, सिक्केकी एक साइड (side) को देखनेकी तरह वह उसे एक ही ओरसे देखता है और इसलिये पूरा देख नही पाता। इसीसे उसकी दृष्टिको 'सम्यक्दृष्टि' नही कह सकते और न उसके कथनको 'सच्चा कथन' ही कहा जा सकता है । जो मनुष्य वस्तुको सब ओरसे देखता है, उसके सब पहलुओ अथवा अंगों पर दृष्टि डालता है और सब ओरसे उसकी तुलना करता है वह 'अनेकान्तदृष्टि' है—'सम्यक्दृष्टि है। ऐसा मनुष्य यदि किसी वस्तुको छोटी कहना चाहता है तो कहता है—'एक प्रकारसे छोटी है,' 'अमुककी अपेक्षा छोटी है', 'कथंचित् छोटी है' अथवा 'स्यात् छोटी' है । और यदि छोटी-बड़ी दोनो कहना चाहता है तो कहता है—'छोटी भी है

और बड़ी भी, एक प्रकारसे छोटी है—दूसरे प्रकारसे बड़ी है, अमुक-की अपेक्षा छोटी और अमुककी अपेक्षा बड़ी है अथवा कथंचित् छोटी और बड़ी दोनों है।' और उसका यह वचन-व्यवहार एकान्त-कदाग्रहकी ओर न जाकर वस्तुका ठीक प्रतिपादन करनेके कारण 'सच्चा' कहा जाता है। मैं समझता हूँ कि अब तुम इस विषयको और अच्छी तरहसे समझ गये होगे।

विद्यार्थी—(पूर्ण सन्तोष व्यक्त करते हुए) हाँ, बहुत अच्छी तरहसे समझ गया हूँ। पहले समझनेमें जो कचाई रह गई थी वह भी अब आपकी इस व्याख्यासे दूर हो गई है। आपने मेरा बहुत कुछ अज्ञान दूर किया है, और इसलिये मैं आपके आगे नत-मस्तक हूँ।

अध्यापक वीरभद्रजी अभी इस विषय पर और भी कुछ प्रकाश डालना चाहते थे कि इतनेमें घंटा बज गया और उन्हे दूसरी कक्षा-में जाना पड़ा।

३६

बड़ेसे छोटा और छोटेसे बड़ा

अध्यापक वीरभद्रने दूसरी कक्षामें पहुँच कर उस कक्षाके विद्यार्थियोको भी वही नया पाठ पढाना चाहा जिसे वे अभी अभी इससे पूर्वकी एक कक्षामें पढाकर आये थे, परन्तु यहाँ उन्होने पढ़ानेका कुछ दूसरा ही ढग अख्तियार किया। वे बोर्ड पर तीन-इचकी लाइन खीचकर एक विद्यार्थीसि बोले—'क्या तुम इस लाइनको छोटी कर सकते हो ?'

विद्यार्थीनि उत्तर दिया—'हाँ, कर सकता हूँ' और वह उस लाइनको इधर-उधरसे कुछ मिटानेकी चेष्टा करने लगा।

यह देख कर अध्यापकमहोदयने कहा— 'हमारा यह मतलब नही है कि तुम इस लाइनके सिरोंको इधर-उधरसे मिटाकर अथवा इसमेसे कोई टुकड़ा तोड़कर इसे छोटी करो। हमारा आशय यह है कि यह लाइन अपने स्वरूपमें ज्योकी त्यो स्थिर रहे, इसे तुम छूओ भी नही और छोटी कर दो।

यह सुन कर विद्यार्थी कुछ भौंचक-सा रह गया ! तब अध्यापकने कहा—'अच्छा, तुम इसे छोटी नहीं कर सकते तो क्या बिना छुए बड़ी कर सकते हो ?'

विद्यार्थीने कहा—'हाँ, कर सकता हूँ, और यह कहकर उसने दो इंचकी एक लाइन उस लाइनके बिल्कुल सीधमें उसके एक

सिरेसे सटाकर बनादी और इस तरह उसे पाँच इचकी लाइन कर दिया।

इस पर अध्यापकमहोदय बोल उठे—

'यह क्या किया ? हमारा अभिप्राय यह नहीं था कि तुम इसमें कुछ टुकड़ा जोड़कर इसे बड़ी बनाओ, हमारी मन्शा यह है कि इसमे कुछ भी जोड़ा न जाय, लाइन अपने तीन इंचके स्वरूपमें ही स्थिर रहे—पॉच-इंची जैसी न होने पावे—और बिना छुए ही बड़ी कर दी जाय।'

विद्यार्थी—यह कैसे हो सकता है ? ऐसा तो कोई जादूगर ही कर सकता है।

अध्यापक—(दूसरे विद्यार्थियोसे) अच्छा, तुम्हारेमेंसे कोई विद्यार्थी इस लाइनको हमारे अभिप्रायानुसार छोटी या बड़ी कर सकता है ?

सब विद्यार्थी—हमसे यह नही हो सकता। इसे तो कोई जादूगर या मंत्रवादी ही कर सकता है।

अध्यापक—जब जादूगर या मत्रवादी इसे बड़ी-छोटी कर सकता है और यह बड़ी-छोटी हो सकती है तब तुम क्यो नहीं कर सकते ?

विद्यार्थी—हमें बड़ेसे छोटा और छोटेसे बड़ा करनेका वह जादू या मत्र आता नही।

'अच्छा, हमें तो वह जादू करना आता है। बतलाओ इस लाइनको पहले छोटी करे या बड़ी ?' अध्यापकने पूछा।

'जैसी आपकी इच्छा, परन्तु आप भी इसे छूएँ नही और इसे अपने स्वरूपमे स्थिर रखते हुए छोटी या बड़ी करके बतलाएं,' विद्यार्थियोने उत्तरमें कहा।

'ऐसा ही होगा' कहकर, अध्यापकजीने विद्यार्थियोंसे कहा—'तुम इसके दोनों ओर मार्क कर दो—पहचानका कोई चिन्ह बना

दो, जिससे इसमें कोई तोड़-जोड़ या बदल-सदल न हो सके और यदि हो तो उसका शीघ्र पता चलजाय।' विद्यार्थीने दोनों ओर दो फूलकेसे चिन्ह बना दिये। फिर अध्यापकजीने कहा 'फुटा रखकर इसकी पैमाइश भी करलो और वह इसके ऊपर लिखदो।' विद्यार्थीने फुटा रखकर पैमाइश की तो लाइन ठीक तीन इचकी निकली और वही लाइनके ऊपर लिख दिया गया।

इसके बाद अध्यापकजीने बोर्ड-पर एक ओर कपडा डालकर कहा—

३ इंच

————————

'अब हम पहले इस लाइनको छोटी बनाते है और छोटी होनेका मंत्र बोलते है।' साथ ही, कपड़ेको एक ओरसे उठा कर 'होजा छोटी, होजा छोटी!' का मत्र बोलते हुए वे बोर्ड पर कुछ बनानेको ही थे कि इतनेमे विद्यार्थी बोल उठे--

'आप तो पर्देकी ओटमे लाइनको छूते हैं। पर्देको हटाकर सबके सामने इसे छोटा कीजिये।'

अध्यापकजीने बोर्ड पर डाला हुआ कपड़ा हटाकर कहा—

'अच्छा, अब हम इसे खुले आम छोटा किये देते हैं और किसी मंत्रका भी कोई सहारा नही लेते। यह कह कर उन्होने उस तीन-इंची लाइनके ऊपर पाँच-इचकी लाइन बनादी और विद्यार्थियोसे पूछा—

५ इच

————————————

३ इच

————————

'कहो, तुम्हारी मार्क की हुई नीचेकी लाइन ऊपरकी लाइनसे छोटी है या कि नही? और बिना किसी अंशके मिटाए या तोड़े अपने तीन इंचके स्वरूपमे स्थिर रहते हुए भी छोटी हो गई है या कि नही?'

सब विद्यार्थी—हाँ हो गई है। यह रहस्यकी बात पहले हमारे ध्यानमें ही नहीं आई थी कि, इस तरह भी बड़ीसे छोटी और छोटीसे बड़ी चीज हुआ करती है। अब तो आप नीचे छोटी लाइन बना कर इसे बडी भी कर देंगे।

अध्यापकजीने तुरत ही नीचे एक-इंचकी लाईन बना कर उसे साक्षात् बड़ा करके बतला दिया।

५ इंच

३ इंच

* *

१ इंच

अब अध्यापक वीरभद्रने फिर उसी विद्यार्थीसे पूछा—

'तीनों लाइनोंकी इस स्थितिमे तुम अपनी मार्क की हुई उस बीचकी लाइनको, जो बड़ीसे छोटी और छोटीसे बड़ी हुई है, क्या कहोगे— छोटी या बड़ी ?'

विद्यार्थी—यह छोटी भी है और वडी भी।

अध्यापक—दोनो एक साथ कैसे ?

विद्यार्थी—ऊपरकी लाइनसे छोटी और नीचेकी लाइनसे बडी है अर्थात् स्वयं तीन-इंची होनेसे पाच-इंची लाइनकी अपेक्षा छोटी और एक-इंची लाइनकी अपेक्षा बड़ी है। और यह छोटापन तथा बडापन दोनों गुण इसमें एक साथ प्रत्यक्ष होनेसे इनमें परस्पर विरोध तथा असगति-जैसी भी कोई बात नहीं है।

अध्यापक—अगर कोई विद्यार्थी इस बीचकी लाइनको एक वार ऊपरकी लाइनसे छोटी और दूसरी वार ऊपरकी लाइनसे ही वड़ी बतलावे. और इस तरह इसमे छोटापन तथा बड़ापन दोनोका विधान करे तब भी विरोधकी क्या कोई बात नही है ?

विद्यार्थी—इसमें जरूर विरोध आएगा। एक तो उसके कथनमे

पूर्वापर-विरोध आएगा, क्योंकि पहले उसने जिसको जिससे छोटी कहा था उसीको फिर उससे बड़ी बतलाने लगा। दूसरे उसका कथन प्रत्यक्षके भी विरुद्ध ठहरेगा, क्योंकि ऊपरकी लाइन नीचेकी लाइनसे साक्षात् बड़ी नजर आती है, उसे छोटी बतलाना दृष्ट-विरुद्ध है।

अध्यापक—यह क्या बात है कि तुम्हारे बड़ी-छोटी बतलानेमें तो विरोध नही और दूसरेके बड़ी-छोटी बतलानेमे विरोध आता है?

विद्यार्थी—मैंने एक अपेक्षासे छोटी और दूसरी अपेक्षासे बड़ी बतलाया है। इस तरह अपेक्षाभेदको लेकर भिन्न कथन करनेमें विरोधके लिए कोई गु जाइश नहीं रहती। दूसरा जिसे एक अपेक्षासे छोटी बतलाता है, उसीकी अपेक्षासे उसे बड़ी बतलाता है, इसलिये अपेक्षाभेद न होनेके कारण उसका भिन्न कथन विरोधसे रहित नहीं हो सकता—वह स्पष्टतया विरोध-दोषसे दूषित है।

अध्यापक—तुम ठीक समझ गये। अच्छा अब इतना और बतलाओ कि तुम्हारी इस मार्क की हुई बीचकी लाइनको एक विद्यार्थी 'छोटी ही है' ऐसा बतलाता है और दूसरा विद्यार्थी कहता है कि 'बड़ी ही है', तुम इन दोनो कथनोको क्या कहोगे? तुम्हारे विचारसे इनमेसे कौनसा कथन ठीक है और क्योकर?

विद्यार्थी—दोनो ही ठीक नहीं है। मेरे विचारसे जो 'छोटी ही' (सर्वथा छोटी) बतलाता है उसने नीचेकी एक-इची लाइनको देखा नही, और जो 'बड़ी ही' (सर्वथा बड़ी) बतलाता है उसने ऊपरकी पाच-इंची लाइन पर दृष्टि नही डाली। दोनोकी दृष्टि एक तरफा होनेसे एकाङ्गी है, एकान्त है, सिक्के अथवा ढालकी एक ही साइड (side) को देखकर उसके स्वरूपका निर्णय करलेने-जैसी है, और इसलिये सम्यग्दृष्टि न होकर मिथ्यादृष्टि है। जो अनेकान्तदृष्टि होती है वह वस्तुको सब ओरसे देखती है—उसके सब पहलुओ पर नजर डालती है—इसीलिये उसका निर्णय ठीक होता है और वह 'सम्यग्दृष्टि' कहलाती है। यदि उन्होने ऊपर-नीचे दृष्टि डालकर

भी वैसा कहा है तो कहना चाहिये कि वह उनका कदाग्रह है—हठ-धर्मी है; क्योंकि ऊपर-नीचे देखते हुए मध्यकी लाइन सर्वथा छोटी या सर्वथा बड़ी प्रतीत नहीं होती और न स्वरूपसे कोई वस्तु सर्वथा छोटी या सर्वथा बड़ी हुआ करती है।

अध्यापक—मानलो, तुम्हारे इस दोष देनेसे बचनेके लिये एक तीसरा विद्यार्थी दोनों एकान्तोंको अपनाता है—'छोटी ही है और बडी भी है' ऐसा स्वीकार करता है; परन्तु तुम्हारी तरह अपेक्षा-वादको नही मानता। उसे तुम क्या कहोगे?

विद्यार्थी थोड़ा सोचने लगा, इतनेमें अध्यापकजी विषयको स्पष्ट करते हुए बोल उठे—

'इसमें सोचनेकी क्या बात है? उसका कथन भी विरोध-दोषसे दूषित है; क्योंकि जो अपेक्षावाद अथवा स्याद्वाद-न्यायको नहीं मानता उसका उभय-एकान्तको लिए हुए कथन विरोध-दोषसे रहित हो ही नही सकता—अपेक्षावाद अथवा 'स्यात्' शब्द या स्यात् शब्दके आशयको लिये हुए 'कथंचित्' (एक प्रकारसे) जैसे शब्दोंका साथमें प्रयोग ही कथनके विरोध-दोषको मिटानेवाला है। 'कोई भी वस्तु सर्वथा छोटी या बड़ी नही हुआ करती यह बात तुम अभी स्वयं स्वीकार कर चुके हो और वह ठीक है, क्योंकि कोई भी वस्तु स्वतंत्ररूपसे अथवा स्वभावसे सर्वथा छोटी या बड़ी नही है—किसी भी वस्तुमें छोटेपन या बड़ेपनका व्यवहार दूसरेके आश्रय अथवा पर-निमित्तसे ही होता है और इसलिये उस आश्रय अथवा निमित्त-की अपेक्षाके बिना वह नही बन सकता। अतः अपेक्षासे उपेक्षा धारण करनेवालोके ऐसे कथनमें सदा ही विरोध बना रहता है। वे 'ही' की जगह 'भी' का भी प्रयोग करदे तो कोई अन्तर नही पड़ता। प्रत्युत उसके जो स्याद्वादन्यायके अनुयायी है—एक अपेक्षासे छोटा और दूसरी अपेक्षासे बड़ा मानते है—वे साथमें यदि 'ही' शब्दका भी प्रयोग करते है तो उससे कोई बाधा नही आती—

विरोधको जरा भी अवकाश नही मिलता, जैसे 'तीन-इंची लाइन पाँच-इंची लाइनकी अपेक्षा छोटी ही है और एक-इची लाइनकी अपेक्षा बड़ी ही है' इस कहनेमे विरोधकी कोई बात नही है। विरोध वही आता है जहाँ छोटापन और बड़ापन जैसे सापेक्ष-धर्मो अथवा गुणोको निरपेक्षरूपसे कथन किया जाता है । मै समझता हूँ अब तुम इस विरोध-अविरोधके तत्त्वको भी अच्छी तरहसे समझ गये होगे ?'

विद्यार्थी—हाँ, आपने खूब समझा दिया है और मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ।

अध्यापक—अच्छा, अब मैं एक बात और पूछता हूँ—कल तुम्हारी कक्षामे जिनदास नामके एक स्याद्वादी—स्याद्वादन्यायके अनुयायी—आए थे और उन्होने मोहन लड़केको देखकर तथा उसके विषयमे कुछ पूछ-ताछ करके कहा था 'यह तो छोटा है'। उन्होंने यह नही कहा कि 'यह छोटा ही है' यह भी नही कहा कि 'वह सर्वथा छोटा है' और न यही कहा कि वह 'अमुककी अपेक्षा अथवा अमुक-विषयमें छोटा है', तो बतलाओ उनके इस कथनमें क्या कोई दोष आता है ? और यदि नही आता तो क्यो नही ?

इस प्रश्नको सुनकर विद्यार्थी कुछ चक्करसेमें पड़ गया और मन-ही-मन उत्तरकी खोज करने लगा। जब उसे कई मिनट हो गये तो अध्यापकजी बोल उठे—

'तुम तो बड़ी सोचमे पड़ गये ! इस प्रश्नपर इतने सोच-विचार-का क्या काम ? यह तो स्पष्ट ही है कि जिनदास स्याद्वादी है, उन्होने स्वतंत्ररूपसे 'ही' तथा 'सर्वथा' शब्दोंका साथमे प्रयोग भी नहीं किया है, और इसलिये उनका कथन प्रकट रूपमें 'स्यात्' शब्दके प्रयोगको साथमे न लेते हुए भी 'स्यात्' शब्दसे अनुशासित है—किसी अपेक्षा-विशेषको लिये हुए है । किसीसे किसी प्रकारका छोटापन उन्हें विवक्षित था, इसीसे यह जानते हुए भी कि मोहन अनेकोसे

अनेक विषयोंमें 'बड़ा' है, उन्होंने अपने विवक्षित अर्थके अनुसार उसे उस समय 'छोटा' कहा है। इस कथनमें दोषकी कोई बात नहीं है। तुम्हारे हृदयमें शायद यह प्रश्न उठ रहा है कि जब मोहनमें छोटापन और बड़ापन दोनों थे तब जिनदासजीने उसे छोटा क्यों कहा, बड़ा क्यों नहीं कह दिया ? इसका उत्तर इतना ही है कि— मोहन उम्रमें, क़दमें, रूपमें, बलमें, विद्यामें, चतुराईमें और आचार-विचारमें बहुतोंसे छोटा है और बहुतोंसे बड़ा है। जिनदासजीको जिसके साथ जिस विषय अथवा जिन विषयोंमें उसकी तुलना करनी थी उस तुलनामें वह छोटा पाया गया, और इसलिये उन्हें उस समय उसको छोटा कहना ही विवक्षित था, वही उन्होंने उसके विषयमें कहा। जो जिस समय विवक्षित होता है वह 'मुख्य' कहलाता है और जो विवक्षित नहीं होता वह 'गौण' कहा जाता है। मुख्य-गौणकी इस व्यवस्थासे ही वचन-व्यवहारकी ठीक व्यवस्था बनती है। अतः जिनदासजीके उक्त कथनमें दोषापत्तिके लिये कोई स्थान नहीं है। अनेकान्तके प्रतिपादक स्याद्वादियोंका 'स्यात्' पदका आश्रय तो उनके कथनमें अतिप्रसंग-जैसा गड़बड़-घुटाला भी नहीं होने देता। बहुतसे छोटेपनों और बहुतसे बड़ेपनोंमें जो जिस समय कहनेवालेको विवक्षित होता है उसीका ग्रहण किया जाता है—शेषका उक्त पदके आश्रयसे परिवर्जन (गौणीकरण) हो जाता है। …

अध्यापक वीरभद्रजीकी व्याख्या अभी चल ही रही थी कि इतनेमें घंटा बज गया और वे दूसरी कक्षामें जानेके लिये उठने लगे। यह देखकर कक्षाके सब विद्यार्थी एकदम खड़े हो गये और अध्यापकजीको अभिवादन करके कहने लगे—'आज तो आपने तत्त्वज्ञानकी बड़ी बड़ी गंभीर तथा सूक्ष्म बातोंको ऐसी सरलता और सुगमरीतिसे बातकी बातमें समझा दिया है कि हम उन्हें जीवनभर भी नहीं भूल सकते। इस उपकारके लिये हम आपके आजन्म ऋणी रहेंगे।

३७

बड़ा दानी कौन ?

एक दिन अध्यापक वीरभद्रने कक्षामें पहुँचकर विद्यार्थियोसे पूछा—'बडे-छोटेका जो तत्त्व तुम्हे कई दिनसे समझाया जा रहा है उसे तुम खूब अच्छी तरह समझ गये हो या कि नही ?' विद्यार्थियोने कहा-'हाँ,हम खूब अच्छी तरह समझ गये है।'

'अच्छा, यदि खूब अच्छी तरह समझ गये हो तो आज मेरे कुछ प्रश्नोका उत्तर दो, और उत्तर देनेमे जो विद्यार्थी सबसे अधिक चतुर हो वह मेरे सामने आ जाय, शेष विद्यार्थी उत्तर देनेमे उसकी मदद कर सकते हैं और चाहे तो पुस्तक खोलकर उसकी भी मदद ले सकते है', अध्यापक महोदयने कहा।

इस पर मोहन नामका एक विद्यार्थी, जो कक्षामे सबसे अधिक होशियार था सामने आगया और तब अध्यापकजीने उससे पूछा—

'बतलाओ, बड़ा दानी कौन है ?'

विद्यार्थी—जो लाखो रुपयोका दान करे वह बड़ा दानी है।

अध्यापक—तुम्हारे इस उत्तरसे तीन बाते फलित होती है—एक तो यह कि दो चार हजार रुपयेका या लाख रुपयेसे कमका दान करनेवाला बड़ा दानी नही, दूसरी यह कि लाखोकी रकमका दान करनेवालोमे जो समान रकमके दानी है वे परस्परमें समान है—उनमें कोई बड़ा-छोटा नही, और तीसरी बात यह कि रुपयोंका

दान करनेवाला ही बड़ा दानी है, दूसरी किसी चीजका दान करनेवाला बड़ा दानी नही।

विद्यार्थी—मेरा यह मतलब नही कि दूसरी किसी चीज़का दान करनेवाला बड़ा दानी नही, यदि उस दूसरी चीज़की—जायदाद मकान वगैरहकी—मालियत उतने रुपयों जितनी है तो उसका दान करनेवाला भी उसी कोटिका बड़ा दानी है।

अध्यापक—जिस चीजका मूल्य रुपयोंमें न आँका जा सके उसके विषयमें तुम क्या कहोगे ?

विद्यार्थी—ऐसी कौन चीज है, जिसका मूल्य रुपयोमें न आँका जा सके ?

अध्यापक—निःस्वार्थ प्रेम, सेवा और अभयदानादि; अथवा क्रोधादि कषायोका त्याग और दयाभाव बहुतसी ऐसी चीजे है जिनका मूल्य रुपयोंमे नही आँका जा सकता। उदाहरणके लिये एक मनुष्य नदीमें डूब रहा है, यह देखकर तट पर खड़ा हुआ एक नौजवान, जिसका पहलेसे उस डूबनेवालेके साथ कोई सम्बन्ध तथा परिचय नही है, उसके दुःखसे व्याकुल हो उठता है, दयाका स्रोत उसके हृदयमे फूट पड़ता है, मानवीय कर्तव्य उसे आ धर दबाता है और वह अपने प्राणोंकी कोई पर्वाह न करता हुआ—जान जोखोंमें डालकर भी—एकदम चढी हुई नदीमें कूद पड़ता है और उस डूबनेवाले मनुष्यका उद्धार करके उसे तट पर ले आता है। उसके इस दयाभाव-परिणत आत्मत्याग और उसकी इस सेवाका कोई मूल्य नही और यह अमूल्यता उस समय और भी बढ जाती है जब यह मालूम होता है कि वह उद्धार पाया हुआ मनुष्य एक राजाका इकलौता पुत्र है और उद्धार करनेवाले साधारण गरीब आदमीने बदलेमें कृतज्ञता-रूपसे पेश किये गये भारी पुरस्कारको भी लेनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त की है। ऐसा दयादानी आत्मत्यागी मनुष्य लाखों रुपयोंका दान करनेवाले दानियोंसे कम बड़ा

नही है, वह उससे भी बड़ा है जो पुरस्कारमे आधे राज्यकी घोषणा-को पाकर अपनी जान पर खेला हो और ऐसे ही किसी डूबते हुए राजकुमारका उद्धार करनेमे समर्थ होकर जिसने आधा राज्य प्राप्त किया हो। इसी तरह सैनिको-द्वारा जब लूट-खसोटके साथ कत्ले-आम हो रहा हो तब एक राजाकी अभयघोषणाका उस समय रुपयों-मे कोई मूल्य नही आँका जा सकता—वह लाखो-करोड़ों और अर्बो-खर्बो रुपयोंके दानसे भी अधिक होती है, और इसलिये एक भी रुपया दान न करके ऐसी अभय-घोषणा-द्वारा सर्वत्र अमन और शान्ति स्थापित करनेवालेको छोटा दानी नही कह सकते। ऐसी ही स्थिति निःस्वार्थ-भावसे देश तथा समाज-सेवाके कार्योंमे दिन-रात रत रहनेवाले और उसीमे अपना सर्वस्व होम देनेवाले छोटी पूँजीके व्यक्तियोंकी है। उन्हे भी छोटा दानी नही कहा जा सकता।

अभी अध्यापक वीरभद्रजीकी व्याख्या चल रही थी और वे यह स्पष्ट करके बतला देना चाहते थे कि 'क्रोधादि कषायोके सम्यक् त्यागी एक पैसेका भी दान न करते हुए कितने अधिक बड़े दानी होते है' कि इतनेमे उन्हे विद्यार्थीके चेहरे पर यह दीख पड़ा कि 'उसे बडे दानीकी अपनी सदोष परिभाषा पर और अपने इस कथन पर कि उसने बड़े-छोटेके तत्त्वको खूब अच्छी तरहसे समझ लिया है कुछ संकोच तथा खेद होरहा है,' और इसलिये उन्होने अपनी व्याख्याका रुख बदलते हुए कहा—

'अच्छा, अभी इस गंभीर और जटिल विषयको हम यही रहने देते है—फिर किसी अवकाशके समय इसकी स्वतन्त्र-रूपसे व्याख्या करेंगे—और इस समय तुम्हारी समान-मालियतके दान-द्रव्यकी बातको ही लेते हैं। एक दानी सेनाके लिये दो लाख रुपयेका मांस दान करता है, दूसरा आक्रमणके लिये उद्यत सेनाके वास्ते दो लाख रुपयेके नये हथियार दान करता है, तीसरा अपने ही आक्रमणमे घायल हुए सैनिकोंकी मर्हमपट्टीके लिये दो लाख रुपयेकी दवा-दारू-

का सामान दान करता है और चौथा बगालके अकालपीड़ितों एवं अन्नाभावके कारण भूखसे तड़प-तड़पकर मरनेवाले निरपराध प्राणियोंकी प्राणरक्षाके लिये दो लाख रुपयेका अन्नदान करता है। बतलाओ इन चारोमें बड़ा दानी कौन है? अथवा सबके दान-द्रव्यकी मालियत दो लाख रुपये समान होनेसे सब बराबरके दानी है—उनमें कोई विशेष नही, बड़े-छोटेका कोई भेद नही है ?'

यह सुनकर विद्यार्थी कुछ भौचकसा रह गया और उसे शीघ्र ही यह समझ नही पड़ा कि क्या उत्तर दूँ, और इसलिये वह उत्तरकी खोजमें मन-ही-मन कुछ सोचने लगा—दूसरे विद्यार्थी भी सहसा उसकी कोई मदद न कर सके—कि इतनेमें अध्यापकजी बोल उठे—

'तुम तो बड़ी सोचमें पड़ गये हो! क्या तुम्हे दानका स्वरूप और जिन कारणोंसे दानमें विशेषता आती है—अधिकाधिक फलकी निष्पत्ति होती है—उनका स्मरण नही है? और क्या तुम नही जानते कि जिस दानका फल बड़ा होता है वह दान बड़ा है और जो बड़े दानका दाता है वह बड़ा दानी है? तुमने तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्याय और उसकी टीकामें पढ़ा है:—स्व-परके अनुग्रह-उपकारके लिये जो अपनी धनादिक किसी वस्तुका त्याग किया जाता है उसे 'दान' कहते है और दानमे विधि, द्रव्य, दाता और पात्रके विशेषसे विशेषता आती है—दानके तरीके, दानमें दी जानेवाली वस्तु, दाताके परिणाम और पानेवालेमें गुण-संयोगके भेदसे दानके फलमें कमी-वेशी होती है[1]; तब इस तात्विक दृष्टिको लेकर तुम क्यों नही बतलाते कि इन चारोमें दान-द्रव्यकी समानता होते हुए भी कौन बड़ा है?'

अध्यापकजीके इन प्रेरणात्मक शब्दोको सुनकर विद्यार्थीको

---

१. अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥
विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेष. ॥३९॥ (त० सू०)

होश आगया, उसकी स्मृति काम करने लगी और इसलिये वह एक दम बोल पडा—

'इन चारोमे बड़ा दानी वह है जिसने बेबसीकी हालतमे पड़े हुए बंगालके अकालपीडितोको दो लाख रुपयेका अन्नदान किया है।'

अध्यापक—वह बड़ा दानी कैसे है? जरा समझाकर बतलाओ। और खासकर इस बातको स्पष्ट करके दिखलाओ कि वह घायल सैनिकोके लिये मर्हमपट्टीका सामान दान करनेवाले दानीसे भी बड़ा दानी क्योंकर है?

विद्यार्थी—मासकी उत्पत्ति प्राय: जीवघातसे होती है। जो मासका दान करता है वह दूसरे निरपराध जीवोके घातमें सहायक होता है और इसलिये मानवतासे गिरकर हिंसात्मक अपराधका भागी बनता है, जिससे उसका अपना उपकार न होकर अपकार होता है। और जिन्हे मासभोजन कराया जाता है वे भी उस जीवघातके अनुमोदक तथा प्रकारान्तरसे सहायक होकर अपराधके भागी बनते है। साथ ही, मास-भोजनसे उनके हृदयमें निर्दयता-कठोरता-स्वार्थपरतादि-मूलक तामसी भाव उत्पन्न होता है, जो आत्मविकासमे बाधक होकर उन्हे पतनकी ओर ले जाता है, और इसलिये मांस-दानसे मांसभोजीका भी वास्तविक उपकार नही होता—खासकर ऐसी हालतमें जब कि अन्नादिक दूसरे निर्दोष एवं सात्विक भोजनोंसे पेट भले प्रकार भरा जा सकता है और उससे शारीरिक बल एवं बौद्धिक शक्तिमें भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अत: ऐसे दानका पारमार्थिक अथवा आत्मोपकार-साधनकी दृष्टिसे कोई अच्छा फल नही कहा जा सकता—भले ही उसके करनेवालेको लोकमे स्वार्थी राजा-द्वारा किसी ऊपरी पद या मन्सब-की प्राप्ति हो जाय। जब पारमार्थिक अथवा आत्मोपकारकी दृष्टिसे ऐसे दानका कोई बड़ा फल नही होता तो ऐसा दान देनेवाला बड़ा दानी भी नही कहा जा सकता।

हथियार हिंसाके उपकरण होनेसे उनका दान करनेवाला हिंसामें—परपीड़ामें—सहायक तथा उसका अनुमोदक होता है और जिसे दान दिया जाता है उसे उनके कारण हिंसामें प्रोत्साहन मिलता है और वे प्रायः दूसरोंके घातमें ही काम आते हैं। इस तरह दाता और पात्र दोनोंके ही लिये वे आत्महितका कोई साधन न होकर आत्महनन एवं पतनके ही कारण बनते हैं, और इसलिये हथियारोंका दान पारमार्थिक दृष्टिसे कोई महान् दान नहीं होता—आक्रमणात्मक-युद्धके सैनिकोंके लिये तो वह और भी सदोष ठहरता है; तब उसका दानी बड़ा दानी कैसे हो सकता है ?

घायल सैनिकोंकी मर्हम-पट्टीके लिये स्वेच्छासे दवादारूका दान देनेवाला पिछले दो दानियों—मासदानी और हथियारदानीसे बड़ा जरूर है, परन्तु वह बंगालके घोर अकालसे पीडित प्राणियोंकी रक्षार्थ अन्नका दान करनेवालेसे बड़ा नहीं है। क्योंकि अन्यके राष्ट्र पर आक्रमण करनेके लिये उद्यत सैनिक दूसरोंको घायल करने और स्वयं घायल होनेकी जिम्मेदारीको खुद अपने सिर पर उठाते है, अपराध करते हुए घायल होते हैं और अच्छे होने पर आगे भी अपराध करनेकी—अनेक निरपराध प्राणियों तकका घात करनेकी इच्छा रखते हैं, इसलिये वे उतने दयाके पात्र नहीं जितने कि बंगालके उक्त अकाल-पीडित दयाके पात्र है, जिनका अकालके बुलानेमें कोई हाथ नहीं, कोई अपराध नहीं और जिन पर अकाल लादा गया है अथवा किसी जिम्मेदार बड़े अधिकारीकी भारी लापर्वाही और गफलतसे लद गया है। ऐसी स्थितिमें मुझे तो बंगालके अकाल-पीडितोंको दो लाख रुपयेका अन्न दान करनेवाला ही चारोंमें बड़ा दानी मालूम होता है।

अध्यापक—जिस दृष्टिको लेकर तुमने उक्त अन्नदानीको बड़ा दानी बतलाया है वह एक प्रकारसे ठीक है, परन्तु इस विषयमें कई विकल्प उत्पन्न होते अथवा सवाल पैदा होते हैं, उनमेंसे यहाँ पर

दो विकल्पोको ही रक्खा जाता है, जिनमेसे पहला विकल्प अथवा सवाल इस प्रकार है—

'मानलो, बगालके अकाल-पीडितोके लिये दो-दो लाख रुपयेका अन्न दान करनेवाले चार सेठ है, जिनमेसे (१) एकने स्वेच्छासे दान नही दिया, वह दान देना ही नही चाहता था, उस पर किसी उच्च अधिकारीने भारी दबाव डाला और यह धमकी दी कि 'यदि तुम दो लाख रुपयेका अन्न दानमे नही दोगे तो तुम्हारा अन्नका सब स्टाक जब्त कर लिया जायगा, तुम्हारे ऊपर इनकमटैक्स दुगुना-चौगुना कर दिया जायगा और भी अनेक कर बढ़ा दिये जावेगे अथवा डिफेस आफ इडिया ऐक्टके अधीन तुम्हारा चालान करके तुम्हे जेलमे डाल दिया जायगा, तुम्हारी जायदाद जब्त करली जायगी और तुम जेलमे पड़े पड़े सड़ जाओगे।' और इसलिये उसने धमकीके भयसे तथा दबावसे मजबूर होकर वह दान दिया है। (२) दूसरेनें इस इच्छा तथा आशाको लेकर दान दिया है कि उसके दानसे गवर्नर साहब या कोई दूसरे उच्चाधिकारी प्रसन्न होगे और उस प्रसन्नताके उपलक्षमें उसे ऑनरेरी मजिस्ट्रेट या रायबहादुर-जैसा कोई पद प्रदान करेगे अथवा उसके बढते हुए करोमे कमी होगी और अमुक केसमे उसके अनुकूल फैसला हो सकेगा। (३) तीसरेने कुछ ईर्षा-भाव तथा व्यापारिक दृष्टिको लक्ष्यमे रखकर दान दिया है। उसके पड़ौसी अथवा प्रतिद्वंद्वीने ५० हजारका अन्न दान किया था, उसे नीचा दिखाने, उसकी प्रतिष्ठा कम करने और अपनी धाक तथा साख जमाकर कुछ व्यापारिक लाभ उठानेकी तरफ उसका प्रधान लक्ष्य रहा है। (४) चौथेका हृदय सचमुच अकाल-पीडितोके दुःखसे द्रवीभूत हुआ है और उसने मानवीय कर्तव्य समझ कर स्वेच्छासे बिना किसी लौकिक लाभको लक्ष्यमे रक्खे वह दान दिया है। बतलाओ इन चारोंमे बडा दानी कौनसा सेठ है? और जिस अन्नदानीको तुमने अभी बड़ा दानी बतलाया है वह यदि इनमेसे पहले नम्बर-

का सेठ हो तब भी क्या वह उस दानीसे बड़ा दानी है जिसने स्वेच्छासे बिना किसी दबावके घायल सैनिकोंकी बुरी हालतको देखकर उन पर रहम खाते हुए और उनके अपराधादिकी बातको भी ध्यानमें न लाते हुए उनकी मर्हमपट्टीके लिये दो लाख रुपयेका दान दिया है ?'

विद्यार्थी--इन चारोंमें बड़ा दानी चौथे नम्बरका सेठ है, जो दानकी ठीक स्पिरिटको लिये हुए है। बाक़ी तो दानके व्यापारी है। पहले नम्बरके सेठको तो वास्तवमे दानी ही न कहना चाहिये, उससे तो दो लाख रुपयेका अन्न एक प्रकारसे छीना गया है, वह तो दान-फलका अधिकारी भी नही है, और इसलिये घायल सैनिकों-की मर्हमपट्टीके लिये स्वेच्छासे दयाभावपूर्वक दो लाखका दान करने-वालेसे वह बड़ा दानी कैसे हो सकता है ? नही हो सकता।

अध्यापक—मालूम होता है अब तुम विषयको ठीक समझ रहे हो। अच्छा, दूसरे विकल्पके रूपमे, अब इतना और जानलो कि—'चौथे नम्बरका सेठ करोड़ोकी सम्पत्तिका धनी है, उसके यहाँ प्रति-दिन लाखों रुपयोका व्यापार होता है और हर साल सब खर्च देकर उसे दस लाख रुपयेके करीबकी बचत रहती है। उसने दो लाख रुपयेके दानसे अपना एक भोजनालय खुलवा दिया है, भोजन वितरण करनेके लिये कुछ नौकर छोड़ दिये है और यह आर्डर जारी कर दिया है कि जो कोई भी भोजनके लिये आवे उसे भोजन दिया जावे, नतीजा यह हुआ कि उसके भोजनालय पर अधिकतर ऐसे संडे-मुसंडे और गुंडे लोगोंकी भीड़ लगी रहती है जो स्वयं मजदूरी करके अपना पेट भर सकते है—दयाके अथवा मुफ्त भोजन पानेके पात्र नही, जो धक्कामुक्की करके अधिकाश गरीब भुखमरोंको भोजनशालाके द्वार तक भी पहुँचने नहीं देते और स्वयं खा-पीकर चले जाते है तथा कुछ भोजन साथ भी ले जाते हैं। और इस तरह जिन गरीबोके वास्ते भोजनशाला खोली गई है उन्हे बहुत ही कम

भोजन मिल पाता है। प्रत्युत इसके, घनीराम नामके एक पाचवें सेठ है, जो ३-४ लाख रुपयेकी सम्पत्तिके ही मालिक हैं। उनका भी हृदय बगालके अकाल-पीडितोंको देखकर वास्तवमे द्रवीभूत हुआ है, उन्होने भी मानवीय कर्तव्य समझकर स्वेच्छासे बिना किसी लौकिक लाभको लक्ष्यमे रक्खे दो लाखका दान दिया है और उससे अपनी एक भोजनशाला खुलवाई है। साथ ही, भोजनशालाकी ऐसी विधि-व्यवस्था की है, जिससे वे भोजन-पात्र गरीब भुखमरे ही भोजन पा सके; जिनको लक्ष्य करके भोजनशाला खोली गई है। उसने भोजनशालाका प्रबन्ध अपने दो योग्य पुत्रोके सुपर्द कर दिया है, जिनकी सुव्यवस्थासे कोई सडा-मुसडा अथवा अपात्र व्यक्ति भोजन-शालाके अहातेके अन्दर घुसने भी नही पाता, जिसके जो योग्य है वही सात्विक भोजन उसे दिया जाता है और उन दीन-अनाथो तथा विधवा-अपाहिजोको उनके घर पर भी भोजन पहुँचाया जाता है जो लज्जाके मारे भोजनशालाके द्वार तक नही आ सकते और इसलिये जिन्हे भोजनके अभावमे घर पर ही पड़े पडे मर जाना मजूर है। अब बतलाओ इन दोनों सेठोमे कौन बड़ा दानी है ?– वही चौथे नम्बरवाला सेठ क्या बड़ा दानी है जिसे तुमने अभी बहुतोंकी तुलनामे बडा बतलाया है ? अथवा पाचवे नम्बरका यह सेठ घनीराम बड़ा दानी है ? कारण-सहित प्रकट करो।

विद्यार्थी उत्तरके लिए कुछ सोचने ही लगा था कि इतनेमें अध्यापकजी बोल पड़े—'इसमे तो सोचनेकी जरा भी बात नहीं है। यह स्पष्ट है कि चौथे नम्बरवाले सेठकी पोजीशन बड़ी है, उसकी माली हालत सेठ घनीरामसे बहुत बढ़ी चढी है, फिर भी घनीरामने उसके बराबर ही दो लाखका दान दिया है, दीन-दुखियोकी पुकारके मुकाबलेमें अधिक धन संचित कर रखना उसे अनुचित जँचा है और उसने थोड़ी सम्पत्तिमें ही सन्तोष धारण करके उसीसे अपना निर्वाह कर लेना इस विषम-परिस्थितिमे उचित समझा है। अतः

उसका दानद्रव्य समान होने पर भी उसका मूल्य अधिक है और उसके दानकी विधि-व्यवस्थाने तथा पात्रोंके ठीक चुनावने उसका मूल्य और भी अधिक बढा दिया है। वह ऐसी स्थितमें यदि एक लाख नही किन्तु अर्धलाख भी दान करता तो भी उसका मूल्य उस चौथे नम्बरवाले सेठके दानसे बढा रहता; क्योंकि दानका मूल्य दानकी रकम अथवा दान-द्रव्यकी मालियत पर ही अवलम्बित नही रहता, उसके लिये दान-द्रव्यकी उपयोगिता, दाताके भाव तथा उसकी तत्कालीन स्थिति, दानकी विधि-व्यवस्था और जिसे दान दिया जाता है उसमें पात्रत्वादि गुणोंके संयोगकी भी आवश्यकता होती है। बिना इनके यों ही अधिक द्रव्य लुटा देनेसे बड़ा दान नही बनता। सेठ धनीरामके दानमें बड़ेपनकी इन सब बातोंका संयोग पाया जाता है, और इसलिये उसके दानका मूल्य करोड़पति सेठ नं० ४ के दानसे भी अधिक होनेके कारण वह उक्त सेठ साहबकी अपेक्षा भी बड़ा दानी है।'

मैं समझता हूँ अब तुम इस बातको भले प्रकार समझ गये होगे कि समान-रकम अथवा समान-मालियतके द्रव्यका दान करनेवाले सभी दानी समान नही होते—उनमें भी अनेक कारणोंसे छोटा-बड़ापन होता है, जैसा कि दो लाखके अनेक दानियोंके उदाहरणोको सामने रखकर स्पष्ट किया जा चुका है। अतः समान-मालियतके द्रव्यका दान करनेवालोंको सर्वथा समान दानी समझना 'एकान्त' और उन्हें विभिन्न दृष्टियोंसे छोटा-बड़ा दानी समझना 'अनेकान्त' है। साथ ही, यह भी समझ गये होगे कि जिस चीजका मूल्य रुपयोंमें नही आँका जा सकता उसका दान करनेवाले कभी-कभी बड़ी-बड़ी रकमोंके दानियोंसे भी बड़े दानी होते हैं। और इसलिये बड़े दानीकी जो परिभाषा तुमने बाँधी है, और जिसका एक अंश (परिभाषासे फलित होनेवाली तीन बातोंमेंसे पहली बात) अभी और विचारणीय है, वह ठीक नही है।

इस पर विद्यार्थी (जिसे पहले ही अपनी सदोष परिभाषा पर खेद हो रहा था) नतमस्तक होकर बोला—'आपने जो कुछ कहा है वह सब ठीक है। आपके इस विवेचन, विकल्पोद्भावन और स्पष्टीकरणसे हम लोगोका बहुतसा अज्ञान दूर हुआ है। हमने जो छोटे-बड़ेके तत्त्वको खूब अच्छी तरह समझ लेनेकी बात कही थी वह हमारी भूल थी। जान पड़ता है अभी इस विषयमें हमे बहुत कुछ सीखना-समझना बाकी है। लाइनोके द्वारा आपने जो कुछ समझाया था वह इस विषयका 'सूत्र' था, अब आप उस सूत्रका व्यवहारशास्त्र हमारे सामने रख रहे है। इससे सूत्रके समझनेमे जो त्रुटि रही हुई है वह दूर होगी, कितनी ही उलझने सुलझेंगी और चिरकालकी भूले मिटेगी। इस कृपा एवं ज्ञान-दानके लिये हम सब आपके बहुत ही ऋणी और कृतज्ञ हैं।'

मोहनके इस कथनका दूसरे विद्यार्थियोने भी खड़े होकर समर्थन किया।

घटेको बजे कई मिनट हो गये थे, दूसरे अध्यापकमहोदय भी कक्षामे आ गये थे, इससे अध्यापक वीरभद्रजी शीघ्र ही दूसरी कक्षा-में जानेके लिये बाध्य हुए।

३८

बड़ा और छोटा दानी

उसी दिन अध्यापक वीरभद्रने दूसरी कक्षामें जाकर उस कक्षाके विद्यार्थियोंकी भी इस विषयमें जाँच करनी चाही कि वे बड़े और छोटेके तत्त्वको, जो कई दिनसे उन्हें समझाया जा रहा है, ठीक समझ गये है या कि नही अथवा कहाँ तक उसे हृदयंगम कर सके हैं, और इसलिये उन्होने कक्षाके एक सबसे अधिक चतुर विद्यार्थीको पासमें बुलाकर पूछा—

एक मनुष्यने पाँच लाखका दान किया है और दूसरेने दस हजारका; बतलाओ, इन दोनोमे बड़ा दानी कौन है ?

विद्यार्थीने झटसे उत्तर दिया—'जिसने पाँच लाखका दान किया है वह बड़ा दानी है।' इस पर अध्यापकमहोदयने एक गंभीर प्रश्न किया—

'क्या तुम पाँच लाखके दानीको छोटा दानी और दस हजारके दानीको बड़ा दानी कर सकते हो ?'

विद्यार्थी—हाँ, कर सकता हूँ।

अध्यापक—कैसे ? करके बतलाओ।

विद्यार्थी—मुझे सुखानन्द नामके एक सेठका हाल मालूम है जिसने अभी दस लाखका दान दिया है, उससे आपका यह पाँच लाखका दानी छोटा दानी है। और एक ऐसे दातारको भी मै

जानता हूँ जिसने पाँच हज़ारका ही दान दिया है, उससे आपका यह दस हजारका दानी बड़ा दानी है। इस तरह दस हज़ारका दानी एककी अपेक्षासे बड़ा दानी और दूसरेकी अपेक्षासे छोटा दानी है, तदनुसार पाँच लाखका दानी भी एककी अपेक्षासे बड़ा और दूसरेकी अपेक्षासे छोटा दानी है।

अध्यापक—हमारा मतलब यह नही जैसा कि तुम समझ गये हो, दूसरोकी अपेक्षाका यहाँ कोई प्रयोजन नही। हमारा पूछनेका अभिप्राय सिर्फ इतना ही है कि क्या किसी तरह इन दोनो दानियोंमेसे पाँच लाखका दानी दस हजारके दानीसे छोटा और दस हज़ारका दानी पाँच लाखके दानीसे बड़ा दानी हो सकता है? और तुम उसे स्पष्ट करके बतला सकते हो?

विद्यार्थी—यह कैसे हो सकता है? यह तो उसी तरह असंभव है जिस तरह पत्थरकी शिला अथवा लोहेका पानी पर तैरना।

अध्यापक—पत्थरकी शिलाको लकड़ीके स्लीपर या मोटे तख्ते पर फिट करके अगाध जलमे तिराया जा सकता है और लोहेकी लुटिया, नौका अथवा कनस्टर बनाकर उसे भी तिराया जा सकता है। जब युक्तिसे पत्थर और लोहा भी पानी पर तैर सकते हैं और इसलिये उनका पानी पर तैरना सर्वथा असंभव नहीं कहा जासकता, तब क्या तुम युक्तिसे दस हजारके दानीको पाँच लाखके दानीसे बड़ा सिद्ध नही कर सकते।

यह सुनकर विद्यार्थी कुछ गहरी सोचमे पड़ गया और उससे शीघ्र कुछ उत्तर न बन सका। इस पर अध्यापकमहोदयने दूसरे विद्यार्थियोसे पूछा—'क्या तुममेसे कोई ऐसा कर सकता है?' वे भी सोचते-से रह गये। और उनसे भी शीघ्र कुछ उत्तर न बन पडा। तब अध्यापकजी कुछ कड़ककर बोले—

'क्या तुम्हें तत्त्वार्थसूत्रके दान-प्रकरणका स्मरण नही है? क्या तुम्हे नही मालूम कि दानका क्या लक्षण है और उस लक्षणसे गिर-

कर दान दान नही रहता ? क्या तुम्हें उन विशेषताओंका ध्यान नहीं है जिनसे दानके फलमें विशेषता--कमी-बेशी--आती है और जिनके कारण दानका मूल्य कमो-बेश हो जाता अथवा छोटा-बड़ा बन जाता है ? और क्या तुम नही समझते हो कि जिस दानका मूल्य बड़ा--फल बड़ा--वह दान बड़ा है, उसका दानी बड़ा दानी है, और जिस दानका मूल्य कम--फल कम वह दान छोटा है, उसका दानी छोटा दानी है--दानद्रव्यकी संख्या पर ही दानका छोटा-बड़ापन निर्भर नहीं है ?'

इन शब्दोंके आघातसे विद्यार्थी-हृदयके कुछ कपाट खुल गये, उसकी स्मृति काम करने लगी और वह ज़रा चमककर कहने लगा--

'हाँ, तत्त्वार्थसूत्रके सातवे अध्यायमें दानका लक्षण दिया है और उन विशेषताओंका भी उल्लेख किया है जिनके कारण दानके फलमे विशेषता आती है और उस विशेषताकी दृष्टिसे दानमें भेद उत्पन्न होता है अर्थात् किसी दानको उत्तम-मध्यम-जघन्य अथवा बड़ा-छोटा आदि कहा जा सकता है। उसमें बतलाया है कि 'अनुग्रहके लिये--स्व-पर-उपकारके वास्ते--जो अपने धनादिकका त्याग किया जाता है उसे 'दान' कहते है और उस दानमें विधि, द्रव्य, दाता तथा पात्रके विशेषसे विशेषता आती है--दानके ढंग, दानमें दिये जानेवाले पदार्थ, दाताकी तत्कालीन स्थिति और उसके परिणाम तथा पानेवालेमें गुणसंयोगके भेदसे दानके फलमें कमी-बेशी होती है । ऐसी स्थितिमें यह ठीक है कि दानका छोटा-बड़ापन केवल दानद्रव्यकी संख्या पर निर्भर नहीं होता, उसके लिये दूसरी कितनी ही बातोंको देखनेकी ज़रूरत होती है, जिन्हें ध्यानमें रखते हुए द्रव्यकी अधिक-संख्यावाले दानको छोटा और अल्प-संख्यावाले दानको खुशीसे बड़ा कहा जा सकता है । अतः अब आप कृपाकर अपने दोनों दानियोंका कुछ विशेष परिचय दीजिये, जिससे उनके छोटे-बड़ेपनके विषयमें कोई बात ठीक कही जा सके ।

अध्यापक—हमे पाँच-पाँच लाखके दानी चार सेठोका हाल मालूम है जिनमेसे (१) एक सेठ डालचन्द हैं, जिनके यहाँ लाखोंका व्यापार होता है और प्रतिदिन हजारो रुपये धर्मादाके जमा होते है, उसी धर्मादाकी रकममेसे उन्होने पॉच लाख रुपये एक सामाजिक विद्या-संस्थाको दान दिये हैं और उनके इस दानमें यह प्रधान-दृष्टि रही है कि वे उस समाजके प्रेमपात्र तथा विश्वासपात्र बने और लोकमे प्रतिष्ठा तथा उदारताकी धाक जमाकर अपने व्यापारको उन्नत करे। (२) दूसरे सेठ ताराचन्द है, जिन्होने ब्लैक-मार्केट-द्वारा वहुत धन सचय किया है और जो सरकारके कोप-भाजन वने हुए थे--सरकार उन पर मुकदमा चलाना चाहती थी । उन्होने एक उच्चाधिकारीके परामर्शसे पाँच लाख रुपये 'गाँधी-मेमोरियल-फंड' को दान दिये हैं और इससे उनकी सारी आपत्ति टल गई है। (३) तीसरे सेठ रामानन्द हैं, जो एक वडी मिलके मालिक है जिसमें 'वनस्पति-घी' भी प्रचुर परिमाणमें तय्यार होता है । उन्होने एक उच्चाधिकारीको गुप्तदानके रूपमे पॉच लाख रुपये इसलिये भेट किये है कि वनस्पति-घीका चलन वन्द न किया जाय और न उसमें किसी रंगके मिलानेका आयोजन ही किया जाय । (४) चौथे सेठ विनोदीराम हैं, जिन्हे 'रायवहादुर' तथा 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' वननेकी प्रबल इच्छा थी। उन्होने जिलाधीशसे (कलक्टरसे) मिलकर उन जिलाधीशके नाम पर एक अस्पताल (चिकित्सालय) खोलनेके लिये पॉच लाखका दान किया है और वे जिलाधीशकी सिफारिश पर रायवहादुर तथा आनरेरी मजिस्ट्रेट बना दिये गये है।

इसी तरह हमें चार ऐसे दानी सज्जनोंका भी हाल मालूम है जिन्होने दस-दस हजारका ही दान किया है । उनमेसे (१) एक तो हैं सेठ दयाचन्द, जिन्होने नगरमे योग्य चिकित्सा तथा दवाईका कोई समुचित प्रवन्ध न देखकर और साधारण ग़रीब जनताको उनके अभावमे दुःखित एवं पीडित पाकर अपनी निजकी कमाईमेंसे दस

हजार रुपये दानमें निकाले हैं और उस दानकी रकमसे एक धर्मार्थ-शुद्ध-औषधालय स्थापित किया है, जिसमें गरीब रोगियोकी सेवा-सुश्रूषा पर विशेष ध्यान दिया जाता हे और उन्हें दवाई मुफ्त दी जाती है। सेठ साहब औषधालयकी सुव्यवस्था पर पूरा ध्यान रखते है और अक्सर स्वयं भी सेवाके लिये औषधालयमे पहुँच जाया करते है। (२) दूसरे सेठ ज्ञानानन्द है, जिन्हें सम्यग्ज्ञान-वर्धक साधनोके प्रचार और प्रसारमे बड़ा आनन्द आया करता है। उन्होने अपनी गाढी कमाईमेसे दस हजार रुपये प्राचीन जैनसिद्धान्त-ग्रन्थोके उद्धारार्थ प्रदान किये है और उस द्रव्यकी ऐसी सुव्यवस्था की है जिससे उत्तम सिद्धान्त-ग्रन्थ बराबर प्रकाशित होकर लोकका हित कर रहे है। (३) तीसरे सज्जन लाला विवेकचन्द है, जिन्हें अपने समाजके बेरोजगार (आजीविका-रहित) व्यक्तियोंको कष्टमें देखकर बड़ा कष्ट होता था और इसलिये उन्होंने उनके दुःख-मोचनार्थ अपनी शुद्ध कमाईमेंसे दस हजार रुपये दान किये है। इस द्रव्यसे बेरोजगारोंको उनके योग्य रोजगारमें लगाया जाता है—दुकाने खुलवाई जाती है, शिल्पके साधन जुटाये जाते है, नौकरियाँ दिलवाई जाती है और जब तक आजीविकाका कोई समुचित प्रबन्ध नही बैठता तब तक उनके भोजनादिकमें कुछ सहायता भी पहुँचाई जाती है। इससे कितने ही कुटुम्बोंकी आकुलता मिटकर उन्हे अभयदान मिल रहा है। (४) चौथे सज्जन गवर्नमेंटके पेशनर बाबू सेवाराम है, जिन्होंने गवर्नमेंटके साथ अपनी पेशनका दस हजार नकदमें समझौता कर लिया है और उस सारी रकमको उन समाजसेवकोंकी भोजन-व्यवस्थाके लिये दान कर दिया है जो निःस्वार्थभावसे समाज-सेवाके लिये अपनेको अर्पित कर देना चाहते है परन्तु इतने साधन-सम्पन्न नही है कि उस दशामे भोजनादिकका खर्च स्वयं उठा सके। इससे समाजमें निःस्वार्थ सेवकोकी वृद्धि होगी और उससे कितना ही सेवा एवं लोकहितका कार्य सहज सम्पन्न हो सकेगा। बाबू सेवारामजीने

स्वयं अपनेको भी समाजसेवाके लिये अर्पित कर दिया है और अपने दानद्रव्यके सदुपयोगकी व्यवस्थामें लगे हुए है।

अब बतलाओ दस-दस हज़ारके इन चारों दानियोंमेसे क्या कोई दानी ऐसा है जिसे तुम पाँच-पाँच लाखके उक्त चारो दानियोंमेंसे किसीसे भी बड़ा कह सको ? यदि है तो कौन-सा है और वह किससे बड़ा है ?

विद्यार्थी—मुझे तो ये दस-दस हजारके चारों ही दानी उन पाँच-पाँच लाखके प्रत्येक दानीसे बडे दानी मालूम होते हैं।

अध्यापक—कैसे ? जरा समझाकर बतलाओ ?

विद्यार्थी—पाँच लाखके प्रथम दानी सेठ डालचन्दने जो द्रव्य दान किया है वह उनका अपना द्रव्य नही है, वह वह द्रव्य है जो ग्राहकोंसे मुनाफेके अतिरिक्त धर्मादाके रूपमे लिया गया है, न कि वह द्रव्य जो अपने मुनाफेमेसे दानके लिये निकाला गया हो। और इसलिये उसमें सैकड़ो व्यक्तियोंका दानद्रव्य शामिल है। अत. दानके लक्षणानुसार सेठ डालचन्द उस द्रव्यके दानी नही कहें जा सकते—दानद्रव्यके व्यवस्थापक हो सकते हैं। व्यवस्थामे भी उनकी दृष्टि अपने व्यापारकी रही है और इसलिये उनके उस दानका कोई विशेष मूल्य नही है—वह दानके ठीक फलोंको नही फल सकता। पाँच लाखके दानी शेष तीन सेठ तो दानके व्यापारी मात्र हैं—दानकी कोई स्पिरिट, भावना और आत्मोपकार तथा परोपकारको लिये हुए अनुग्रहदृष्टि उनमे नही पाई जाती और इसलिये उनके दानको वास्तवमे दान कहना ही न चाहिये। सेठ ताराचन्दने तो ब्लैक-मार्केट-द्वारा बहुतोको सताकर कमाये हुए उस अन्याय-द्रव्यका दान करके उसका बदला भी अपने ऊपर चलनेवाले एक मुकदमेको टलानेके रूपमें चुका लिया है और सेठ विनोदीरामने बदलेमे 'रायबहादुर' तथा 'ऑनरेरी मजिस्ट्रेट' के पद प्राप्त कर लिये है अतः पारमार्थिक-दृष्टिसे उनके उस दानका कोई मूल्य नही है। प्रत्युत इसके,

दस-दस हज़ारके उन चारों दानियोंके दान दानकी ठीक स्पिरिट, भावना तथा स्व-परकी अनुग्रहबुद्धि आदिको लिये हुए है और इसलिये दानके ठीक फलको फलनेवाले सम्यक्‌दान कहे जानेके योग्य हैं। इसीसे मैं उनके दानी सेठ दयाचन्द, सेठ ज्ञानानन्द, ला० विवेकचन्द और बाबू सेवारामजीको पाँच-पाँच लाखके दानी उन चारो सेठों डालचन्द, ताराचन्द, रामानन्द, और विनोदीरामसे बड़े दानी समझता हूँ। इनके दानका फल हर हालतमें उन तथाकथित बड़े दानियोंके दान-फलसे बड़ा है और इसलिये उन दस-दस हज़ारके दानियोंमेंसे प्रत्येक दानी उन पाँच-पाँच लाखके दानियोसे बड़ा है।

यह सुनकर अध्यापक वीरभद्रजी अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए बोले—'परन्तु सेठ रामानन्दजीने तो दान देकर अपना नाम भी नहीं चाहा, उन्होंने गुप्तदान दिया है और गुप्तदानका महत्व अधिक कहा जाता है, तुमने उन्हें छोटा दानी कैसे कह दिया ? ज़रा उनके विषयको भी कुछ स्पष्ट करके बतलाओ।

विद्यार्थी—सेठ रामानन्दका दान तो वास्तवमें कोई दान ही नही है—उस पर दानका कोई लक्षण घटित नही होता और इसलिये वह दानकी कोटिमें ही नहीं आता—गुप्तदान कैसा ? वह तो स्पष्ट रिश्वत अथवा घूस है, जो एक उच्चाधिकारीको लोभमें डालकर उसके अधिकारोंका दुरुपयोग कराने और अपना बहुत बड़ा लौकिक स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दी गई है और उस स्वार्थसिद्धिकी उत्कट भावनामें इस बातको बिल्कुल ही भुला दिया गया है कि वनस्पतिघीके प्रचारसे लोकमें कितनी हानि हो रही है—जनताका स्वास्थ्य कितना गिर गया तथा गिरता जाता है और वह नित्य नई कितनी व कितने प्रकारकी बीमारियोंकी शिकार होती जाती है, जिन सबके कारण उसका जीवन भाररूप हो रहा है। उस सेठने सबके दुख-कष्टोंकी ओरसे अपनी आंखें बन्द कर ली है—उसकी तरफ़से बूढ़ा मरो चाहे जवान उसे अपनी हत्यासे काम ! फिर दानके अंगस्वरूप किसीके

अनुग्रह उपकारकी बात तो उसके पास कहाँ फटक सकती है ? वह तो उससे कोसो दूर है । महात्मा गान्धी-जैसे सन्तपुरुष वनस्पति-घीके विरोधमे जो कुछ कह गये है उसेभी उसने ठुकरा दिया है और उस अधिकारीको भी ठुकरानेके लिये राजी कर लिया है जो बात-बातमें गाधीजीके अनुयायी होनेका दम भरा करता है और दूसरोंको भी गाधीजीके आदेशानुसार चलनेकी प्रेरणा किया करता है। ऐसा ढोगी, दम्भी, बगुला-भगत उच्चाधिकारी जो तुच्छ लोभमें पडकर अपने कर्त्तव्यसे च्युत, पथसे भ्रष्ट और अपने अधिकारका दुरुपयोग करनेके लिये उतारू हो जाता है वह दानका पात्र भी नही है। इस तरह पारमार्थिक दृष्टिसे सेठ रामानन्दका दान कोई दान नही है। और न लोकमें ही ऐसे दानको दान कहा जाता है। यदि द्रव्यको अपनेसे पृथक् करके किसीको दे देने मात्रके कारण ही उसे दान कहा जाय तो वह सबमे निकृष्ट दान है, उसका उद्देश्य बुरा एवं लोकहितमे बाधक होनेसे वह भविष्यमें घोर दु खो तथा आप-दाओके रूपमे फलेगा। और इसलिये पाँच-पाँच लाखके उक्त चारों दानियोमें सेठ रामानन्दको सबसे अधिक निकृष्ट, नीचे दर्जेका तथा अधम दानी समझना चाहिये।

अध्यापक—शाबास ! मालूम होता है अब तुम बड़े और छोटेके तत्त्वको बहुत कुछ समझ गये हो। हाँ, इतना और बतलाओ कि जिन चार दानियोको तुमने पाँच पाच लाखके दानियोसे बड़े दानी बतलाया है वे क्या दस-दस हजारकी समान रकमके दानसे परस्पर-में समान दानी हैं, समान-फलके भोक्ता होगे और उनमें कोई पर-स्परमें बड़ा-छोटा दानी नही है ?

विद्यार्थी उत्तरकी खोजमें मन-ही-मन कुछ सोचने लगा, इतने-में अध्यापकजी बोल उठे—'इसमे अधिक सोचनेकी बात नहीं, इतना तो स्पष्ट ही है कि जब अधिक द्रव्यके दानी भी अल्प द्रव्य-के दानीसे छोटे हो जाते हैं और दानद्रव्यकी संख्या पर ही दान तथा

दानीका बड़ा-छोटापन निर्भर नही है तब समान द्रव्यके दानी परस्परमें समान और एक ही दर्जेके होंगे ऐसा कोई नियम नही हो सकता—वे समान भी हो सकते हैं और असमान भी । इस तरह उनमें भी बड़े-छोटेका भेद सभव है और वह भेद तभी स्पष्ट हो सकता है जब कि सारी परिस्थिति सामने हो अर्थात् यह पूरी तौरसे मालूम हो कि दानके समय दातारकी कौटुम्बिक तथा आर्थिक आदि स्थिति कैसी थी, किन भावोंकी प्रेरणासे दान किया गया है, किस उद्देश्यको लेकर तथा किस विधि-व्यवस्थाके साथ दिया गया है और जिन्हें लक्ष्य करके दिया गया है वे सब पात्र है, कुपात्र है या अपात्र, अथवा उस दानकी कितनी उपयोगिता है । इन सबकी तरतमता पर ही दान तथा उसके फलकी तरमता निर्भर है और उसीके आधार पर किसी प्रशस्त दानको प्रशस्ततर या प्रशस्ततम अथवा छोटा-बड़ा कहा जा सकता है। जिनके दानोका विषय ही एक दूसरेसे भिन्न होता है उनके दानी प्राय. समान फलके भोक्ता नही होते और न समान फलके अभोक्ता होनेसे ही उन्हें बड़ा-छोटा कहा जा सकता है । इस दृष्टिसे उक्त दस-दस हज़ारके चारो दानियोमेंसे किसीके विषयमें भी यह कहना सहज नही है कि उनमे कौन बड़ा कौन छोटा दानी है। चारोके दानका विषय बहुत उपयोगी है और उन सबकी अपने अपने दानविषयमे पूरी दिलचस्पी पाई जाती है।'

अध्यापक वीरभद्रजीकी व्याख्या चल ही रही थी, कि इतनेमें घंटा बज गया और वे यह कहते हुए उठ खड़े हुए कि—'दान और दानीके बड़े-छोटेपनके विषयमें आज बहुत कुछ विवेचन दूसरी कक्षामें किया जा चुका है उसे तुम मोहनलाल विद्यार्थीसे मालूम कर लेना, उससे रही-सही कचाई दूर होकर तुम्हारा इस विषयका ज्ञान और भी परिपुष्ट हो जायगा और तुम एकान्त-अभिनिवेशके चक्करमें न पड़ सकोगे।' अध्यापकजीको उठते देखकर सब विद्यार्थी खड़े होगये और बड़े विनीतभावसे उनका आभार व्यक्त करने लगे।

३६

भारतकी स्वतन्त्रता, उसका झंडा और कर्तव्य

कोई एक हज़ार वर्षकी गुलामीके बाद भारत १५ अगस्त सन् १९४७ को स्वतन्त्र हुआ—उसकी गर्दन परसे अवाछनीय विदेशी-शासनका जूआ उतरा, इसके पैरोकी बेड़ियाँ हाथोंकी हथकड़ियाँ कटी और शरीर तथा मन परके दूसरे बन्धन भी टूटे, जिन सबके कारण वह पराधीन था, स्वेच्छासे कही जा आ नही सकता था, बोल नही सकता था यथेष्टरूपमे कुछ कर नही सकता था और न उसे कही सम्मान ही प्राप्त था। उसमें अनेक उपायोसे फूटके बीज बोए जाते थे और उनके द्वारा अपना उल्लू सीधा किया जाता था। साथ ही उस पर करो आदिका मनमाना बोझा लादा जाता था, तरह तरहके अन्याय-अत्याचार किये जाते थे, अपमानो-तिरस्कारों-की बौछारें पड़ती थी और उन सबके विरोधमे ज़बान खोलने तक-का उसे कोई अधिकार नही था। उसके लिये सत्य बोलना भी अपराध था। और इसलिये वह मजबूर था झूठ, चोरी, बेईमानी, घूसखोरी और ब्लैकमार्केट-जैसे कुकर्मोंके लिये। इसीसे उसका नैतिक और धार्मिक पतन बड़ी तेज़ीके साथ हो रहा था, सारा वातावरण गंदा एवं दूषित हो गया था और कहीं भी सुखपूर्वक साँस लेनेके लिये स्थान नही था।

धन्य है भारतकी उन विभूतियोंको जिन्होंने परतन्त्रताके इस

दोषको समझा, स्वतन्त्रताका मूल्य आँका और उस मूल्यको चुकानेके लिये अहिंसाके साथ तप, त्याग तथा बलिदानका मार्ग अपनाया। परिणामस्वरूप जिन्हें घोर यातनाएँ सहनी पडी, महीनों-वर्षो जेलोंकी कालकोठरियोंमें सड़ना पड़ा, सारे सुख-चैन और आरामको तिलाञ्जलि देनी पड़ी, सम्पत्तिका अपहरण देखना पड़ा और हृदयको व्यथित करनेवाली देशीय तथा आत्मीय जनोंकी करुण-पुकारों एवं कष्ट-कहानियोंको सुनना पड़ा। साथ ही, देशसे निर्वासित होना पड़ा, गोलियां खानी पड़ी और फाँसीके तख्तोंपर भी लटकना पड़ा। परन्तु इन सब अवस्थाओंमेंसे गुजरते हुए जो कभी अपने लक्ष्यसे विचलित नही हुए, वेदनाओं तथा प्रलोभनोंके सामने जिन्होंने कभी सिर नहीं झुकाया, अहिंसाकी नीतिको नही छोड़ा, सतानेवालोंके प्रति भी उनके हृदय-परिवर्तन तथा उनमें मानवताके सचारके लिये सदा शुभ कामनाएँ ही कीं, और जो अपने प्रणके पक्के, वचनके सच्चे तथा संकल्पमें अडोल रहे और जिन्होने सब कुछ गँवाकर भी अपनी तथा देशकी प्रतिष्ठाको कायम रक्खा। यहाँ उन विभूतियोके नामोको गिनानेकी ज़रूरत नहीं और न उन्हे गिनाया ही जा सकता है; क्योकि जो सुप्रसिद्ध विभूतियाँ है उनके नामोंसे तो सभी परिचित हैं, दूसरी विभूतियोंमें कितनी ही ऐसी विभूतियाँ भी हैं जो गुप्तरूपसे काम करती रही हैं और जिनका तप-त्याग एवं बलिदान किसी भी प्रसिद्ध बड़ी विभूतिसे कम नही है। अकसर बड़ी विभूतियोको तो जेलमें बन्द रहते हुए भी उतने कष्ट सहन नही करने पड़े हैं जितने कि किसी-किसी छोटी विभूतिको सहन करने पड़े हैं। अतः यहाँ पर किसीका भी नाम न देकर उन सभी छोटी-बड़ी, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध विभूतियोंको सादर प्रणामाञ्जलि समर्पित है जो भारतकी मुक्तिके लिये बराबर प्रयत्न करती रही हैं और जिनके सत्प्रयत्नोंके फलस्वरूप ही देशको आज वह स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है जिसके कारण भारतवासी अब आज़ादीके साथ खुले वातावरणमे

साँस ले सकेंगे, यथेच्छ रूपमें चल-फिर सकेंगे, खुली आवाजसे बोल सकेंगे, बिना संकोचके लिख-पढ़ सकेंगे, बिना किसी रोक-टोकके अपनी उन्नति एव प्रगतिके साधनोको जुटा सकेंगे। ऐसी स्वतन्त्रता किसे प्यारी नही होगी ? कौन उसका अभिनन्दन नही करेगा ? कौन उसे पाकर प्रसन्न नही होगा ? और कौन उसके लिये आनन्दोत्सव नही मनाएगा ?

यही वजह है कि उस दिन १५ अगस्तको स्वतन्त्रता-दिवस मनानेके लिये जगह-जगह—नगर-नगर और ग्राम-ग्राममे—जन-समूह उत्सवके लिये उमड़ पड़ा था, जनतामे एक अभूतपूर्व उत्साह दिखाई पडता था, लम्बे-लम्बे जलूस निकाले गये थे, तरह-तरहके बाजे बज रहे थे, नेताओ और शहीदोंकी जयघोषके नारे लग रहे थे, बालकोंको मिठाइयाँ बँट रही थी, कही कही दीन-दुखित जनोको अन्न-वस्त्र भी बाँटे जा रहे थे, घर-द्वार, सरकारी इमारते और मन्दिर-बाजारादिक सब सजाये गये थे, उन पर रोशनी की गई थी—दीपावली मनाई गई थी—और हजारो कैदी जेलोसे मुक्त होकर इन उत्सवोमे भाग ले रहे थे और अपने नेताओंकी इस भारी सफलता पर गर्व कर रहे थे और उन्हे हृदयसे धन्यवाद दे रहे थे।

इन उत्सवोकी सबसे बड़ी विशेषता भारतके उस तिरगे झडेकी थी जिसका अशोकचक्रके साथ नव-निर्माण हुआ है। घर-घर, गली-गली और दुकान-दुकान पर उसे फहराया गया था। कोई भी सरकारी इमारत, सार्वजनिक सस्था और मन्दिर मस्जिदकी बिल्डिङ्ग ऐसी दिखाई नहीं पडती थी, जो इस राष्ट्रीय पताकाको अपने सिर पर अथवा अपनी गोदमें धारण किये हुए न हो। जलूसोंमें बहुतसे लोग अपने-अपने हाथोमें इस झडेको थामे हुए थे, जिन्हे हाथोमें लेनेके लिये झडे नही मिल सके वे इस झंडेकी मूर्तियों या चित्रोंको अपनी-अपनी टोपियों अथवा छातियों पर धारण किये हुए थे। जिधर देखो उधर ये राष्ट्रीय झंडे ही झडे फहराते हुए नजर आते

थे और उनकी सारे देशमें एक बाढ सी आगई थी। जहाँ कहीं भी किसी खास स्थान पर समूहके मध्यमें झंडेको लहरानेकी रस्म अदा की गई वहाँ हिन्दू, मुसलमान, सिख जैन, पारसी और ईसाई आदि सभीने मिलकर बिना किसी भेद-भावके झंडेका गुणगान किया, उसे सिर झुकाकर प्रणाम किया और सलामी दी।

उस वक्तका यह सार्वजनिक और सार्वभौमिक मूर्तिपूजाका दृश्य बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता था। और हृदयमें रह-रहकर ये विचार तरङ्गित हो रहे थे कि जो लोग मूर्तिपूजाके सर्वथा विरोधी हैं उसमें कृत्रिमता और जड़ता जैसे दोष देकर उसका निषेध किया करते है—वे समय पर इस बातको भूल जाते है कि 'हम भी किसी न किसी रूपमें मूर्तिपूजक हैं', क्योकि राष्ट्रका झंडा भी, जिसकी वे उपासना करते हैं, एक प्रकारकी जड़मूर्ति है और राष्ट्रके प्रतिनिधि नेताओं-द्वारा निर्मित होनेसे कृत्रिम भी है।

परन्तु देवमूर्ति जिस प्रकार कुछ भावोकी प्रतीक होती है, जिनकी उसमें प्रतिष्ठा की जाती है, उसी प्रकार यह राष्ट्रपताका भी उन राष्ट्रीय भावनाओकी प्रतीक है जिनकी कुछ रङ्गो तथा चिन्हो आदिके द्वारा इसमें प्रतिष्ठा की गई है, और इसीसे देवमूर्तिके अपमानकी तरह इस प्रतिष्ठित राष्ट्रमूर्तिके अपमानको भी इसका कोई उपासक सहन नही कर सकता। इसी बातको लेकर 'झंडेको सदा ऊँचा रखने और प्राण देकर भी उसकी प्रतिष्ठाको बराबर कायम रखनेकी' सामूहिक तथा व्यक्तिगत प्रतिज्ञाएँ कराई गई थी। अतः झंडेकी पूजा-वन्दना करनेवालोंको भूलकर भी मूर्तिपूजाका सर्वथा विरोध नही करना चाहिये—वैसा करके वे अपना विरोध आप घटित करेंगे।

उन्हें दूसरोंकी भावनाओंको भी समझना चाहिये और अनुचित आक्षेपादिके द्वारा किसीके भी मर्मको नही दुखाना चाहिये; बल्कि राष्ट्रीय झंडेकी इस सामूहिक वन्दनासे पदार्थ-पाठ लेकर सबके साथ

प्रेमका व्यवहार करना चाहिये और कोई भी काम ऐसा नही करना चाहिये जिससे राष्ट्रकी एकता भङ्ग हो अथवा उसके हितको बाधा पहुँचे। साथ ही, यह भी समझ लेना चाहिये कि संसारमे ऐसा कोई भी मनुष्य नही है जो किसी न किसी रूपमें मूर्तिकी पूजा-उपासना न करता हो—विना मूर्ति-पूजाके अथवा आदरके साथ मूर्तिको अपनाये विना किसीका भी काम नही चलता। शब्द और अक्षर भी एक प्रकारकी मूर्तियाँ— पौद्‌गलिक आकृतियाँ— हैं,जिनसे हमारे धर्म-ग्रन्थ निर्मित हैं और जिनके आगे हम सदा ही सिर झुकाया करते हैं। यह सिर झुकाना, वन्दना करना और आदर-सत्कार रूप प्रवृत्त होना ही 'पूजा' है; पूजाके और कोई सींग नही होते।

झंडेमे जिस अशोकचक्रकी स्थापना की गई है उसका रहस्य अभी वहुत कुछ गुप्त है। भारतके प्रधान मन्त्री माननीय पंडित जवाहरलालजी नेहरूने उस दिन वर्तमान राष्ट्रीय झंडेका रूप उपस्थित करते और उसे पास कराते हुए जो कुछ कहा है वह वहुत कुछ सामान्य, संक्षिप्त तथा रहस्यके गाम्भीर्यकी सूचना-मात्र है—उससे अशोकचक्रको अपनानेका पूरा रहस्य खुलता नही है। सम्भव है सरकारकी ओरसे किसी समय उस पर विशेष प्रकाश डाला जाय। जैनकुलोत्पन्न सम्राट् अशोक किन संस्कारोमें पले थे कौनसी परिस्थितियाँ उनके सामने थी, उन्होंने किन-किन भावोको लेकर इस चक्रकी रचना की थी,चक्रका कौन-कौन अंग किस-किस भावका प्रतिनिधित्व करता है—खासकर उसके आरोंकी २४ सख्या किस भावका द्योतन करती है, जैन तीर्थंकरोके 'धर्मचक्र और वुद्ध भगवानके 'धर्मचक्र' के साथ इसका क्या तथा कितना सम्बन्ध है और भारतके भरतादि चक्रवर्तियो तथा कृष्णादि नारायणोके सुदर्शन-चक्र' के साथ इस चक्रका कहाँ तक सादृश्य है अथवा उसके किस-किस रूपको किस दृष्टिसे इसमें अपनाया गया है, ये सव वाते प्रकट होनेके योग्य हैं।

कितनी ही बातें इनमें ऐसी भी हो सकती हैं जो अभी इतिहासके गर्भमें हैं और जिन्हें आगे चलकर किसी समय इतिहास प्रकट करेगा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह चक्र बड़ा ही महत्वपूर्ण है, भारतकी प्राचीन संस्कृतिका द्योतक है और उसकी विजयका चिन्ह है। इसीसे विजयके अवसर पर उसे राष्ट्रीय पताकामें धारण किया गया है। वह जहाँ धार्मिक चक्रवर्तियोंकी धर्म-विजयका और लौकिक चक्रवर्तियोंकी लोक-विजयका चिन्ह रहा है वहाँ वर्तमान मशीन-युगके भी वह अनुरूप ही है और उसका प्रधान अंग है। नई पुरानी अधिकांश मशीने चक्रोंसे ही चलती है—चक्रके बिना उनकी गति नही। यदि चक्रका उपयोग बिल्कुल बन्द कर दिया जाय तो प्रायः सारा यातायात और उत्पादन एकदम रुक जाय। क्योंकि रथ, गाड़ी, ताङ्गा, मोटर, साईकिल, रेल, एंजिन, जहाज, रहट, चाक, चर्खा, चर्खी, कर्घा और कल-मिल आदि सभी साधनोंमें प्रायः चक्रका उपयोग होता है, और इसलिये चक्रको श्रम-जीवन तथा श्रमोन्नतिका प्रधान प्रतीक भी समझना चाहिये,जिसके बिना सारा संसार बेकार है।

अतः जब तक अशोकचक्रको, जिसमें थोड़ासा परिवर्तनभी किया जान पड़ता है, प्रतिष्ठित करनेवाले अधिकारियो-द्वारा इसके रहस्यका उद्घाटन नही किया जाता तब तक सर्व साधारण जन इस चक्रमें सूर्यकी, सुदर्शनचक्रकी, जैन तथा बौद्धोंके धर्मचक्रोमेंसे किसीकी, वर्तमान युगके मशीनी चक्रकी अथवा सभीके समावेशकी कल्पना कर सकते हैं और तदनुकूल उसका दर्शन भी कर सकते हैं। परन्तु मुझे तो अशोककी दृष्टिसे इस चक्रका मध्यवृत्त (बीचका गोला) समता (शान्ति) और ज्योति (ज्ञान) का प्रतीक जान पड़ता है, बाह्यवृत्त संसारकी—मध्यलोककी अथवा जम्बूद्वीपकी परिधिके रूपमें प्रतीत होता है, संसारमें समता और ज्योतिका प्रसार जिन २४ किरणों-द्वारा हुआ तथा होरहा है वे मुख्यतः ऋष-

भादि महावीर पर्यन्त २४ जैन तीर्थंकर मालूम होते है— दूसरों-द्वारा बादको माने गये २४ अवतारोंका भी उनमे समावेश है—और परिधिके पास तथा किरणोके मध्यमें जो छोटे-छोटे स्तूपाकार उभार है वे इस लोककी आबादी (नगरादि) के प्रतीक जान पड़ते है और उनके शिरोभाग जो मध्यवृत्तका कुछ गुलाईको लिये हुए है वे इस बातको सूचित करते हैं कि उन पर मध्यवृत्तका असर पड़ा है और वे उसकी समता तथा ज्योतिके प्रभावसे प्रभावित हैं। साथ ही, विजय-चिन्हके रूपमें सुदर्शनचक्रका भी उसमें समावेश हो सकता है और प्रकारान्तरसे सूयका भी, जो सब पर समानरूपसे अपना प्रकाश डालता है, स्फूर्ति-उत्साह-प्रदायक है और सबकी उन्नति-प्रगतिमें स ायक है।

झंडेके तीन रंगोंमें एक सफेद रंग भी है जो शुद्धिका प्रतीक है। वह यदि आत्मशुद्धिका प्रतीक होता तो उसे सर्वोपरि स्थान दिया जाता, मध्यमे स्थान दिया जानेसे वह हृदय-शुद्धिका द्योतक जान पड़ता है—हृदयका स्थान भी शरीरके मध्यमे है। इस सफेद रंगके मध्यमें ही अशोकचक्र अथवा विजयचक्रकी स्थापना की गई है, जिसका स्पष्ट आशय यह जान पड़ता है कि विजय अथवा अशोक-का सम्बन्ध चित्तशुद्धिसे है—चित्तशुद्धिके बिना न तो स्थायी विजय मिलती है और न अशोक दशाकी ही प्राप्ति होती है। अस्तु।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि भारतको यह जो कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है वह अभी तक बाह्य शत्रुओसे ही प्राप्त हुई है—अन्तरंग (भीतरी) शत्रुओसे नही—और वह भी एक सम-झौतेके रूपमें। समझौतेके रूपमे इतनी बड़ी स्वतन्त्रताका मिलना इतिहासमे अभूतपूर्व समझा जाता है और उसका प्रधान श्रेय महा-त्मा गांधीजीके द्वारा राजनीतिमें अहिंसाके प्रवेशको प्राप्त है। इस विषयमे महात्माजीका कहना है कि जनताने अहिंसाको एक नीतिके रूपमें ऊपरी तौर पर अपनाया है उसका इतना फल है। यदि अहिंसाको हृदयसे पूरी तौर पर अपनाया होता तो स्वराज्य कभीका

मिल जाता और वह स्थिर रहनेवाला स्वराज्य होता। यदि अहिंसा-को छोड़ दिया और हिंसाको अपनाया गया तो जो स्वराज्य आज प्राप्त हुआ है वह कल हाथसे निकल जायगा। अतः इस समय सर्वोपरि प्रश्न प्राप्त हुई स्वतन्त्रताकी सुरक्षा तथा स्थिरताका है।

जिस दिनसे यह स्वतन्त्रता मिली है उस दिनसे भीतरी शत्रुओंने और भी ज़ोरके साथ सिर उठाया है—जिधर देखो उधर मार-काट, लूट-खसोट, मन्दिर-मूर्तियोंकी तोड़-फोड़ और आग लगानेकी घटनाएँ हो रही हैं। इन घटनाओंको पहले पाकिस्तानने शुरू किया, पाकिस्तान गैर-मुसलिमोंकी संपत्तिको छीनकर अथवा उसे नष्ट-भ्रष्ट करके ही सन्तुष्ट रहना नही चाहता बल्कि उनकी युवास्त्रियों तथा लड़कियोसे बलात्कार करने और उन्हें घरमे डालने तकमे प्रवृत्त हो रहा है शेष सबको बच्चों-समेत क़त्ल कर देने अथवा जबरन उनका धर्म-परिवर्तन करनेके लिये उतारू है। और इस तरह गैर-मुसलमानोंकी अथवा अपनी बोलीमे काफिरोंकी संख्याको एकदम कम कर देना चाहता है! चुनाँचे अगर कोई किसी तरह भाग-बचकर किसीकी शरणमे अथवा शरणार्थी-शिविरमे पहुँच जाता है तो वहाँ तक उसका पीछा किया जाता है और हिन्दुस्तानमे आनेवाले शरणार्थियोकी ट्रेनो, बसो तथा हवाई जहाजों तक पर हमला किया जाता है और कितने ही ऐसे मुसीबतज़दा बेघरबार एवं निरपराधी शरणार्थियोंको भी मौतके घाट उतार दिया जाता है!! इस घोर अन्याय-अत्याचार और अमानुषिक व्यवहारकी खबरोसे सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ है, बदलेकी भावनाएँ दिन-पर-दिन जोर पकड़ती जा रही है और लोग 'जैसेको तैसा' की नीति पर अमल करनेके लिये मजबूर हो रहे है, सारा वातावरण क्षुब्ध और सशंक बना हुआ है, कही भी अपनेको कोई सुरक्षित नही समझता। कहाँ पर किस समय क्या होजाय, यही आशंका लोगोंके हृदयोमे घर किये हुए है। सारा व्यापार चौपट है और किसीको भी ज़रा चैन नही है, इस तरह

यह स्वतन्त्रता एक प्रकारका अभिशाप बन रही है और साधारण अदूरदर्शी एव अविवेकी लोगोको यह कहनेका अवसर मिल रहा है कि 'इस स्वतन्त्रतासे तो परतन्त्रता अच्छी थी'। इधर पास खड़े कुछ बाहरी शत्रु भी आगमे ईंधन डालकर उसे भड़का रहे हैं और इस बातकी फ़िकरमें है कि इन भारतवासियोको स्वराज्यके अयोग्य करार देकर फिरसे इनकी गर्दन पर सवारी की जाय—अपने निरकुश शासनका जूआ उन पर रक्खा जाय।

ऐसी हालतमे नेताओका कार्य बड़ा ही कठिन और जटिल हो रहा है। उन्हे सुखकी नीद सोना तो दूर रहा, सुखपूर्वक सांस लेनेका भी अवसर नही मिल रहा है। उनकी जो शक्ति रचनात्मक, व्यवस्थात्मक और देशको ऊपर उठानेके कार्योंमें लगती और जिनसे उनकी असाधारण क़ाबलियत (योग्यता) जानी जाती, वह आज इस व्यर्थके गृह-कलहके पीछे उलझी हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि पाकिस्तानने हिन्दुस्तान (भारत) के साथ विश्वासघात किया है और नेताओको सख्त धोखा हुआ है, परन्तु इसमें भी सदेह नही है कि भारतके पं० जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल-जैसे नेता बड़ी तत्परताके साथ काम कर रहे हैं और उन्होने दिन-रात एक करके थोड़े ही समयमें वह काम करके दिखलाया है जो अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञ और कार्यकुशल व्यक्तियोके लिये ईर्षाकी वस्तु हो सकती है। इस समय उनकी सारी शक्ति हिन्दू, सिख आदि शरणार्थियोको पाकिस्तानसे निकालने और पूर्वी पंजाबसे मुसलमान शरणार्थियोंको सुरक्षितरूपमे पाकिस्तान भिजवानेमे लगी हुई है। वे हिन्दुस्तानमे पाकिस्तानकी पक्षपातपूर्ण और धर्मान्ध साम्प्रदायिक विद्वेषकी नीतिको किसी तरह भी अपनाना नही चाहते। उनकी दृष्टिमें सारी प्रजा—चाहे वह हिन्दू, मुसलमान, सिख, जैन, ईसाई, पारसी आदि कोई भी क्यों न हो—समान है और वह सभीके हितके लिये काम करके दुनियामे एक आदर्श उपस्थित करना चाहते है।

परन्तु इस गृह-कलहके, जिसके विष-बीज विदेशियोंने चिरकालसे बो रक्खे हैं, दूर हुए बिना कुछ भी नहीं हो सकता। इसके लिये अन्तरङ्ग शत्रुओसे युद्ध करके उनका नाश करना होगा। जब तक अन्तरङ्ग शत्रुओंका नाश नहीं होगा तब तक भारतको सच्ची स्वाधीनताकी प्राप्ति नही कही जा सकती और न उसे सुख-शान्तिकी प्राप्ति ही हो सकती है। परन्तु इन शत्रुओंका नाश उनके मारनेसे नही होगा बल्कि उनकी शत्रुताको मारनेसे होगा, जिसके लिये देशमें परस्पर प्रेम, सद्भाव और विश्वासकी भावनाओंके प्रचारकी और उसके द्वारा विद्वेषके उस विषको निकाल देनेकी अत्यन्त आवश्यकता है, जो अधिकाश व्यक्तियोंकी रगोमे समाया हुआ है। इसीके लिये नेताओंको जनताका सहयोग वाञ्छनीय है। वे चाहते हैं कि जनता प्रतिहिंसा अथवा बदलेकी भावनासे प्रेरित होकर कोई काम न करे और दंडादिके कानूनको अपने हाथमे न लेवे। उसे आततायियोसे अपनी जान और मालकी रक्षाका खुला अधिकार प्राप्त है और उस अधिकारको अमलमे लाते हुए, ज़रूरत पड़ने पर, वह आततायियोंकी जान भी ले सकती है, परन्तु किसी आततायीके अन्याय-अत्याचारका बदला उसकी जातिके निरपराध व्यक्तियों—बालबच्चों तथा स्त्रियों आदिको मारकर चुकाना उन्हें किसी तरह भी सहन नही हो सकता। बदलेकी ऐसी कार्रवाइयोंसे शत्रुताकी आग उत्तरोत्तर बढती है, नेताओंका कार्य कठिनसे कठिनतम हो जाता है और कभी शान्ति तथा सुव्यवस्था नहीं हो पाती। बदलेकी ऐसी कार्रवाई करनेवाले एक प्रकारसे अपने ही दूसरे भाइयोंकी हत्या और मुसीबतके कारण बनते हैं।

अतः भारतकी स्वतन्त्रताको स्थिर-सुरक्षित रखने और उसके भविष्यको समुज्वल बनानेके लिये इस समय जनता तथा भारतहितैषियोंका यह मुख्य कर्तव्य है कि वे अपने नेताओंको उनके कार्योंमें पूर्ण सहयोग प्रदान करें और ऐसा कोई भी कार्य न करें जिस-

से नेताओंका कार्य कठिन तथा जटिल बने। इसके लिये सबसे बड़ा प्रयत्न देशमे धर्मान्धता अथवा मजहबी पागलपनको दूर करके पारस्परिक प्रेम, सद्भाव, विश्वास और सहयोगकी भावनाओंको उत्पन्न करनेका है। इसीसे अन्तरङ्ग शत्रुओंका नाश होकर देशमें शान्ति एवं सुव्यवस्थाकी प्रतिष्ठा हो सकेगी और मिली हुई स्वतन्त्रता स्थिर रह सकेगी।

देशमे ऐसी सद्भावनाओंको उत्पन्न करने और फैलानेका काम, मेरी रायमे, उन सच्चे साधुओंको अपने हाथमे लेना चाहिये जो सभी सम्प्रदायोंमें थोड़े बहुत रूपमें पाये जाते हैं। उनके ऊपर देशका बहुत बड़ा ऋण है, जिसे उनको इस प्रकारकी सेवाओं-द्वारा अब चुकाना चाहिये। इस समय उनकी सेवाओंकी खास जरूरत है, जिससे धर्मान्ध-गुरुओं और बहके हुए स्वार्थपरायण मौलवी-मुल्लाओंके गलत प्रचारसे व्याप्त हुए विषको देशकी रगोंसे निकाला जा सके। उन्हें वर्तमानमें आत्म-साधनाको भी गौण करके लोकसेवाके मैदानमें उतर आना चाहिये, महात्मा गांधीकी तरह सच्चे दिलसे निर्भय होकर अपेक्षित सेवाकार्योंमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये और यह समझ लेना चाहिये कि देशका वातावरण शान्त हुए बिना वे आत्म-साधना तो क्या, कोई भी धर्मसाधनका कार्य नही कर सकेंगे। अपनी सेवाओं-द्वारा वे लोकके धर्मसाधनमें तथा आजकलकी हवामें सच्चे धर्मसे च्युत हुए प्राणियोंको सन्मार्ग दिखानेमें बहुत कुछ सहायक हो सकेंगे। और इसलिये उनका इस समय यह सर्वोपरि कर्तव्य है। यदि ऐसे कर्तव्यपरायण सत्साधुओंकी टोलियोंकी टोलियाँ देशमें घूमने लगें तो देशका दूषित वातावरण शीघ्र ही शुद्ध तथा स्वच्छ हो सकता है। आशा है सत्साधुओंका ध्यान जरूर इस ओर जायगा और वे अपने वर्तमान कर्तव्यको समझकर नेताओंको अपना वास्तविक सहयोग प्रदान करनेमें कोई बात उठा नही रक्खेंगे।

४०

महावीरका सर्वोदय-तीर्थ

विक्रमकी प्रायः दूसरी शताब्दीके महान् विद्वान् आचार्य स्वामी समन्तभद्रने अपने 'युक्त्यनुशासन'ग्रन्थमें, जो कि आप्त कहे जानेवाले समस्त तीर्थप्रवर्तकोंकी परीक्षा करके और उस परीक्षा-द्वारा श्री-महावीर-जिनको सत्यार्थ आप्तके रूपमे निश्चित करके तदनन्तर उनकी स्तुतिके रूपमें लिखा गया है, महावीर भगवान्को (मोहनीय ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामके चार घातिया कर्मोका अभाव हो जानेसे) अतुलित-शान्तिके साथ शुद्धि और शक्तिके उदयकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुआ एवं ब्रह्मपथका नेता लिखा है और इसीलिये उन्हें 'महान्' बतलाया है। साथ ही उनके अनेकान्त-शासन (मत) के विषयमें लिखा है कि 'वह दया (अहिंसा),दम (संयम), त्याग (परि-ग्रह-त्यजन)और समाधि (प्रशस्त ध्यान) की निष्ठा-तत्परताको लिये हुए है, नयों तथा प्रमाणोके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट सु-निश्चित करनेवाला है और (अनेकान्तवादसे भिन्न) दूसरे सभी प्रवादों-के द्वारा अबाध्य है—कोई भी उसके विषयको खंडित अथवा दूषित करनेमें समर्थ नही है। यही सब उसकी विशेषता है और इसीलिये वह अद्वितीय है।' जैसा कि ग्रन्थकी निम्न दो कारिकाओसे प्रकट है:—

त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुलाऽव्यतीतां जिन शान्तिरूपाम्।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः ॥४॥

दया-दम त्याग-समाधि-निष्ठं, नय-प्रमाण-प्रकृताञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

इनसे अगली कारिकाओमे सूत्ररूपसे वर्णित इस वीरशासनके महत्वको और उसके द्वारा वीर-जिनेन्द्रकी महानताको स्पष्ट करके बतलाया गया है—खास तौरसे यह प्रदर्शित किया गया है कि वीर-जिन-द्वारा इस शासनमे वर्णित वस्तुतत्त्व कैसे नय-प्रमाणके द्वारा निर्बाध सिद्ध होता है और दूसरे सर्वथैकान्त-शासनोमे निर्दिष्ट हुआ वस्तुतत्त्व किस प्रकारसे प्रमाणबाधित तथा अपने अस्तित्वको ही सिद्ध करनेमें असमर्थ पाया जाता है। सारा विषय विज्ञ-पाठकोंके लिये बड़ा ही रोचक और वीरजिनेन्द्रकी कीर्तिको दिग्दिगन्तव्यापिनी बनानेवाला है। इसमें प्रधान-प्रधान दर्शनो और उनके अवान्तर कितने ही वादोका सूत्र अथवा संकेतादिके रूपमें बहुत कुछ निर्देश और विवेक आगया है। यह विषय ३९ वी कारिका तक चलता रहा है। इस कारिकाकी टीकाके अन्तमें ६ वी शताब्दीके विद्वान् श्रीविद्यानन्दाचार्यने वहाँ तकके वर्णित विषयकी संक्षेपमें सूचना करते हुए लिखा है :—

स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषत.
सम्प्राप्तस्य विशुद्धि-शक्ति-पदवीं काष्ठां परामाश्रिताम् ।
निर्णीत मतमद्वितीयममलं सक्षेपतोऽपाकृतं
तद्बाह्यं वितथ मतं च सकल सद्धीधनैर्बुध्यताम् ॥

अर्थात्—यहाँ तकके इस युक्त्यनुशासनस्तोत्रमें शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए वीर-जिनेन्द्रके अनेकान्तात्मक स्याद्वादमत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्तके आग्रहको लिये हुए मिथ्यामतोंका समूह है उस सबका संक्षेपमें निराकरण किया गया है, यह बात सद्बुद्धिशालियोको भले प्रकार समझ लेनी चाहिये।

इसके आगे, ग्रन्थके उत्तरार्धमे, वीरशासन-वर्णित तत्त्वज्ञानके

मर्मकी कुछ ऐसी गुह्य तथा सूक्ष्म बातोंको स्पष्ट करके बतलाया गया है जो ग्रन्थकार-महोदय स्वामी समन्तभद्रसे पूर्वके ग्रन्थोमें प्रायः नहीं पाई जातीं, जिनमें 'एव' तथा 'स्यात्' शब्दके प्रयोग-अप्रयोगके रहस्यकी बाते भी शामिल है और जिन सबसे महावीरके तत्त्वज्ञान-को समझने तथा परखनेकी निर्मल दृष्टि अथवा कसौटी प्राप्त होती है। महावीरके इस अनेकान्तात्मक शासन (प्रवचन) को ही ग्रन्थमें 'सर्वोदयतीर्थ' बतलाया है—संसार-समुद्रसे पार उतरनेके लिये वह समीचीन घाट अथवा मार्ग सूचित किया है जिसका आश्रय लेकर सभी भव्यजीव पार उतर जाते है और जो सबोके उदय-उत्कर्षमें अथवा आत्माके पूर्ण विकासमें परम सहायक है। इस विषयकी कारिका निम्न प्रकार है—

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं सर्वान्त-शून्य च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकरं निरन्त सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

इसमें स्वामी समन्तभद्र भगवान महावीरकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि—'(हे भगवन् !) आपका यह तीर्थ—प्रवचनरूप शासन या परमागमवाक्य, जिसके द्वारा दुःखमय संसार-समुद्रको तिरा जाता है—सर्वान्तवान् है—सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध (भाव-अभाव), एक-अनेक (अद्वैत-द्वैत), नित्य-क्षणिक आदि अशेष धर्मोको लिये हुए है; एकान्ततः किसी एक ही धर्मको अपना विषय किये हुए नही है—और गौण तथा मुख्यकी कल्पनाको साथ-में लिये हुए है—एक धर्म किसी समय मुख्य है तो दूसरा धर्म गौण है; जो गौण है वह निरात्मक नही होता और जो मुख्य है उससे व्यवहार चलता है, इसीसे सब धर्म सुव्यवस्थित है, उनमे असगतता अथवा विरोधके लिये कोई अवकाश नही है। जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है—वह सर्वधर्मोसे शून्य है—उसमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नही बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था

ही ठीक बैठ सकती है। अत आपका ही यह शासनतीर्थ सब दुःखोका अन्त करनेवाला है, यही निरन्त है—किसी भी सर्वथैकान्तात्मक मिथ्यादर्शनके द्वारा खडनीय नही है—और यही सब प्राणियोंके अभ्युदयका कारण तथा आत्माके पूर्ण अभ्युदय (विकास) का साधक ऐसा 'सर्वोदयतीर्थ' है—जो शासन सर्वथा एकान्तपक्षको लिये हुए है उनमेसे कोई भी सर्वोदयतीर्थ' पदके योग्य नही हो सकता।'

यहाँ 'सर्वोदयतीर्थ' यह पद सर्व, उदय और तीर्थ इन तीन शब्दोसे मिलकर बना है। 'सर्व' शब्द सब तथा पूर्णका वाचक है, 'उदय' ऊँचे—ऊपर उठने, उत्कर्ष प्राप्त करने, प्रकट होने अथवा विकासको कहते हैं, और 'तीर्थ' उसका नाम है जिसके निमित्तसे संसारमहासागरको तिरा जाय[१]। वह तीर्थ वास्तवमे धर्मतीर्थ है जिसका सम्बन्ध जीवात्मासे है, उसकी प्रवृत्तिमे निमित्तभूत जो आगम अथवा आप्तवाक्य है वही यहाँ 'तीर्थ' शब्दके द्वारा परिग्रहीत है। और इसलिये इन तीनो शब्दोके सामासिक योगसे बने हुए 'सर्वोदयतीथ' पदका फलितार्थ यह है कि—जो आगमवाक्य जीवात्माके पूर्ण उदय-उत्कर्ष अथवा विकासमे तथा सब जीवोंके उदय-उत्कर्ष अथवा विकासमे सहायक है वह 'सर्वोदयतीर्थ' है। आत्माका उदय-उत्कर्ष अथवा विकास उसके ज्ञान-दर्शन-सुखादिक स्वाभाविक गुणोका ही उदय उत्कर्ष अथवा विकास है। और गुणोंका वह उदय-उत्कर्ष अथवा विकास दोषोंके अस्त-अपकर्ष अथवा विनाशके बिना नही होता। अत सर्वोदयतीर्थ जहाँ ज्ञानादि गुणोके विकासमे सहायक है वहाँ अज्ञानादि दोषो तथा उनके कारण ज्ञानावरणादिक कर्मोंके विनाशमें भी सहायक है—वह उन सब रुकावटोको दूर करनेकी व्यवस्था करता है जो किसीके विकासमे बाधा डालती हैं। यह

---

१ 'तरति ससारमहार्णव येन निमित्तेन तत्तीर्थमिति' —विद्यानन्द'

तीर्थको सर्वोदयका निमित्त कारण बतलाया गया है। तब उसका उपादान कारण कौन है? उपादान कारण वे सम्यग्दर्शनादि आत्म-गुण ही हैं जो तीर्थका निमित्त पाकर मिथ्यादर्शनादिके दूर होने पर स्वयं विकासको प्राप्त होते हैं। इस दृष्टिसे 'सर्वोदयतीर्थ' पदका एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है और वह यह कि 'समस्त अभ्युदय-कारणोंका—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप त्रिरत्न-धर्मों-का-जो हेतु है-उनकी उत्पत्ति अभिवृद्धि आदिमें (सहायक) निमित्त-कारण है— वह 'सर्वोदयतीर्थ' है[1]। इस दृष्टिसे ही, कारणमें कार्य-का उपचार करके इस तीर्थको धर्मतीर्थ कहा जाता है और इसी दृष्टिसे वीरजिनेन्द्रको धर्मतीर्थका कर्ता (प्रवर्तक) लिखा है, जैसा कि ९वीं शताब्दीकी बनी हुई 'जयधवला' नामकी सिद्धान्तटीकामें उद्धृत निम्न प्राचीन गाथासे प्रकट है—

> णिस्संसयकरो वीरो महावीरो जिणुत्तमो ।
> राग-दोस-भयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ ॥

इस गाथामें वीर-जिनको जो 'निःसंशयकर'—संसारी प्राणियोके सन्देहोंको दूरकर उन्हें सन्देहरहित करनेवाला—'महावीर'—ज्ञान-वचनादिकी सातिशय-शक्तिसे सम्पन्न—'जिनोत्तम'—जितेन्द्रियो तथा कर्मजेताओमे श्रेष्ठ - और 'रागद्वेष-भयसे-रहित' बतलाया है वह उनके धर्मतीर्थ-प्रवर्तक होनेके उपयुक्त ही है। बिना ऐसे गुणोकी सम्पत्तिसे युक्त हुए कोई सच्चे धर्मतीर्थका प्रवर्तक हो ही नही सकता। यही वजह है कि जो ज्ञानादिशक्तियोसे हीन होकर राग-द्वेषादिसे अभिभूत एवं आकुलित रहे है उनके द्वारा सर्वथा एकान्त-शासनों--मिथ्यादर्शनोंका ही प्रणयन हुआ है, जो जगतमे अनेक भूल-भ्रान्तियों एवं दृष्टिविकारोंको जन्म देकर दुःखोके जालको विस्तृत

---

१. 'सर्वेषामभ्युदयकारणानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदाना हेतु-त्वादभ्युदयहेतुत्वोपपत्तेः।' —विद्यानन्दः

करनेमे ही प्रधान कारण बने है । सर्वथा एकान्तशासन किस प्रकार दोषोसे परिपूर्ण है और वे कैसे दुःखोंके विस्तारमें कारण बने हैं इस विषयकी चर्चाका यहाँ अवसर नहीं है। इसके लिये स्वामी समन्तभद्रके देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र जैसे ग्रन्थों तथा अष्ट-सहस्री जैसी टीकाओको और सिद्धसेन, अकलंकदेव, विद्यानन्द आदि महान् आचार्योंके तर्कप्रधान ग्रन्थोंको देखना चाहिये।

यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि जो तीर्थ—शासन—सर्वान्तवान् नही—सर्वधर्मोंको लिये हुए और उनका समन्वय अपनेमें किये हुए नही है—वह सबका उदयकारक अथवा पूर्ण-उदयविधायक हो ही नही सकता और न सबके सब दुःखोंका अन्त करनेवाला ही बन सकता है; क्योंकि वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक है—अनेकानेकगुणों-धर्मोंको लिये हुए है। जो लोग उसके किसी एक ही गुण-धर्म पर दृष्टि डालकर उसे उसी एक रूपमें देखते और प्रतिपादन करते हैं उनकी दृष्टियाँ उन जन्मान्ध पुरुषोंकी दृष्टियोंके समान एकांगी हैं जो हाथीके एक-एक अंगको पकड़कर—देखकर उसी एक-एक अंगके रूपमें हाथीका प्रतिपादन करते थे, और इस तरह परस्परमें लड़ते, झगड़ते, कलहका बीज बोते और एक दूसरेके दुःखका कारण बने हुए थे। उन्हें हाथीके सब अंगों पर दृष्टि रखनेवाले सुनेत्र पुरुषने उनकी भूल सुझाई थी और यह कहते हुए उनका विरोध मिटाया था कि 'तुमने हाथीके एक-एक अंगको ले रक्खा है, तुम सब मिल जाओ तो हाथी बन जाय—तुम्हारे अलग-अलग कथनके अनुरूप हाथी कोई चीज नही है।' और इसलिये जो वस्तुके सब अंगों पर दृष्टि डालता है—उसे सब ओरसे देखता और उसके सब गुण-धर्मोंको पहचानता है—वह वस्तुको पूर्ण तथा यथार्थ रूपमें देखता है, उसकी दृष्टि अनेकान्तदृष्टि है और यह अनेकान्तदृष्टि ही सती अथवा सम्यग्दृष्टि कहलाती है और यही संसारमें वैर-विरोध-

को मिटाकर सुख-शान्तिकी स्थापना करनेमें समर्थ है। इसीसे श्री-अमृतचंद्राचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अनेकान्तको विरोधका मथन करनेवाला कहकर उसे नमस्कार किया है[1]। और श्रीसिद्धसेनाचार्य-ने 'सम्मइसुत्त'में यह बतलाते हुए कि अनेकान्तके बिना लोकका कोई भी व्यवहार सर्वथा बन नही सकता, उसे लोकका अद्वितीय गुरु कहकर नमस्कार किया है[2]।

सिद्धसेनका यह कहना कि 'अनेकान्त' के बिना लोकका व्यवहार सर्वथा बन नही सकता सोलहों आने सत्य है। सर्वथा एकान्तवा-दियों के सामने भी लोक-व्यवहारके बन न सकनेकी यह समस्या रही है और उसे हल करने तथा लोक-व्यवहारको बनाये रखनेके लिये उन्हें माया, अविद्या, संवृति जैसी कुछ दूसरी कल्पनायें करनी पड़ी हैं अथवा यों कहिये कि अपने सर्वथा एकान्तसिद्धान्तके छप्परको सम्भालनेके लिये उसके नीचे तरह-तरहकी टेवकियाँ (थूनियाँ) लगानी पड़ीं हैं; परन्तु फिर भी वे उसे सम्भाल नही सके और न अपने सर्वथा-एकान्त सिद्धान्तको किसी दूसरी तरह प्रतिष्ठित करने-में ही समर्थ हो सके हैं। उदाहरणके लिये अद्वैत एकान्तवादको लीजिये, ब्रह्माद्वैतवादी एक ब्रह्मके सिवाय दूसरे किसी भी पदार्थका अस्तित्व नही मानते—सर्वथा अभेदवादका ही प्रतिपादन करते हैं—उनके सामने जब साक्षात् दिखाई देनेवाले पदार्थ-भेदों, कारक-क्रिया-भेदों तथा विभिन्न लोक-व्यवहारोंकी बात आई तो उन्होंने कह दिया कि ये सब मायाजन्य हैं अर्थात् मायाकी कल्पना करके प्रत्यक्षमे दिखाई पड़नेवाले सब भेदों तथा लोक-व्यवहारोका भार

---

१. परमागमस्य बीजं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम्।
सकल-नय-विलसिताना विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

२. जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥६९॥

उसके ऊपर रख दिया । परन्तु यह माया क्या बला है और वह सत्रूप है या असत्रूप, इसको स्पष्ट करके नही बतलाया गया। माया यदि असत् है तो वह कोई वस्तु न होनेसे किसी भी कार्यके करनेमे समर्थ नही हो सकती। और यदि सत् है तो वह ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न है ? यह प्रश्न खड़ा होता है । अभिन्न होनेकी हालत-में ब्रह्म भी मायारूप मिथ्या ठहरता है और भिन्न होने पर माया और ब्रह्म दो जुदी वस्तुएँ होनेसे द्वैतापत्ति होकर सर्वथा अद्वैतवादका सिद्धान्त बाधित हो जाता है। यदि हेतुसे अद्वैतको सिद्ध किया जाता है तो हेतु और साध्यके दो होनेसे भी द्वैतापत्ति होती है और हेतुके बिना वचनमात्रसे सिद्धि मानने पर उस वचनसे भी द्वैतापत्ति हो जाती है। इसके सिवाय. द्वैतके बिना अद्वैत कहना बनता ही नही, जैसे कि हेतुके बिना अहेतुका और हिसाके बिना अहिंसाका प्रयोग नही बनता। अद्वैतमे द्वैतका निषेध है, यदि द्वैत नामकी कोई वस्तु नही तो उसका निषेध भी नही बनता, द्वैतका निषेध होनेसे उसका अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस तरह सर्वथा अद्वैत-वादकी मान्यताका विधान सिद्धान्त-बाधित ठहरता है, वह अपने स्वरूपको प्रतिष्ठित करनेमे स्वय असमर्थ है और उसके आधार पर कोई लोकव्यवहार सुघटित नही हो सकता। दूसरे सत्-असत् तथा नि य-क्षणिकादि सर्वथा एकान्त-वादोकी भी ऐसी ही स्थिति है, वे भी अपने स्वरूपको प्रतिष्ठित करनेमे असमर्थ है और उनके द्वारा भी अपने स्वरूपको बाधा पहुँचाये बिना लोक-व्यवहारकी कोई व्यवस्था नही बन सकती।

श्रीसिद्धसेनाचार्यने अपने सन्मतिसूत्रमे कपिलके साख्यदर्शनको द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य, शुद्धोधनपुत्र बुद्धके बौद्धदर्शनको परिशुद्ध पर्यायार्थिक नयका विकल्प और उलूक (कणाद) के वैशेषिकदर्शनको उक्त दोनो नयोका वक्तव्य होने पर भी पारस्परिक निरपेक्षताके कारण 'मिथ्यात्व' बतलाया है और उसके अनन्तर लिखा है:—

जे संतवाय-दोसे सक्कोलूया भणंति सखाण।
संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥५०॥
ते उ भयणोवणीया सम्मद्दसणमणुत्तर होंति।
जं भवदुक्खविमोक्खं दो वि ण पूरेंति पाडिक्कं ॥५१॥

'सांख्योंके सद्वादपक्षमें बौद्ध और वैशेषिक जन जो दोष देते हैं तथा बौद्धों और वैशेषिकोंके असद्वादपक्षमें साख्यजन जो दोष देते हैं वे सब सत्य हैं—सर्वथा एकान्तवादमें वैसे दोष आते ही है। ये दोनों सद्वाद और असद्वाद दृष्टियाँ यदि एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए संयोजित हो जॉय- समन्वयपूर्वक अनेकान्तदृष्टिमें परिणत हो जाँय - तो सर्वोत्तम सम्यग्दर्शन बनता है; क्योंकि ये सत्-असत् रूप दोनों दृष्टियाँ अलग-अलग ससारके दु.खोसे छुटकारा दिलानेमे समर्थ नही है—दोनोंके सापेक्ष संयोगसे ही एक-दूसरेकी कमी दूर होकर संसारके दुःखोंसे मुक्ति एवं शान्ति मिल सकती है।'

इस सब कथन परसे मिथ्यादर्शनो और सम्यग्दर्शनोका तत्त्व सहज ही समझमे आ जाता है और यह मालूम हो जाता है कि कैसे सभी मिथ्यादर्शन मिलकर सम्यग्दर्शनके रूपमे परिणत हो जाते है। मिथ्यादर्शन अथवा जैनेतरदर्शन जब तक अपने-अपने वक्तव्यके प्रतिपादनमें एकान्तताको अपनाकर पर-विरोधका लक्ष्य रखते है तब तक सम्यग्दर्शनमें परिणत नही होते, और जब पर-विरोधका लक्ष्य छोड़कर पारस्परिक अपेक्षाको लिये हुए समन्वयकी दृष्टिको अपनाते है तभी सम्यग्दर्शनमें परिणत हो जाते है, और 'जैनदर्शन' कहलानेके योग्य होते हैं। जैनदर्शन अपने अनेकान्तात्मक स्याद्वाद-न्यायके द्वारा समन्वयकी दृष्टिको लिये हुए है—समन्वय ही उसका नियामक तत्त्व है न कि विरोध, और इसलिये सभी मिथ्यादर्शन अपने-अपने विरोध को भुलाकर उसमे समा जाते है। इसीसे सन्मतिसूत्रकी अंतिम गाथामें जिनवचन-रूप जिनशासन अथवा जैनदर्शनकी मगलकामना करते हुए उसे 'मिथ्यादर्शनोंका समूहमय' बतलाया है, जो इस प्रकार है—

भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्ग-सुहाहिगम्मस्स ॥७०॥

इसमें जिनवचनरूप जैनदर्शन (जिनशासन) के तीन खास विशेषणोका उल्लेख किया गया है—पहला विशेषण 'मिथ्यादर्शन-समूहमय', दूसरा 'अमृतसार' और तीसरा 'संविग्नसुखाधिगम्य' है। मिथ्यादर्शनोका समूह होते हुए भी वह मिथ्यास्वरूप नही है, यही उसकी सर्वोपरि विशेषता है और यह विशेषता उसके सापेक्षनय-वादमे सन्निहित है— सापेक्षनय मिथ्या नही होते, निरपेक्षनय ही मिथ्या होते हैं, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र-प्रणीत देवागमके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

मिथ्या-समूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः ।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥

महावीरजिनके सर्वधर्मसमन्वयकारक उदार शासनमें सत्-असत् तथा नित्य-क्षणिकादिरूप वे सब नय-धर्म जो निरपेक्षरूपमें अलग-अलग रहकर अतत्त्वका रूप धारण किये हुए स्व-पर-घातक होते हैं वे ही सब सापेक्ष (अविरोध) रूपमें मिलकर तत्त्वका रूप धारण किये हुए स्व-पर-उपकारी बने हुए हैं[1]। तथा आश्रय पाकर बन जाते हैं और इसलिये स्वामी समन्तभद्रने युक्त्यनुशासन-की उक्त (६१ वी) कारिकामें वीरशासनको जो सर्वधर्मवान् , सर्वदु ख प्रणाशक और सर्वोदयतीर्थ बतलाया है वह बिल्कुल ठीक तथा उस-की प्रकृतिके सर्वथा अनुकूल है। महावीरका शासन अनेकान्तके प्रभावसे सकल दुर्नयो (परस्पर निरपेक्षनयो) अथवा मिथ्यादर्शनोका अन्त (निरसन) करनेवाला है और ये दुर्नय अथवा सर्वथा एकान्त

---

१. "य एव नित्य-क्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः। त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुने परस्परेक्षाः स्व-परोप-कारिण ॥"
— स्वयम्भूस्तोत्र

वादरूप मिथ्यादर्शन ही संसारमे अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओंके कारण होते हैं। अतः जो लोग भगवान-महावीरके शासनका—उनके धर्मतीर्थका—सचमुच आश्रय लेते हैं—उसे ठीक तौर पर अथवा पूर्णतया अपनाते हैं—उनके मिथ्या-दर्शनादि दूर होकर समस्त दुःख यथासाध्य मिट जाते है। और वे इस धर्मके प्रसादसे अपना पूर्ण अभ्युदय—उत्कर्ष एवं विकास - तक सिद्ध करनेमें समर्थ हो जाते हैं।

महावीरकी ओरसे इस धर्मतीर्थका द्वार सबके लिये खुला हुआ है, जिसकी सूचक अगणित कथाएँ जैनशास्त्रोंमें पाई जाती हैं और जिनसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पतितसे-पतित प्राणियोंने भी इस धर्मका आश्रय लेकर अपना उद्धार और कल्याण किया है; उन सब कथाओंको छोड़ कर यहाँ पर जैनग्रन्थोके सिर्फ कुछ विधि-वाक्योंको ही प्रकट किया जाता है जिससे उन लोगोका समाधान हो जो इस तीर्थको केवल अपना ही साम्प्रदायिक तीर्थ और एकमात्र अपने ही लिये अवतरित हुआ समझ बैठे हैं तथा दूसरोंके लिये इस तीर्थसे लाभ उठानेमें अनेक प्रकारसे बाधक बने हुए हैं। वे वाक्य इस प्रकार हैं:—

(१) मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः।—यशस्तिलक

(२) उच्चाऽवच-जनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम्।
नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः॥" —यशस्तिलक

(३) आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति
शूद्रानपि देव-द्विजाति-तपस्वि-परिकर्मसु योग्यान्।
—नीतिवाक्यामृत

(४) शूद्रोऽप्युपस्कराऽऽचार-वपुःशुद्ध्याऽस्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक्॥
—सागारधर्मामृत

(५) एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु वि कोइ।

सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ॥६७॥

—सावयधम्मदोहा

इन सब वाक्योंका आशय क्रमसे इस प्रकार है :—

(१) 'मन, वचन तथा कायसे किये जानेवाले धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये सभी जीव अधिकारी हैं।' (यशस्तिलक)

(२) 'जिनेन्द्रका यह धर्म प्रायः ऊँच और नीच दोनो ही प्रकारके मनुष्योंके आश्रित है। एक स्तम्भके आधार पर जैसे मन्दिर-मकान नही ठहरता उसी प्रकार ऊँच-नीचमेंसे किसी एक ही प्रकारके मनुष्य-समूहके आधार पर धर्म ठहरा हुआ नही है—वास्तवमे धर्म धार्मिकोंके आश्रित होता है, भले ही उनमें ज्ञान, धन, मान-प्रतिष्ठा, कुल-जाति, आज्ञा-ऐश्वर्य शरीर, बल, उत्पत्तिस्थान और आचार-विचारादिकी दृष्टिसे कोई ऊँचा और कोई नीचा हो।' (यशस्तिलक)

(३) मद्य-मांसादिके त्यागरूप आचारकी निर्दोषता, गृहपात्रादिकी पवित्रता और नित्यस्नानादिके द्वारा शरीरकी शुद्धि, ये तीनों प्रवृत्तियाँ (विधियाँ) शूद्रोको भी देव, द्विजाति और तपस्वियों (मुनियो) के परिकर्मोंके योग्य बनाती हैं।' (नीतिवाक्यामृत)

(४) 'आसन और वर्तन आदि उपकरण जिसके शुद्ध हों, मद्यमासादिके त्यागसे जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य-स्नानादिके द्वारा जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक वर्णोंके समान धर्मका पालन करनेके योग्य है; क्योकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिक लब्धिको पाकर धर्मका अधिकारी होता है।' (सागारधर्मामृत)

(५) 'इस (श्रावक) धर्मका जो कोई भी आचरण—पालन करता है, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, वह श्रावक है। श्रावकके सिर पर और क्या कोई मणि होता है? जिससे उसकी पहचान की जा सके।' (सावयधम्मदोहा)

नीच-से-नीच कहा जानेवाला मनुष्य भी जो इस धर्मप्रवर्तककी

शरणमे आकर नतमस्तक हो जाता है—प्रसन्नतापूर्वक उसके द्वारा प्रवर्तित धर्मको धारण करता है—वह इसी लोकमें अति उच्च बन जाता है । इस धर्मकी दृष्टिमें कोई जाति गर्हित नही—तिरस्कार किये जानेके योग्य नही—सर्वत्र गुणोंकी पूज्यता है, वे ही कल्याण-कारी है, और इसीसे इस धर्ममें एक चाण्डालको भी व्रतसे युक्त होने पर 'ब्राह्मण' तथा सम्यग्दर्शनसे युक्त होने पर 'देव' (आराध्य) माना गया है और चाण्डालको किसी साधारण धर्म क्रियाका ही नहीं किन्तु 'उत्तमधर्म' का अधिकारी सूचित किया है, जैसा कि निम्न आर्ष वाक्योंसे प्रकट है :—

यो लोके त्वा नतः सोऽतिहीनोऽप्यतिगुरुर्यतः ।
बालोऽपि त्वा श्रितं नौति को नो नीतिपुरः कृतः ॥ स्तुतिविद्या ८३ ॥

न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणम् ।
व्रतस्थमपि चांडालं तं देवा ब्राह्मणं विदु ॥ पद्मचरित ११-२०३ ॥

सम्यग्दर्शन-सम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्म-गूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥ रत्नकरण्ड २८ ॥

चाण्डालो वि सुरिंदो उत्तमधम्मेण संभवदि । (कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

वीरका यह धर्मतीर्थ इन ब्राह्मणादि जाति-भेदोंको तथा दूसरे चाडालादि विशेषोको वास्तविक नही मानता किन्तु वृत्ति अथवा आचार-भेदके आधार पर कल्पित एव परिवर्तनशील जानता है। साथ ही यह स्वीकार करता है कि अपने योग्य गुणोंकी उत्पत्ति पर जाति उत्पन्न होती है, उनके नाश पर नष्ट हो जाती है और वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मोंके आधार पर है न कि जन्मके । यथा —

चातुर्वर्ण्यं यथाऽन्यच्च चाण्डालादिविशेषणम् ।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतम् ॥ पद्मचरित ११-२०५ ॥

आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम् ।
न जातिर्ब्राह्मणीयाऽस्ति नियता काऽपि तात्त्विकी ॥१७-२४॥
गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते ॥ धर्मपरीक्षा १७-३२ ॥

तस्माद्गुणैर्वर्ण-व्यवस्थितिः ॥ पद्मचरित ११-१६८ ॥

क्रियाविशेषादिनिबन्धन एव ब्राह्मणादिव्यवहारः॥(प्रमेयकमलमार्तण्ड)

इस धर्ममे यह भी बतलाया गया है कि इन ब्राह्मणादि जातियों-का आकृति आदिके भेदको लिये हुए कोई शाश्वत लक्षण भी गो-अश्वादि जातियोकी तरह मनुष्य-शरीरमें नही पाया जाता, प्रत्युत इसके शूद्रादिके योगसे ब्राह्मणी आदिमे गर्भाधानकी प्रवृत्ति देखी जाती है, जो वास्तविक जाति-भेदके विरुद्ध है। इसी तरह जारजका भी कोई चिन्ह शरीरमें नही होता, जिससे उसकी कोई जुदी जाति कल्पित की जाय, और न केवल व्यभिचारजात होनेकी वजहसे ही कोई मनुष्य नीच कहा जा सकता है—नीचताका कारण इस तीर्थ-धर्ममे 'अनार्य आचरण' अथवा 'म्लेच्छाचार' माना गया है। इन दोनों बातोके निर्देशक दो वाक्य इस प्रकार हैं —

वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥
नास्ति जाति-कृतो भेदो मनुष्याणां गवाऽश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते॥ (महापुराण)
चिह्नानि विटजातस्य सन्ति नाऽङ्गेषु कानिचित्।
अनार्यमाचरन् किंचिज्जायते नीचगोचरः ॥

—पद्मचरिते, रविषेणाचार्यः

वस्तुतः सब मनुष्योकी एक ही मनुष्यजाति इस धर्मको अभीष्ट है, जो 'मनुष्यजाति' नामक नामकर्मके उदयसे होती है, और इसी दृष्टिसे सब मनुष्य समान हैं—आपसमें भाई-भाई हैं—और उन्हें इस धर्मके द्वारा अपने विकासका पूरा अधिकार प्राप्त है। जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा ।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥३८-४५॥

—आदिपुराणे, जिनसेनाचार्यः

विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः ।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥ —धर्मरसिक

इसके सिवाय, किसीके कुलमें कभी कोई दोष लग गया हो तो उसकी शुद्धि की, और म्लेच्छों तककी कुलशुद्धि करके उन्हे अपनेमें मिलाने तथा मुनिदीक्षा आदिके द्वारा ऊपर उठानेकी स्पष्ट आज्ञाएँ भी इस धर्मशासनमें पाई जाती हैं*। और इसलिये यह शासन

---

* जैसा कि निम्न वाक्योसे प्रकट है —

१. कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्त-दूषणम् ।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदा कुलम् ॥ ४०-१६८॥
तदास्योपनयार्हत्वं पुत्र-पौत्रादि-सन्ततौ ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥४०-१६९॥

२. स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान्प्रजा-बाधा-विधायिनः ।
कुलशुद्धि-प्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥४२-१७९॥
—आदिपुराणे, जिनसेनाचार्यः

३. "म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाऽऽशंकितव्यं। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखंडमागताना म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां संयम-प्रतिपत्तेरविरोधात् । अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीताना गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ-व्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ॥"
—लब्धिसारटीका (गाथा १९३ वी)

नोट—यहाँ म्लेच्छोकी दीक्षा-योग्यता, सकलसयमग्रहणकी पात्रता और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध आदिका जो विधान किया है वह सब कसायपाहुडकी 'जयधवला' टीकामे भी, जो लब्धिसारटीकासे कईसौ वर्ष पहलेकी (९वी शताब्दीकी) रचना है, इसी क्रमसे प्राकृत और संस्कृत भाषामें दिया है। जैसा कि उसके निम्न शब्दोसेप्रकट है:—

सचमुच ही 'सर्वोदयतीर्थ' के पदको प्राप्त है—इस पदके योग्य इसमें सारी ही योग्यताएँ मौजूद हैं—हर कोई भव्य जीव इसका सम्यक् आश्रय लेकर संसारसमुद्रसे पार उतर सकता है।

परन्तु यह समाजका और देशका दुर्भाग्य है जो आज हमने —जिनके हाथो दैवयोगसे यह तीर्थ पड़ा है—इस महान् तीर्थकी महिमा तथा उपयोगिताको भुला दिया है, इसे अपना घरेलू, क्षुद्र या असर्वोदयतीर्थका-सा रूप देकर इसके चारो तरफ ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी कर दी हैं और इसके फाटकमे ताला डाल दिया है। हम लोग न तो खुद ही इससे ठीक लाभ उठाते है और न दूसरोंको लाभ उठाने देते हैं—मात्र अपने थोड़ेसे विनोद अथवा क्रीड़ाके स्थल रूपमे ही हमने इसे रख छोड़ा है और उसीका यह परिणाम है कि जिस 'सर्वोदयतीर्थ' पर दिन-रात उपासकोंकी भीड़ और यात्रियोका मेला-सा लगा रहना चाहिये था वहाँ आज सन्नाटासा छाया हुआ है, जैनियोंकी संख्या भी अगुलियोपर गिनने लायक रह गई है और जो जैनी कहे जाते हैं उनमे भी जैनत्वका प्राय. कोई स्पष्ट लक्षण दिखलाई नही पड़ता—कही भी दया, दम, त्याग और समाधिकी तत्परता नजर नही आती—लोगोंको महावीरके सन्देशकी ही खबर नही, और इसीसे संसारमे सर्वत्र दुःख ही दु.ख फैला हुआ है।

ऐसी हालतमे अब खास जरूरत है कि इस तीर्थका उद्धार किया

"जइ एवं कुदो तत्थ सजमग्गहणसंभवो त्ति णासंकणिज्ज। दिसाविजयपयट्टचक्कवट्टिखधावारेण सह मज्झिमखंडमागयाणं मिलेच्छरायाणं तत्थ चक्कवट्टिआदीहिं सह जादवेवाहियसंबंधाणं-संजमपडिवत्तीए विरोहाभावादो। अथवा तत्तत्कन्यकाना चक्रवर्त्यादिपरिणीताना गर्भेषूत्पन्ना मातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्मभूमिजा इतीह विवक्षिताः ततो न किंचिद्विप्रतिषिद्ध। तथाजातीयकाना दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावादिति।"

जाय, इसकी सब रुकावटोंको दूर किया जाय, इस पर खुले प्रकाश तथा खुली हवाकी व्यवस्था की जाय, इसका फाटक सबोंके लिये हर वक्त खुला रहे, सभीके लिये इस तीर्थ तक पहुँचनेका मार्ग सुगम किया जाय, इसके तटों तथा घाटोंकी मरम्मत कराई जाय, बन्द रहने तथा अर्से तक यथेष्ट व्यवहारमें न आनेके कारण तीर्थजल पर जो कुछ काई जम गई है अथवा उसमें कहीं-कहीं शैवाल उत्पन्न हो गया है उसे निकालकर दूर किया जाय और सर्वसाधारणको इस तीर्थके माहात्म्यका पूरा-पूरा परिचय कराया जाय। ऐसा होने पर अथवा इस रूपमें इस तीर्थका उद्धार किया जाने पर आप देखेंगे कि देश देशान्तरके कितने बेशुमार यात्रियोंकी इस पर भीड़ रहती है, कितने विद्वान् इस पर मुग्ध होते है, कितने असंख्य प्राणी इसका आश्रय पाकर और इसमें अवगाहन करके अपने दुःख-संतापोसे छुटकारा पाते हैं और संसारमें कैसी सुख-शान्तिकी लहर व्याप्त होती है। स्वामी समन्तभद्रने अपने समयमें, जिसे आज १८०० वर्षके लगभग हो गये हैं, ऐसा ही किया है; और इसीसे कनड़ी भाषाके एक प्राचीन शिलालेख[1] में यह उल्लेख मिलता है कि 'स्वामी समन्तभद्र भगवान् महावीरके तीर्थकी हजारगुनी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए'—अर्थात्, उन्होंने उसके प्रभावको सारे देश-देशान्तरोंमें व्याप्त कर दिया था। आज भी वैसा ही होना चाहिये। यही भगवान् महावीरकी सच्ची उपासना, सच्ची भक्ति और उनकी सच्ची जयन्ती मनाना होगा।

---

१ यह शिलालेख बेलूर ताल्लुकेका शिलालेख नम्बर १७ है, जो रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनायकी-मन्दिरकी छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और शक सम्वत् १०५९ का लिखा हुआ है। देखो, एपिग्रेफिका कर्णाटिकाकी जिल्द पाँचवी; 'स्वामी समन्तभद्र' पृष्ठ ४६ अथवा समीचीन-धर्मशास्त्रकी प्रस्तावना पृष्ठ ११३।

महावीरके इस अनेकान्त-शासन-रूप तीर्थमे यह खूबी खुद मौजूद है कि इससे भरपेट अथवा यथेष्ट द्वेप रखनेवाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ उपपत्ति-चक्षुसे (मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधानकी दृष्टिसे) इसका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मान-शृङ्ग खण्डित हो जाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है— और वह अभद्र या मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्र-रूप एव सम्यग्दृष्टि बन जाता है। अथवा यो कहिये कि भगवान् महावीरके शासनतीर्थका उपासक और अनुयायी हो जाता है। इसी बातको स्वामी समन्तभद्रने अपने निम्न वाक्य-द्वारा व्यक्त किया है—

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानशृङ्गो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्र ॥

—युक्त्यनुशासन

अतः इस तीर्थके प्रचार-विषयमें ज़रा भी संकोचकी ज़रूरत नही है, पूर्ण उदारताके साथ इसका उपर्युक्त रीतिसे योग्य-प्रचार-कोंके द्वारा खुला प्रचार होना चाहिये और सबोंको इस तीर्थकी परीक्षाका तथा इसके गुणोंको मालूम करके इससे यथेष्ट लाभ उठाने का पूरा अवसर दिया जाना चाहिये। योग्य प्रचारकोंका यह काम है कि वे जैसे-तैसे जनतामे मध्यस्थभावको जाग्रत करें, ईर्षा-द्वेषादिरूप मत्सर-भावको हटाएँ, हृदयोंको युक्तियोंसे संस्कारित कर उदार बनाएँ, उनमें सत्यकी जिज्ञासा उत्पन्न करें और उस सत्यकी दर्शन-प्राप्तिके लिये लोगोकी समाधान-दृष्टिको खोलें।

सर्वोदयके मूलसूत्र

भगवान् महावीरके तीर्थ-शासनमें सर्वोदयके जिन मूल-सूत्रोका प्रतिपादन हुआ है वे संक्षेपमें इस प्रकार है:—

१. सब जीव द्रव्य-दृष्टिसे परस्पर समान है।

२. सब जीवोंका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है।

३. प्रत्येक जीव स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार अथवा पिंड है।

४. अनादिकालसे जीवोंके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल-प्रकृतियाँ आठ, उत्तर प्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस और उत्त-रोत्तर प्रकृतियाँ असंख्य है।

५. इस कर्ममलके कारण जीवोका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित हैं और वे परतंत्र हुए नाना प्रकार-की पर्याये धारण करते हुए नजर आते हैं।

६. अनेक अवस्थाओंको लिये हुए संसारका जितना भी प्राणि-वर्ग है वह सब उसी कर्ममलका परिणाम है।

७. कर्ममलके भेदसे ही यह सब जीव-जगत भेदरूप है।

८. जीवकी इस कर्ममलसे मलिनावस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते हैं।

९. जब तक किसी जीवकी यह विभावपरिणति बनी रहती है तब तक वह 'संसारी' कहलाता है। और तभी तक उसे संसारमे कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा

दुःख उठाना होता है।

१०. जब योग्य-साधनोंके बल पर विभावपरिणति मिट जाती है, आत्मामें कर्ममलका सम्बन्ध नहीं रहता और उसका निज-स्वभाव पूर्णतया विकसित हो जाता है तब वह जीवात्मा संसार-परिभ्रमणसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त होता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है।

११ आत्माकी पूर्णविकसित एवं परम-विशुद्ध अवस्थाके अतिरिक्त परमात्मा या ईश्वर नामकी कोई जुदी वस्तु नहीं है।

१२. परमात्माकी दो अवस्थाएँ हैं, एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेहमुक्त।

१३. जीवन्मुक्तावस्थामें शरीरका सम्बन्ध शेष रहता है, जब कि विदेह-मुक्तावस्थामें किसी भी प्रकारके शरीरका सम्बन्ध अवशिष्ट नहीं रहता।

१४. संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर ये मुख्य दो भेद हैं, जिनके उत्तरोत्तर भेद अनेकानेक है।

१५. एकमात्र स्पर्शन इन्द्रियके धारक जीव 'स्थावर' और रसनादि इन्द्रियों तथा मनके धारक जीव 'त्रस' कहलाते हैं।

१६. जीवोंके संसारी मुक्तादि ये सब भेद पर्यायदृष्टिसे हैं। इसी दृष्टिसे उन्हें अविकसित, अल्पविकसित, बहुविकसित और पूर्णविकसित ऐसे चार भागोंमें भी बाटा जा सकता है।

१७. जो जीव अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूपसे ही उनके पूज्य एवं आराध्य हैं जो अविकसित या अल्पविकसित हैं; क्योंकि आत्म-गुणोंका विकास सबके लिये इष्ट है।

१८ संसारी जीवोंका हित इसीमें है कि वे अपनी राग-द्वेष-काम-क्रोधादिरूप विभावपरिणतिको छोड़कर स्वभावमें स्थिर-होने-रूप 'सिद्धि को प्राप्त करनेका यत्न करे।

१९. सिद्धि 'स्वात्मोपलब्धि' को कहते हैं। उसकी प्राप्तिके लिये

आत्मगुणोंका परिचय, गुणोंमें वर्द्धमान अनुराग और विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धा चाहिये।

२०. इसके लिये, अपना हित एव विकास चाहनेवालोंको उन पूज्य महापुरुषों अथवा सिद्धात्माओंकी शरणमें जाना चाहिये जिनमें आत्माके गुणोंका अधिकाधिक रूपमे या पूर्णरूपसे विकास हुआ हो, यही उनके लिये कल्याणका सुगम-मार्ग है।

२१. शरणमें जानेका आशय उपासना-द्वारा उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाना, उन्हें अपना मार्गप्रदर्शक मानकर उनके पद-चिन्होंपर चलना और उनकी शिक्षाओंपर अमल करना है।

२२. सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्ति-द्वारा आत्मोत्कर्ष साधनेका नाम ही 'भक्तियोग' है।

२३ शुद्धात्माओके गुणोमे अनुरागको, तदनुकूलवर्तनको तथा उनमें गुणानुराग-पूर्वक आदर-सत्काररूप-प्रवृत्तिको 'भक्ति' कहते हैं।

२४. पुण्यगुणोंके स्मरणसे आत्मामें पवित्रताका संचार होता है।

२५. सद्भक्तिसे प्रशस्त अध्यवसाय एवं कुशल-परिणामोंकी उपलब्धि और गुणावरोधक संचित-कर्मोंकी निर्जरा होकर आत्माका विकास सधता है।

२६. सच्ची उपासनासे उपासक उसी प्रकार उपास्यके समान हो जाता है जिस प्रकार कि तैलादिसे सुसज्जित बत्ती पूर्ण-तन्मयताके साथ दीपकका आलिंगन करने पर तद्रूप हो जाती है।

२७. जो भक्ति लौकिक लाभ, यश, पूजा-प्रतिष्ठा, भय तथा रूढि आदिके वश की जाती है वह सद्भक्ति नही होती और न उससे आत्मीय-गुणोंका विकास ही सिद्ध किया जा सकता है।

२८. सर्वत्र लक्ष्य-शुद्धि एव भावशुद्धि पर दृष्टि रखनेकी जरूरत है, जिसका संबंध विवेकसे है।

२९. बिना विवेकके कोई भी क्रिया यथार्थ फलको नहीं फलती और न बिना विवेककी भक्ति ही सद्भक्ति कहलाती है।

३०. जब तक किसी मनुष्यका अहंकार नहीं मरता तब तक उसके विकासकी भूमिका ही तैयार नहीं होती।

३१. भक्तियोगसे अहंकार मरता है, इसीसे विकास-मार्गमें उसे पहला स्थान प्राप्त है।

३२. बिना भावके पूजा-दान-जपादिक उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार कि बकरीके गलेमे लटकते हुए स्तन।

३३. जीवात्माओंके विकासमे सबसे बड़ा बाधक कारण मोहकर्म है, जो अनन्तदोषोंका घर है।

३४. मोहके मुख्य दो भेद है—एक दर्शनमोह, जिसे मिथ्यात्व भी कहते है, दूसरा चारित्रमोह, जो सदाचारमे प्रवृत्ति नही होने देता।

३५. दर्शनमोह जीवकी दृष्टिमे विकार उत्पन्न करता है, जिससे वस्तुतत्त्वका यथार्थ अवलोकन न होकर अन्यथा रूपमें होता है और इसीसे वह 'मिथ्यात्व' कहलाता है।

३६. दृष्टिविकार तथा उसके कारणको मिटानेके लिये आत्मामे तत्त्व-रुचिको जागृत करनेकी जरूरत है।

३७. तत्त्वरुचिको उस समीचीन ज्ञानाभ्यासके द्वारा जागृत किया जाता है जो ससारी जीवात्माको तत्त्व-अतत्त्वकी पहचानके साथ अपने शुद्धस्वरूपका, पररूपका, परके सम्बन्धका, सम्बन्धसे होनेवाले विकार-दोषका अथवा विभावपरिणतिका, विकारके विशिष्ट-कारणोंका और उन्हे दूर करके निर्विकार-निर्दोष बनने, बन्धन-रहित मुक्त होने तथा अपने निज स्वरूपमें सुस्थित होनेका परिज्ञान कराया जाता है, और इस तरह हृदयान्धकारको दूर कर आत्म-विकासके सम्मुख किया जाता है।

३८. ऐसे ज्ञानाभ्यासको ही 'ज्ञानयोग' कहते हैं।

३९. वस्तुका जो निज स्वभाव है वही उसका धर्म है।

४०. प्रत्येक वस्तुमें अनेकानेक धर्म होते हैं, जो पारस्परिक अपेक्षाको लिये हुए अविरोध-रूपसे रहते है और इसीसे वस्तुका

वस्तुत्व बना रहता है।

४१. वस्तुके किसी एक धर्मको निरपेक्षरूपसे लेकर उसी एक धर्मरूप जो वस्तुको समझना तथा प्रतिपादन करना है वह एकान्त अथवा एकान्तवाद है। इसीको निरपेक्ष-नयवाद भी कहते है।

४२, अनेकान्तवाद इसके विपरीत है। वह वस्तुके किसी एक धर्मका प्रतिपादन करता हुआ भी दूसरे धर्मोको छोड़ता नहीं, सदा सापेक्ष रहता है;इसीसे उसे 'स्याद्वाद' या 'सापेक्षनयवाद' भी कहते हैं।

४३. जो निरपेक्षनयवाद हैं वे सब मिथ्यादर्शन है और जो सापेक्षनयवाद हैं वे सब सम्यग्दर्शन है।

४४. निरपेक्षनय परके विरोधकी दृष्टिको अपनाये हुए स्व-पर-वैरी होते है, इसीसे जगतमें अशान्तिके कारण है।

४५. सापेक्षनय परके विरोधको न अपनाकर समन्वयकी दृष्टिको लिये हुए स्व-पर-उपकारी होते है, इसीसे जगतमें शान्ति-सुखके कारण हैं।

४६. दृष्ट और इष्टका विरोधी न होनेके कारण स्याद्वाद निर्दोषवाद है,जब कि एकान्तवाद दोनोके विरोघको लिये हुए होनेसे निर्दोषवाद नहीं है।

४७. 'स्यात्' शब्द सर्वथाके नियमका त्यागी यथादृष्टको अपेक्षामें रखनेवाला, विरोधी धर्मका गौणरूपसे द्योतनकर्ता और परस्पर-प्रतियोगी वस्तुके अंगरूप धर्मोकी संधिका विधाता है।

४८. जो प्रतियोगीसे सर्वथा रहित है वह आत्महीन होता है और अपने स्वरूपका प्रतिष्ठापक नही हो सकता।

४९. इस तरह सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, शुभ-अशुभ,लोक-परलोक, बन्ध-मोक्ष, द्रव्य-पर्याय, सामान्य-विशेष, विद्या-अविद्या, गुण-दोष अथवा विधि-निषेधादिके रूपमे जो असंख्य-अनन्त जोड़े हैं उनमेंसे किसी भी जोड़के एक साथीके बिना दूसरेका अस्तित्व नही बन सकता।

५०. एक धर्मीमें प्रतियोगी धर्म परस्पर अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए रहते हैं, सर्वथा रूपसे किसी एककी कभी व्यवस्था नही बन सकती।

५१. विधि-निषेधादिरूप सप्त भग सम्पूर्णतत्त्वार्थपर्यायोंमें घटित होते हैं और 'स्यात्' शब्द उनका नेतृत्व करता है।

५२ सारे ही नय-पक्ष सर्वथारूपमें अति दूषित है और स्यात्-रूपमें पुष्टिको प्राप्त हैं।

५३. जो स्याद्वादी हैं वे ही सुवादी है, अन्य सब कुवादी हैं।

५४ जो किसी अपेक्षा अथवा नयविवक्षाको लेकर वस्तुतत्त्वका कथन करते है वे 'स्याद्वादी' हैं,भले ही 'स्यात्' शब्दका प्रयोग साथमें न करते हों।

५५. कुशलाऽकुशल-कर्मादिक तथा बन्ध-मोक्षादिककी सारी व्यवस्था स्याद्वादियो अथवा अनेकान्तियोके यहाँ ही बनती है।

५६ सारा वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक है।

५७ जो अनेकान्तात्मक है वह अभेद-भेदात्मकको तरह तदतत्-स्वभावको लिये होता है।

५८. तदतत्स्वभावमे एक धर्म दूसरे धर्मसे स्वतन्त्र न होकर उसकी अपेक्षाको लिये रहता है और मुख्य-गौणकी विवक्षासे उसकी व्यवस्था उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कि मथानीकी रस्सीके दोनो सिरोंकी।

५९ विवक्षित 'मुख्य' और अविवक्षित 'गौण' होता है।

६०. मुख्यके बिना गौण तथा गौणके बिना मुख्य नही बनता। जो गौण होता है वह अभावरूप निरात्मक नही होता।

६१. वही तत्त्व प्रमाण-सिद्ध है जो तदतत्स्वभावको लिए हुए एकान्तदृष्टिका प्रतिषेधक है।

६२. वस्तुके जो अश (धर्म) परस्पर निरपेक्ष हो वे पुरुषार्थके हेतु अथवा अर्थ-क्रिया करनेमे समर्थ नही होते।

६३. जो द्रव्य है वह सत्स्वरूप है।

६४. जो सत् है वह प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे युक्त है।

६५. उत्पाद तथा व्यय पर्यायमें होते हैं और ध्रौव्य गुणमें रहता है, इसीसे द्रव्यको गुण-पर्यायवान् भी कहा गया है।

६६. जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता।

६७. जो सर्वथा असत् है उसका कभी उत्पाद नहीं होता।

६८. द्रव्यसे तथा सामान्यरूपसे कोई उत्पन्न या विनष्ट नही होता; क्योंकि द्रव्य सब पर्यायोंमें और सामान्य सब विशेषोंमें रहता है।

६९. विविध पर्यायें द्रव्यनिष्ठ एवं विविध विशेष सामान्यनिष्ठ होते हैं।

७०. सर्वथा द्रव्यकी तथा सर्वथा पर्यायकी कोई व्यवस्था नहीं बनती और न सर्वथा पृथग्भूत द्रव्य-पर्यायकी युगपत् ही कोई व्यवस्था बनती है।

७१. सर्वथा नित्यमें उत्पाद और विनाश नही बनते, विकार तथा क्रिया-कारककी योजना भी नही बन सकती।

७२. विधि और निषेध दोनों कथंचित् इष्ट हैं, सर्वथा नहीं।

७३. विधि-निषेधमें विवक्षासे मुख्य-गौणकी व्यवस्था होती है।

७४. वस्तुके किसी एक धर्मको प्रधानता प्राप्त होने परशेष धर्म गौण हो जाते हैं।

७५. वस्तु वास्तवमें विधि-निषेधादि-रूप दो-दो अवधियोंसे ही कार्यकारी होती है।

७६. बाह्य और आभ्यन्तर अथवा उपादान और निमित्त दोनों कारणोंके मिलनेसे ही कार्यकी निष्पत्ति होती है।

७७. जो सत्य है वह सब अनेकान्तात्मक है, अनेकान्तके बिना सत्यकी कोई स्थिति ही नहीं।

७८. जो अनेकान्तको नही जानता वह सत्यको नही पहचानता, भले ही सत्यके कितने ही गीत गाया करे।

७९. अनेकान्त परमागमका बीज अथवा जैनागमका प्राण है।

८०. जो सर्वथा एकान्त है वह परमार्थ-शून्य है।

८१. जो दृष्टि अनेकान्तात्मक है वह 'सम्यग्दृष्टि' है।

८२. जो दृष्टि अनेकान्तसे रहित है वह 'मिथ्यादृष्टि' है।

८३ जो कथन अनेकान्तदृष्टिसे रहित है वह 'मिथ्यावचन' है।

८४. सिद्धि अनेकान्तसे होती है, न कि सर्वथा एकान्तसे।

८५. सर्वथा एकान्त अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा करनेमे भी समर्थ नही होता।

८६ जो सर्वथा एकान्तवादी है वे अपने वैरी आप हैं।

८७. जो अनेकान्त-अनुयायी है वे वस्तुत अर्हज्जिन-मतानुयायी हैं, भले ही वे 'अर्हन्त' या 'जिन' को न जानते हो।

८८. मन-वचन-काय-संबधी जिस क्रियाकी प्रवृत्ति या निवृत्तिसे आत्म-विकास सधता है उसके लिये तदनुरूप जो भी पुरुषार्थ किया जाता है उसे 'कर्मयोग' कहते है।

८९ दया, दम त्याग और समाधिमे तत्पर रहना आत्मविकास-का मूल एव मुख्य कर्मयोग है।

९०. समीचीन धर्म सद्दृष्टि, सद्बोध और सच्चारित्ररूप है, वही रत्नत्रय-पोत और मोक्षका मार्ग है।

९१. सद्दृष्टिको लिये हुए जो ज्ञान है वह 'सद्बोध' कहलाता है।

९२ सद्बोध-पूर्वक जो आचरण है वह सच्चारित्र' है अथवा ज्ञानयोगीके कर्माऽऽदानकी निमित्तभूत जो क्रियाएँ उनका त्याग 'सम्यक्चारित्र' है और उसका लक्ष्य राग-द्वेषकी निवृत्ति है।

९३ अपने राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-दोषोको शान्त करनेसे ही आत्मामे शान्तिकी व्यवस्था और प्रतिष्ठा होती है।

९४. ये राग-द्वेषादि-दोष, जो मनकी समताका निराकरण करनेवाले हैं, एकान्त धर्माभिनिवेश-मूलक होते हैं और मोही जीवोंके अहंकार-ममकारसे उत्पन्न होते हैं।

९५. संसारमें अशान्तिके मुख्य कारण विचार-दोष और आचार-दोष हैं।

९६. विचारदोषको मिटानेवाला 'अनेकान्त' और आचारदोष-को दूर करनेवाली 'अहिंसा' है।

९७. अनेकान्त और अहिंसा ही शास्ता वीरजिन अथवा वीर-जिन-शासनके दो पद हैं।

९८. अनेकान्त और अहिंसाका आश्रय लेनेसे ही विश्वमें शान्ति हो सकती है।

९९. जगतके प्राणियोंकी अहिंसा ही 'परमब्रह्म' है, किसी व्यक्तिविशेषका नाम परमब्रह्म नहीं।

१००. जहाँ बाह्याभ्यन्तर दोनो प्रकारके परिग्रहोंका त्याग है वही उसे अहिंसाका वास है।

१०१. जहाँ दोनों प्रकारके परिग्रहोंका भार-वहन अथवा वास है वहीं हिंसाका निवास है।

१०२. जो परिग्रहमें आसक्त है वह वास्तवमें 'हिंसक' है।

१०३. आत्मपरिणामके घातक होनेसे झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये सब हिंसाके ही रूप हैं।

१०४. धन-धान्यादि सम्पत्तिके रूपमें जो भी सासारिक विभूति है वह सब 'बाह्य-परिग्रह' है।

१०५. 'आभ्यन्तर-परिग्रह' दर्शनमोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय और जुगुप्साके रूपमे है।

१०६. तृष्णा-नदीको अपरिग्रह-सूर्यके द्वारा सुखाया जाता और विद्या-नौकासे पार किया जाता है।

१०७. तृष्णाकी शान्ति अभीष्ट इन्द्रिय-विषयोकी सम्पत्तिसे नही होती, प्रत्युत इसके वृद्धि होती है।

१०८. आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिये ही बाह्य तप विधेय है।

१०९. यदि आध्यात्मिक तपकी वृद्धि ध्येय या लक्ष्य न हो तो

बाह्य-तपश्चरण एकान्ततः शरीर-पीडनके सिवा और कुछ नहीं।

११०. सद्ध्यानके प्रकाशसे आध्यात्मिक अन्धकार दूर होता है।

१११. अपने दोषके मूल-कारणको अपने ही समाधितेजसे भस्म किया जाता है।

११२. समाधिकी सिद्धिके लिये बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग आवश्यक है।

११३. मोह-शत्रुको सद्दृष्टि, संवित्ति और उपेक्षारूप अस्त्र-शस्त्रोंसे पराजित किया जाता है।

११४. वस्तु ही अवस्तु हो जाती है, प्रक्रियाके बदल जाने अथवा विपरीत हो जानेसे।

११५. कर्म कर्ताको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता।

११६. जो कर्मका कर्ता है वही उसके फलका भोक्ता है।

११७. अनेकान्त-शासन ही अशेष-धर्मोंका आश्रय-भूत और सर्व-आपदाओंका प्रणाशक होनेसे 'सर्वोदयतीर्थ' है।

११८. जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नही करता वह सब धर्मोंसे शून्य एवं विरोधका कारण होता है और वह कदापि 'सर्वोदयतीर्थ' नहीं हो सकता।

११९. आत्यन्तिक-स्वास्थ्य ही जीवोंका सच्चा स्वार्थ है, क्षण-भंगुर भोग नही।

१२०. विभावपरिणतिसे रहित अपने अनन्तज्ञानादिस्वरूपमें शाश्वती स्थिति ही 'आत्यन्तिकस्वास्थ्य' कहलाती है, जिसके लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये।

नामानुक्रमणिका